अपनी बात

यदि मै यह कहूँ कि 'अभी तक इस विषय पर किसी की उपयोगी और श्रेष्ठ रचना नहीं थी, इसीलिए मैंने इसे आपकी सेवा मे प्रस्तुत किया है और आशा है कि आप इसे सहर्ष अपनाएंगे' तो यह अपनी-बात नहीं होगी। बात यह है कि कई वर्षों पहले ही इस विषय पर मैंने थोड़ा लिखा था। इधर उसे ही पूरा कर देने की इच्छा हुई और गर्मी की छुट्टियों मे यह काम पूरा हो गया—यह हुई अपनी बात। कई वर्षों से इस विषय को मै पढा रहा हूँ; अत विद्यार्थियों की कठिनाइयों को थोड़ा-बहुत अवश्य ही जानता हूँ। मैंने कोशिश की है कि वे कठिनाइयाँ न रहें, पर मै कैसे जानूँ कि उन्हें दूर कर सका हूँ या नहीं? भाषा का मैं महारथी नहीं, हाँ, बोलचाल लेता हूँ अवश्य। उसी भाषा में इस विषय को भी व्यक्त करने की मैंने कोशिश की है। एक बात और—केवल उसी विषय की व्याख्या की गई है जो बी० ए० के पाठ्यक्रम में है। ऐसा नही मान लें आप, कि आचार-सम्बन्धी सिद्धान्त उतने ही हैं जितना आप इस ग्रंथ में पाते हैं। यह विशेषकर विद्यार्थियों के लिए ही लिखी गई है। वैसे लोगों को भी, जिनकी रुचि इस विषय मे है, इसके समझने में कठिनाई नही होनी चाहिए।

धन्यवाद देने की परिपाटी भी बहुत पुरानी है। अत अपने सभी मित्रो को, जिन्होंने प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष रूप से इस पुस्तक की रचना मे सहायता की है, मै धन्यवाद देता हूँ। हाँ, अपने कॉलेज के श्री रामेश्वर सिंह जी 'काश्यप' को धन्यवाद नहीं दूँगा—कहीं कोई अपने भाई से सहायता मिलने पर उसे धन्यवाद देता है? भाषा-सम्बन्धी मेरी कमजोरियों को तो उन्होंने ही सुधारा है। उनकी चेष्टाओं के बाद भी यदि पुस्तक मे गलतियाँ रह गई हैं तो वह मेरा दोष है। उन सभी विद्वानों का मै आभारी हूँ, जिनकी रचनाओं से मैंने इस विषय को सीखा है।

पटना,

१७-११-५४

अशोक

द्वितीय संस्करण

प्रथम संस्करण की मांग अच्छी रही, इससे मुझे सन्तोष तो हुआ पर जहां-तहां हेर-फेर और कुछ बातें जो पहले नहीं लिख सका था उन्हें इस संस्करण में पूरा कर देने की इच्छा भी हुई। इसलिए इस संस्करण में मैंने अपनी इच्छा को पूरी कर ली है पर उससे पाठकों का भी लाभ होगा, ऐसी आशा है।

बी० एन० कॉलेज
१९५७

अशोक

विषय-सूची

पहला परिच्छेद

आचार-शास्त्र

	पृ० स०
विषय-प्रवेश	... १
परिभाषा	... २
आचारशास्त्र का क्षेत्र (Scope)	... ४
आचारशास्त्र का स्वरूप (Nature)	... ८
(अ) कला और आचारशास्त्र	
(ब) विज्ञान और आचारशास्त्र	
(स) आचारशास्त्र और प्रकृति विज्ञान	
(ड) यथार्थ विज्ञान या आदर्श निर्देशक विज्ञान	
(इ) सैद्धान्तिक विज्ञान या व्यावहारिक विज्ञान	
(फ) आचार दर्शन या आचार-शास्त्र	
आचारशास्त्र का लक्ष्य तथा उपयोग	... १६
Exercises	... १९

दूसरा परिच्छेद

* आचार-शास्त्र और अन्य विज्ञान

Ethics and Other Sciences

आचार-शास्त्र और मनोविज्ञान	... २१
आचार-शास्त्र और समाज-शास्त्र	... २२
आचार-शास्त्र और राजनीति-शास्त्र	... २४
आचार-शास्त्र और धर्म-शास्त्र	... २६
आचार-शास्त्र और दर्शन-शास्त्र	... २८
Exercises	... २९

तीसरा परिच्छेद

आचार-शास्त्र की पद्धतियाँ

Methods of Ethics

आचार-शास्त्र की पद्धतिया ... ३०

(क) मनोवैज्ञानिक पद्धति

(ख) अमनोवैज्ञानिक पद्धति

वास्तविक रीति

Exercises ... ३५

चौथा परिच्छेद

आचार-शास्त्र का मनोवैज्ञानिक आधार

Psychologcial Basis of Ethics

नैतिक और नीति-शून्य कर्म (Moral and non-moral action)... ३६

नैतिक शब्द का अर्थ ... ४०

ऐच्छिक कर्म का विश्लेषण (Analysis of Voluntary action)... ४१

इच्छा का विश्लेषण.. (Analysis of Desire) ... ५२

इच्छा, चरित्र और आत्मा... ... ५४

इच्छा का क्षेत्र (Universe of Desire) ... ५५

प्रयोजन का विश्लेषण (Analysis of Motive) ... ५५

अभिप्राय (Intention) ... ५८

प्रयोजन और अभिप्राय (Motive and Intention) ... ६०

चरित्र और आचरण (Character and Conduct) ... ६१

अभ्यास (Habit), ज्ञान और सद्गुण (Virtue) ... ६४

चरित्र का विकास ... ६५

नैतिक दोष और प्राकृतिक दोष (Moral evil and Natural evil) .. ६५

---

* स्थानीय यूनिवर्सीटी स्लेबस में नहीं है।

पाप कर्म (Sin) और भूल (Error) ... ६६
Typical Questions ... ६६

पाँचवाँ परिच्छेद

नैतिक चेतना (Moral Consciousness)

नैतिक चेतना का अर्थ ... ६८
नैतिक चेतना के तत्त्व ... ६८
नैतिक चेतना की स्थितिया (Conditions) ... ७०
नैतिक चेतना की उत्पत्ति ... ७१
नैतिक भावना (Moral Sentiments) ... ७२
नैतिक भावना का अर्थ ... ७२
नैतिक भावना की विशेषताएँ ... ७२
नैतिक भावना का वर्गीकरण ... ७३
नैतिक भावना की उत्पत्ति ... ७४
नैतिक भावना और नैतिक निर्णय मे सम्बन्ध ... ७४
नैतिक चेतना की उत्पत्ति तथा विकास ... ७६
(Origin and growth of Moral Consciousness)
नैतिक चेतना का विकास-क्रम ... ७८
नैतिकता और प्रचलन (Morality and Custom) ... ८१
Exercises ... ८२

छठा परिच्छेद

नैतिक निर्णय (Moral Judgement)

नैतिक निर्णय का स्वरूप ... ८४
(Nature of Moral Judgement)
नैतिक निर्णय का विषय ... ८७
(Object of Moral Judgement)

नैतिक निर्णय का विषय
A—परिणाम (Consequence)
B—प्रयोजन (Motive)
C— केवल अभिप्राय या उसका व्यक्त रूप
नैतिक निर्णय किस पर-लक्ष्य पर या साधन पर भी ? ... ६५
क्या लक्ष्य साधन के गुणों को कभी निर्धारित करता है ? ... ९६
नैतिक निर्णय सर्वप्रथम किसका-अपना या दूसरों का ? ... ९८
Typical Questions ... १००

सातवाँ परिच्छेद

नैतिकता की आवश्यक मान्यताएँ (Postulates of Morality)

नैतिकता की आवश्यक मान्यताएँ (Postulates of Morality) ... १०१
व्यक्तित्व (Personality) ... १०१
विवेक (Reason) ... १०३
संकल्प-स्वातंत्र्य (Freedom of Will) ... १०४
संकल्प-स्वातंत्र्य का अर्थ ... १०७
* संकल्प-स्वातंत्र्य विवाद ... ११०
* नियतिवाद
* स्वतंत्रतावाद
Typical Questions ... ११७

आठवाँ परिच्छेद

मौलिक नैतिक प्रत्यय

(Fundamental Ethical Concepts)

परिचय ... ११८
उचित और अनुचित (Right and Wrong) ... ११८

✓शुभ और अशुभ (Good and Evil) ... १२१
✓सर्वोच्च शुभ (The Highest Good) ... १२४
✓उचित और शुभ Right and Good) ... १२६
✓कर्त्तव्य और दायित्व (Duty and Obligation) ... १२८
अधिकार और कर्त्तव्य (Rights and Duties) ... १३२
✓सद्गुण और कर्त्तव्य (Virtue and Duty) ... १३३
योग्यता, पुण्य और पाप (Desert, Merit and Demerit) ... १३६
✓पुण्य-पाप और उचित-अनुचित (Merit-Demerit and Right-wrong ... १३८
सद्गुण और पुण्य (Virtue and Merit) ... १३८
कर्त्तव्यपरायणता और अतिकर्त्तव्यपरायणता ... १३८
Typical Questions ... १३९

नवाँ परिच्छेद

नैतिक आदर्श या मापदण्ड (Moral Ideal or Standard)

विषय प्रवेश ... १४१

दसवाँ परिच्छेद

✓बाह्य नियमवाद या वैधानिक मत (External Law as the Standard of Morality—Legal or Jural Theory)

✓परिचय ... १४५
✓आपत्तियां ... १४७
(क) राजकीय नियम ... १४८
✓(Political Law as the Standard of Morality)
✓आलोचना ... १४९
✗ राज्य निरपेक्ष सत्ता क्यों है ? ... १५०
आपत्तियां ... १५१

(ख) सामाजिक नियम ... १५२
(Social Law as the Standard of Morality)
आलोचना ... १५२
(ग) ईश्वरीय-नियम ... १५४
(Divine Law as the Standard of Morality)
आलोचना ... १५४
Typical Questions ... १५६

ग्यारहवाँ परिच्छेद

अन्तःअनुभूतिवाद (Intuitionism)

विषय-प्रवेश ... १५७
अन्तःअनुभूतिवाद के सामान्य सिद्धान्त ... १५७
(General principles of Intuitionism)
अन्तःअनुभूतिवाद के विरुद्ध आपत्तियाँ ... १६१
अन्तःअनुभूतिवाद के गुण (Merits) ... १६४
अन्तःअनुभूतिवाद के प्रकार (Forms) ... १६४
अदार्शनिक अन्तःअनुभूतिवाद ... १६६
(Unphilosophical Intuitionism)
नैतिक-इन्द्रियवाद (Moral Sense Theory) ... १६६
आलोचना ... १६८
रसेन्द्रियवाद (Aesthetic Sense Theory) ... १७०
आलोचना ... १७१
नैतिक इन्द्रियवाद के गुण ... १७२
दार्शनिक अन्तःअनुभूतिवाद ... १७२
(Philosophical Intuitionism)
बुद्धिवादी अन्तःअनुभूतिवाद (Rational Intuitionism) ... १७३
आलोचना ... १७४

तर्कवाद (Dianoetic Theory) ... १७५
आलोचना ... १७६
काट का बुद्धिवाद (Rationalism) ... १७७
आलोचना ... १८४
काट के बुद्धिवाद के गुण ... १९०
सारांश ... १९१
Typical Questions ... १९१

बारहवाँ परिच्छेद
प्रयोजनवाद (Teleological Theory)

विषय-प्रवेश ... १९३
(क) सुखवाद (Hedonism ... १९३
सुखवाद के भिन्न रूप (Forms) ... १९४
(क) मनोवैज्ञानिक सुखवाद (Psychological Hedonism) ... १९६
आलोचना ... १९८
(ख) नैतिक सुखवाद (Ethical Hedonism) ... २०२
(i) स्वार्थमूलक सुखवाद (Egoistic Hedonism) ... २०२
निकृष्ट स्वार्थमूलक सुखवाद (Gross Egoistic Hedonism) ... २०४
उत्कृष्ट स्वार्थमूलक सुखवाद (Refined Egoistic Hedonism) ... २०६
स्वार्थ-सुखवाद की आलोचना ... २०८
(ii) परार्थमूलक सुखवाद (Altruistic or Universalistic Hedonism) ... २११
निकृष्ट परार्थवाद (Gross Altruism) ... २१२
उत्कृष्ट परार्थवादी सुखवाद (Refined Atruistic or Universalistic Hedonism) ... २१७

परार्थवादी सुखवाद की आलोचना ... २२२
सुखवाद की सामान्य आलोचना ... २२८
सुखवाद के गुण ... २२६
उपयोगितावाद और अन्त.अनुभूतिवाद (Utilitarianism and Intuitionism)
बुद्धिमूलक उपयोगितावाद (Rational Utilitarianism)
सिजविक का बुद्धिमूलक उपयोगितावाद ... २३०
आलोचना ... २३३
विकासात्मक सुखवाद (Evolutional Hedonism) ... २३४
नीति मे विकासवाद ... २३४
विकासात्मक सुखवाद के सामान्य सिद्धान्त ... २३५
समालोचना ... २३६
हर्बर्ट स्पेन्सर का विकासात्मक सुखवाद ... २४०
आलोचना ... २४१
लेसली स्टीफन का विचार ... २४२
आलोचना ... २४२
अलेक्जेन्डर का विचार ... २४३
आलोचना ... २४३
Typical Questions ... २४३

तेरहवाँ परिच्छेद

आत्मपूर्णतावाद (Perfectionism)

(अ) आत्मपूर्णतावाद (Perfectionism) ... २४७
आत्मपूर्णतावाद का प्रमाण ... २५३
समालोचना ... २५५
आत्मपूर्णतावाद और सुखवाद ... २५६
Typical Questions ... २५७

चौदहवाँ परिच्छेद

मूल्यवाद (Standard as Value)

मूल्य का अर्थ २५६
मूल्य का वर्गीकरण ... २६०
मानवीय मूल्यों की सूची और उनका क्रम २६२
(Human Values and their Order)
मूल्य का नियम या आदर्श ... २६७
(Laws or Norms of Value)
नैतिक मापदंड ... २७०
(Moral Standard)
समालोचना २७१
उपसंहार २७१
Typical Questions ... २७२

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

नैतिक दायित्व (Moral Obligation)

नैतिक दायित्व ... २७५
Exercises . २७८

सोलहवाँ परिच्छेद

अधिकार, कर्त्तव्य तथा सद्गुण (Right, Duty and Virtue)

१ अधिकार और कर्त्तव्य ... २७६
मनुष्य के अधिकार
मनुष्य के कर्त्तव्य
कर्त्तव्यों का वर्गीकरण २८०

कर्त्तव्यों का विरोध तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्यशास्त्र ... २८१
(Conflict of duties and casuistry)
सद्गुण (Virtue) ... २८३
सद्गुणों का वर्गीकरण ... २८४
Exercises ... २८५

सत्रहवाँ परिच्छेद

अन्तःकरण या नैतिक शक्ति

(Conscience or Moral Faculty)

अन्तःकरण या नैतिक शक्ति ... २८६
अन्तःकरण और दूरदर्शिता ... २९१
(Conscience and Prudence)
Exercises ... २९१

अठारहवाँ-परिच्छेद

दण्ड और पुरस्कार (Punishment and Reward)

दण्ड और पुरस्कार ... २९२
दण्ड और पुरस्कार के विषय में मत ... २९२
Exercises ... २९५

उन्नीसवाँ परिच्छेद

नैतिक प्रगति (Moral Progress)

नैतिक प्रगति का अर्थ ... २९६
नैतिक प्रगति और नैतिक आदर्श ... २९६
नैतिक प्रगति का स्वरूप ... २९६

नैतिक प्रगति के नियम २९६
समाज और मानव जाति में नैतिक प्रगति २९८
Exercises ३००

बीसवाँ परिच्छेद

भारतीय आचारशास्त्र

भारतीय-आचारशास्त्र ३०१
वर्ण और आश्रम ३०४

इक्कीसवाँ परिच्छेद

भारतीय आचारशास्त्र के मौलिक प्रत्यय

धर्म-अधर्म ... ३०७
धर्मों का वर्गीकरण ... ३०८
धर्म और कर्त्तव्य ... ३११
पाप-पुण्य ... ३११
निःश्रेयस ... ३१३
मोक्षावस्था ... ३१४
पुरुषार्थ ... ३१६

बाइसवाँ परिच्छेद

आचारशास्त्र का मनोवैज्ञानिक आधार—प्रवृत्ति (Volition)

विषय-प्रवेश ... ३१९
प्रवृत्ति ... ३१९
राग और द्वेष ... ३२३
दैव और पुरुषकार ... ३२५

तेईसवाँ परिच्छेद

धर्मों का वर्गीकरण (Classification of Virtues)

धर्मों का वर्गीकरण ... ३२८
समालोचना ... ३३१

चौबीसवाँ परिच्छेद

नैतिक मापदण्ड (Moral Standard)

नैतिक मापदण्ड ... ३३२

सुखवाद ... ३३२

समालोचना ... ३३४

मोक्षसाधन ... ३३५

संयम ... ३३५

विवेकज्ञान ... ३३६

शास्त्र ... ३३७

निवृत्ति ... ३३८

निष्काम कर्म ... ३४०

कांट का मत और वेदान्त मत ... ३४२

Questions ... ३४५

पहला परिच्छेद

विषय-प्रवेश

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। वैसे लोग जो एकान्तप्रिय होते हैं उनको भी समाज की जरूरत होती है। मनुष्य का भरण-पोषण सामाज मे ही होता है। अत मनुष्य के कर्मों का प्रभाव समाज के अन्य सदस्यों पर पड़ता है। इसीलिए हम उनके कर्मों की प्रसंशा या निन्दा अर्थात् मूल्याकन करते हैं। वैसे कर्म जो हमें अच्छे प्रतीत होते हैं उनकी प्रशंसा और वैसे जो खराव, उनकी निन्दा की जाती है। कभी-कभी कोई कर्म हमे तो अच्छा लगता है पर कुछ लोगों को खराव। यदि किसी ने एक गरीब विधवा से शादी करली तो कुछ लोग उसकी प्रशंसा और कुछ उसकी निन्दा करते हैं। ऐसा इसलिए होता है कि हमारा आचरण-सम्वन्धी दृष्टिकोण भिन्न रहता है; बचपन से ही अच्छे और बुरे की शिक्षा हमें अपने बुजुर्गों से मिलती रहती है। बढकर हम उसी विचार को अपनाए रहते हैं; और चूंकि सभी मनुष्य के वचपन का वातावरण एक नही रहता अर्थात् भिन्न लोगो के द्वारा भिन्न समाज में शिक्षा होती है, अत हमारे विचार भी भिन्न हो जाते हैं। इसीलिए अच्छे-बुरे कर्मों का विचार भी भिन्न हो जाता है। साधारणत समाज के प्रचलित तरीके ही हमारे अच्छे बुरे कर्मों के पहचानने के आधार हैं, क्योकि हमारे समस्त विचारों के वे ही आधार रहते हैं। इसीलिए किसी शास्त्र के अध्ययन किए विना ही हम दूसरे और अपने कर्मों की प्रशसा या निन्दा किया करते हैं। पर यदि यह पूछा जाय कि क्यो हम किसी कर्म को अच्छा या क्यों किसी कर्म को खराव कहते हैं तो इसका उत्तर साधारणत दो मिलता है। एक तो यह कि अमुक काम अच्छा है और अमुक खराव, इसलिए हम उसे वैसा कहते हैं। इसका अर्थ यह हुआ कि हमे इस वात की चेतना है कि कौन कर्म अच्छा या खराव है पर हम अच्छा-खराव क्या है, कौन से आदर्श को

अच्छा कहा जाता है और क्यों, यह नहीं जानते। दूसरा उत्तर यह मिलता है कि हमारा समाज अमुक कर्मों को अच्छा और अमुक को खराब मानता है, अत. हम भी उन्हें अच्छा या खराब मानते हैं। पर सामाजिक नियम और तरीके तो भिन्न-भिन्न होते हैं, तो क्या अच्छा-खराब भी भिन्न होगा? दोनों ही हालत में आचरण का क्या सिद्धान्त होना चाहिये इसे हम अनायास मान लेते हैं; या तो हमें उनकी चेतना नहीं रहती या हम उनकी मीमासा नहीं करते। इसी वजह से हमारे आचरण-सम्बन्धी विचार भिन्न होते हैं और हमारा आपसी संघर्ष होता है। जिसे हम उचित समझते हैं, दूसरे अनुचित। इसलिए हमें एक ऐसे शास्त्र की आवश्यकता है जो मनुष्य का आचरण कैसा होना चाहिए इसकी मीमासा करे। वैसे कर्म जिन्हें हम अच्छा या बुरा मानते आए हैं वास्तव में उनकी कसौटी क्या है और वे कहाँ तक ठीक हैं, इसे देखे। वह शास्त्र जिसमें इन बातों पर विचार किया जाता है आचार-शास्त्र (Ethics) कहलाता है। आचार-शास्त्र में, इसीलिए, मनुष्य का कर्तव्य क्या है, उसका आचरण कैसा होना चाहिए, आचरण के सिद्धान्त क्या हों, इन्हीं बातों की समीक्षा होती है। यदि आज के वैज्ञानिक युग में हमें भौतिकशास्त्र, रसायनशास्त्र, औषधि-विज्ञान, इन्जीनियरिंग, इत्यादि शास्त्रों की आवश्यकता है तो उससे भी बढकर हमें यह जानने की जरूरत है कि मनुष्य को रहना कैसे चाहिए। विज्ञान साधन है। उसका सही उपयोग क्या है, यह तो तभी जाना जा सकता है जब इसका ज्ञान हो जाय कि मनुष्य के जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिए। आचारशास्त्र का सम्बन्ध इन्हीं बातों से है।

परिभाषा

'Ethics' ग्रीक शब्द ethica से व्युत्पन्न हुआ है, जिसका अर्थ होता है रीति, प्रचलन या आदत। इसे नीति-विज्ञान (Science of morality) भी कहा जाता है। Morality शब्द की उत्पत्ति 'mores' से हुई है। Mores का भी अर्थ है प्रचलन या रीति।

अत: आचार-शास्त्र (Ethics) का सम्बन्ध प्रचलन, रीति या आदत से है। रीति-रिवाज, प्रचलन या आदत मनुष्य के वैसे कर्म हैं जिनका हमें अभ्यास हो गया है। ये सब मनुष्य के अभ्यास-जन्य आचरण हैं। मनुष्य की ऐच्छिक क्रियाओं को ही आचरण (Conduct) कहा जाता है। यो तो क्रियाएँ विश्व के सभी पदार्थ, जीव या निर्जीव, में होती हैं पर सभी को आचरण नहीं कहा जाता। वैसी ही क्रियाएं आचरण कही जाती हैं जिन्हें किसी संकल्प या इच्छा से किया गया हो। मनुष्य की भी सभी क्रियाएं ऐच्छिक नही होती, जैसे, छींकना, स्वास लेना, आदि-आदि। तो आचार-शास्त्र (Ethics) का सम्बन्ध ऐच्छिक क्रिया या आचारण से है।

आचरण का भी अध्ययन दो दृष्टिकोणों से सम्भव है। एक तो यह कि मनुष्य का आचरण कैसे होता है—कैसे हम कोई काम करते हैं। दूसरे, इस दृष्टि से कि मनुष्य का आचरण कैसा होना चाहिए अर्थात् हमें कैसा काम करना चाहिए—हमारा कौन-सा आचरण उचित है और कौन-सा अनुचित है। आचारशास्त्र का सम्बन्ध आचरण के औचित्य और अनौचित्य से है। कैसे कर्म को उचित और किसे अनुचित कहा जाना चाहिए, यही इसकी समस्या है।

कर्मों के औचित्य-अनौचित्य को परखने के लिए कोई नियम आवश्यक है। विना किसी मापदंड (नियम) के यह कैसे जाना जा सकता है कि अमुक कर्म कैसा है? विना किसी नियम के किसी भी पदार्थ का मूल्यांकन सम्भव नहीं है। किसी भी पदार्थ के सौन्दर्य को जब हम मापने लगते हैं तो 'सुन्दरता' के आदर्श का जो हमें विचार है उससे हम उसकी तुलना करते हैं। यदि वह पदार्थ उस मानसिक तस्वीर के अनुकूल होता है तो उसे सुन्दर कहते हैं और यदि विपरीत तो कुरूप। सौन्दर्य मापने मे हमें सौन्दर्य सम्बन्धी आदर्श, मापदंड या नियम की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार कर्मों के औचित्य-अनौचित्य को मापने के लिए एक नैतिक मापदंड, आदर्श या नियम की आवश्यकता है, जिससे तुलना करके यह कहा जा सके कि वास्तव में कौन से कर्म उचित या अनुचित हैं। यो तो सभी मनुष्य कर्मों के औचित्य अनौचित्य का निर्णय कर लेते हैं पर उन्हें उस नैतिक आदर्श का पता नहीं रहता जिससे

क्षेत्र का अर्थ है वैसी समस्याएं या विषय जिनका आचारशास्त्र में विचार होता है। कौन-कौन-सी समस्याओं से आचारशास्त्र सम्बन्धित है?

आचारशास्त्र में नैतिक चेतना के विषयों का अध्ययन किया जाता है, जैसे, उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ, धर्म-अधर्म आदि का विचार। मनुष्य की नैतिक चेतना से सम्बन्धी जितनी बातें हैं सभी विषय हैं आचारशास्त्र के। अत. निम्नलिखित विषयों पर ही आचारशास्त्र मे मुख्य रूप से विचार-विमर्श किया जाता है —

(i) नैतिक गुणों (Moral qualities) का अर्थ—उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य, गुण और दोष आदि का वास्तविक अर्थ क्या है? आचारशास्त्र में मुख्यत इसीका विचार किया जाता है। मानव-आचरण का मूल्याकन इन्ही विचारों के द्वारा होता है। अत इनका स्पष्ट अर्थ जान लेना आवश्यक है।

(ii) नैतिक-निर्णय (Moral Judgement)—नैतिक गुणो का प्रयोग नैतिक निर्णयों में होता है। आचार-शास्त्र का सम्बन्ध नैतिक निर्णय से है। अत नैतिक निर्णय का स्वरूप, उसका विषय, उसकी मान्यताएं तथा नैतिक-शक्ति के स्वरूप का अध्ययन भी आचार-शास्त्र के विषय हैं। नैतिक निर्णय का स्वरूप क्या है? क्या अन्य निर्णयों की भाँति ही यह भी एक साधारण निर्णय है या इसकी कुछ विशेषताएं हैं? नैतिक निर्णय का वास्तविक विषय क्या है? कौन-सी इसकी मान्यताएं हैं? नैतिक-शक्ति कौन-सी है तथा उसका स्वरूप क्या है? ये समस्याएं आचार-शास्त्र की हैं।

(iii) नैतिक-मापदंड (Moral Standard)—किसी निर्णय मे किसी मापदंड की आवश्यकता होती है। इसलिए नैतिक निर्णय मे भी नैतिक मापदंड ज्ञान आवश्यक है। अत नैतिक मापदंड क्या है, उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ आदि का पहचान क्या है, वास्तविक आदर्श क्या है, आदि समस्याएं आचारशास्त्र के क्षेत्र के अन्तर्गत हैं। आचार-शास्त्र का यही मुख्य विषय है।

(iv) नैतिक-पद्धति (Ethical Method)—सभी निर्णयों का अपना तरीका होता है। इसी को हम उस निर्णय की पद्धति कहते हैं। इसलिए

आचार-शास्त्र मे हमें यह भी विचार करना है कि नैतिक निर्णय की पद्धति क्या है ?

(v) कर्त्तव्य और नैतिक वद्धता (Duty and Moral obliga-tion)—उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म के विचार में कर्त्तव्य (Duty) और नैतिक वद्धता (obligation) की चेतना भी निहीत हैं। मनुष्य जिस कर्म को उचित समझता है उसका पालन करना वह अपना कर्त्तव्य समझता है। वह उस कर्म को वास्तव मे करे या न करे पर उसे वैसा ही करना चाहिये ऐसी चेतना उसे होती है। वह एक प्रकार का वन्धन (Binding) महसूस करता है। इसी वन्धन को नैतिक वद्धता (obligation) कहा जाता है। ठीक वैसे ही, अनुचित कर्मों से दूर रहना मनुष्य अपना कर्त्तव्य समझता है। यहाँ भी वह अपने को उसी प्रकार के नैतिक वन्धन के अधीन अनुभव करता है। अब प्रश्न है कि कर्त्तव्य, नैतिक वंधन, आदि का वास्तविक अर्थ क्या है ? यह विमर्श आचार-शास्त्र का विषय है।

उचित कर्मों को पुण्य और अनुचित को पाप कहा जाता है। उन कर्मों के कर्त्ता को हम धर्मी या अधर्मी कहते हैं और उनके लिए उसे ही उत्तरदायी (Responsible) ठहराते हैं। अनुचित कर्मों के लिए मनुष्य दोषी ठहराया जाता है। पाप और पुण्य किसे कहा जाता है, धर्मी और अधर्मी किसे कहना चाहिए, मनुष्य अपने कर्मों के लिए कैसे उत्तरदायी है, दोषारोपन क्यो होता है, इत्यादि समस्याएं भी आचारशास्त्र की है।

(vi) सद्गुण और दुर्गुण (Virtue and Vice)—उपरोक्त विचारों से सम्बन्धित सद्गुण (Virtue) और दुर्गुण (vice) का विचार भी आचरणशास्त्र में होता है।

(vii) दण्ड और पुरस्कार—उचित अनुचित के विचार के साथ दण्ड और पुरस्कार का विचार भी किया जाता है। अत दण्ड और पुरस्कार का अर्थ और उनके सिद्धान्तों का भी आचारशास्त्र मे विचार किया जाता है।

(viii) नैतिक भावना (Moral Sentiment)—नैतिक निर्णय के साथ नैतिक भावना (Moral Sentiment) का भी प्रश्न उठता है। उचित या अनुचित कर्मों के साथ जो आनन्द और विषाद की अनुभूति होती है उसे ही नैतिक भावना कहा जाता है। इसलिए उनका नैतिक निर्णय में क्या स्थान है इसका विमर्श इसी शास्त्र में होता है।

(ix) आचारशास्त्र का मुख्य उद्देश्य है नैतिक आदर्श का निश्चयीकरण जिसके द्वारा कर्मों का मूल्यांकन किया जा सकता हो। गौण रूप से आचारशास्त्र का लक्ष्य विशेष कर्त्तव्यों का तथा विशेष परिस्थिति में मानव चरित्र के विकास के नियमों का निरूपण भी है।

(x) उपरोक्त विषयों के अतिरिक्त आचारशास्त्र का सम्बन्ध मनोविज्ञान, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र से भी है। नैतिक निर्णयों का सम्बन्ध मानव आचरण से है। आचरणशास्त्र मे आदर्श आचरण के स्वरूप को निर्धारित करने की चेष्टा की जाती है। किसी भी वस्तु का आदर्श जानने के लिए उस वस्तु का स्वरूप जानना आवश्यक है। इसलिए मानव आचरण के आदर्श को जानने के लिए आचरण का स्वरूप तथा उसके नियमों को जान लेना आवश्यक है। यह मनोविज्ञान का विषय है। अत आचारशास्त्र में आचरण के मनोवैज्ञानिक विश्लेषण का भी अध्ययन आवश्यक है। मनुष्य की ऐच्छिक क्रियाओं का मूल्यांकन आचारशास्त्र में होता है पर उनकी विधि तथा प्रकृति का ज्ञान मनोविज्ञान मे मिलता है। आत्मा की अमरता, इच्छा-शक्ति की स्वच्छन्दता इत्यादि विषय तत्त्वशास्त्र के हैं पर आचारशास्त्र उन्ही पर अवलम्बित है। व्यक्ति का समाज से सम्बन्ध, समाज का विकास इत्यादि समस्याएं समाजशास्त्र की हैं पर आचारशास्त्र भी उनसे सम्बन्धित है। व्यक्ति और राज्य का सम्बन्ध राजनीतिशास्त्र मे बतलाया जाता है पर यह सम्बन्ध किस आदर्श पर हो, यह आचारशास्त्र का विषय है। इसलिए आचारशास्त्र मे इन विषयों पर भी एक दृष्टि डाली जाती है।

संक्षेप मे, आचार-शास्त्र के अन्तर्गत निम्नलिखित विषय हैं —

(1) नैतिक गुणों के अर्थ का स्पष्टीकरण।

(ii) नैतिक निर्णयों के स्वरूप, विषय, मान्यताएं तथा नैतिक-शक्ति का विचार।

(iii) नैतिक मानदंड का निश्चयीकरण।

(iv) नैतिक पद्धति का विचार।

(v) कर्त्तव्य तथा दायित्व का स्पष्टीकरण।

(vi) सद्गुण तथा दुर्गुण के अर्थ का विश्लेषण।

(vii) दण्ड और पुरस्कार के सिद्धान्तों का अध्ययन।

(viii) नैतिक भावना का स्थान।

(ix) विशेष कर्त्तव्यों तथा आचरण के विशेष नियमों का अध्ययन।

(x) कुछ मनोवैज्ञानिक, दार्शनिक, सामाजिक तथा राजनैतिक समस्याओं का विचार।

आचारशास्त्र का स्वरूप (Nature)

किसी विषय का वास्तविक स्वरूप तभी जाना जा सकता है जब हम यह जान लें कि वह विषय विज्ञान (Science) है या कला (Art)। कला और विज्ञान की विशेषताओं को जान लेने पर ही ऐसी परीक्षा सम्भव है। इन विशेषताओं को ध्यान में रखते हुए हमें देखना है कि आचारशास्त्र कला है या विज्ञान।

(अ) कला और आचारशास्त्र:—

(i) मनुष्य के मन में दो शक्तियां हैं—ज्ञान-शक्ति और सृजनात्मक (creative) शक्ति। सृजनात्मक शक्ति के द्वारा ही मनुष्य कोई रचना करता है, जैसे, भाषा, चित्रकारी, संगीत, इत्यादि। जिस विषय से किसी रचना के नियमों का ज्ञान होता है उसे कला कहा जाता है। संगीत विद्या एक कला है क्योंकि उसमें संगीत के नियम बताए जाते हैं जिसे सीख कर मनुष्य गवैया होता है।

आचारशास्त्र इस अर्थ में कला नहीं कहा जा सकता है क्योंकि इसमें चरित्रोत्थान या आचरण के सुधारने के व्यावहारिक साधन या कोई रास्ता नहीं बताया जाता। इसे कला कहा जा सकता था यदि इसके ज्ञान से मनुष्य सच्चरित्र

या धार्मिक हो जाता, जैसे एक चित्रकारी जाननेवाला एक अच्छा चित्रकार होता है। पर ऐसा नहीं होता। इस शास्त्र में केवल जीवन के वास्तविक आदर्श तथा मनुष्य की नैतिक प्रकृति का ज्ञान होता है। उस आदर्श की प्राप्ति के लिए विशेष नियम नहीं बताए जाते। इसलिए इसे कला नहीं कहा जाता।

(ii) कला का अर्थ है किसी व्यवहार में निपुणता (Skill in practice)। एक कलाकार वही होता है जो किसी व्यवहार में निपुण हो। एक चित्रकार को कलाकार कहा जाता है क्योंकि वह चित्रकारी में निपुण होता है। एक गवैया को कलाकार कहा जाता है क्योंकि वह संगीत में निपुण होता है। चित्रकारी और संगीत विद्या कलाएं हैं, क्योंकि उनमें उन अभ्यासों में निपुण होने के नियम बताए जाते हैं। पर यह आवश्यक नहीं है कि एक आचारशास्त्र का ज्ञानी भी किसी आचार-नियम का पालन करता ही हो या सच्चरित्र ही हो। किसी आदर्श पर कैसे चलना चाहिए, इसका नियम आचारशास्त्र में नहीं बताया जाता है।

(iii) किसी कला का मूल्यांकन बाह्य प्रकरणों द्वारा होता है। किसी को निपुण चित्रकार उसके खींचे हुए चित्रों की परीक्षा करके ही कहा जाता है। एक निपुण गवैया वही कहलाता है जो अच्छा गाए। पर किसी का नैतिक मूल्यांकन अर्थात् उसे धार्मिक या अधर्मी निर्णय करना उसके बाह्य आचरण पर नहीं अपितु उसके चरित्र पर निर्भर है। धर्मी उसे कहा जाता है जिसका सदा उचित आचरण हो।

इन विचारों से यह स्पष्ट है कि आचारशास्त्र कला नहीं है। इसे आचरण-कला नहीं कहा जा सकता है। वास्तव में विज्ञान और कला व्याघातक नहीं हैं। विज्ञान सिद्धान्तों का प्रतिपादन करता है, कला करने की विद्या सिखाती है। इसका यह अर्थ नहीं है कि दोनों बिल्कुल भिन्न हैं। वास्तव में दोनों पूरक हैं। 'करना' सिद्धान्तों की जानकारी पर ही निर्भर है और सिद्धान्तों की जानकारी का व्यवहार पर असर पड़ता ही है। इसी प्रकार आचार के सिद्धान्तों की जानकारी का मनुष्य के व्यवहार पर भी प्रभाव होता है। पर चूंकि आचारशास्त्र में

आचरण के आदर्शों को प्राप्त करने के विशेष नियमों का अध्ययन नहीं होता, इसलिए इसे कला नहो विचारा जाता। इसमे आचरण के आदर्श के स्वरूप की मीमासा होती है, इसलिए इसे विज्ञान कहा जाता है।

(ब) विज्ञान और आचारशास्त्र:--

(i) विज्ञान मनुष्य को केवल ज्ञान देता है कुछ करने की विद्या नहीं सिखलाता।

(ii) विज्ञान किसी विषय का सुव्यवस्थित अध्ययन करता है।

(iii) विज्ञान मे निरीक्षण, वर्गीकरण, कल्पना इत्यादि विधियो का प्रयोग किया जाता है।

(iv) विज्ञान द्वारा सामान्य (Universal) ज्ञान होता है, किसी वस्तु-विशेष का ज्ञान नहीं होता।

आचारशास्त्र में ये सभी विशेषताएं मिलती हैं। इसमें आचार-नियम अथवा जीवन के आदर्श का ज्ञान होता है। इससे हम जानते हैं कि मनुष्य का परम-धर्म क्या है और मनुष्य की नैतिक प्रकृति कैसी है; पर इस शास्त्र मे उस आदर्श को कैसे प्राप्त करें इसके नियम नही बताए जाते। यह हमे कुछ करने को नहीं सिखलाता केवल नैतिक विषयो का ज्ञान देता है।

विज्ञान की भाँति इसका अपना विषय है और उसका यह सुव्यवस्थित अध्ययन करता है। आचारशास्त्र नैतिक दृष्टि से आचरण के सुव्यवस्थित अध्ययन को कहा जाता है।

नैतिक नियमो के विमर्श मे निरीक्षण, कल्पना, वर्गीकरण इत्यादि सभी विधियों का प्रयोग किया जाता है। मनुष्य के वास्तविक आचरणों का निरीक्षण किया जाता है तथा उनके आधार पर मनुष्य के परम धर्म का विचार किया जाता है। इन सब विधियो के प्रयोग से ही कोई मत निश्चित किया जाता है।

यह हमे सामान्य (Universal) ज्ञान देता है। आचारशास्त्र मे हम व्यक्तिगत आचरण या धर्म के विषय मे विचार नही करते अपितु सामान्य मानव

जाति का विचार करते हैं। इसमें मानव जाति के परम धर्म का अन्वेषण किया जाता है। ये आचार-नियम हमें हिन्दुस्तानी या जर्मन या अगरेज या अमेरिका-निवासी होने के नाते नही बताए जाते अपितु मनुष्य होने के नाते। इसलिए आचारशास्त्र एक विज्ञान है।

(स) आचारशास्त्र और प्रकृति-विज्ञान (Natural Science)

प्राकृतिक पदार्थों के सुव्यवस्थित अध्ययन को प्रकृति विज्ञान कहा जाता है। रसायन-शास्त्र (Chemistry), जीव विज्ञान (Biology) इत्यादि प्रकृति-विज्ञान हैं क्योंकि इनमे रसायन तथा जीव इत्यादि प्राकृतिक पदार्थों का अध्ययन होता है। मनुष्य का आचरण भी प्राकृतिक ही है। इसे कृत्रिम (Artificial) नहीं कहा जाता। प्रकृति की घटनाओ मे ये भी है। पर आचार-शास्त्र प्रकृति-विज्ञान से भिन्न है।

यह सत्य है कि मानव-आचरण भी प्राकृतिक ही है पर दूसरे प्राकृतिक पदार्थों से यह भिन्न होता है। मनुष्य एक आत्म-चेतन (self-conscious) प्राणी है। यही गुण उसे दूसरे प्राकृतिक पदार्थों से भिन्न कर देती है। दूसरे प्राणी मे चेतना रह सकती है पर आत्म-चेतना (Self-consciousness) का अभाव रहता है, इसलिए इसके आचरण की प्रकृति भिन्न है।

नैतिक निर्णय में आत्म-चेतना होती है इसलिए अन्य प्राकृतिक पदार्थों के यन्त्रवत् (Mechanical) नियमो के तरह इसके नियम नही हो सकते।

प्रकृति-विज्ञान के अन्वेषण दर्शन की चिन्तनो पर उतना अवलम्बित नही रहते हैं जितना आचारशास्त्र के सिद्धान्त। रेखागणित के साम्य का प्रमाण वही रहता है यदि हम काण्ट के विषयीप्रधान (Subjective) मत को माने या किसी विषय-प्रधान (objective) मत को। आचार-नियम बहुत अशो मे दार्शनिक मतो पर निर्भर रहते हैं। जिस प्रकार का दर्शन होता है उसी प्रकार के आचार-नियम माने जाते हैं। इसलिए आचार-शास्त्र प्राकृतिक विज्ञान नहीं कहा जा सकता है।

(ड) यथार्थ विज्ञान (Positive Science) या आदर्श-निर्देशक (Normative) विज्ञान ?

आचार-शास्त्र विज्ञान तो है पर यथार्थ विज्ञान या आदर्श-निर्देशक विज्ञान ?

विज्ञान दो प्रकार के होते हैं--यथार्थ और आदर्श-निर्देशक। यथार्थ विज्ञान मे पदार्थो के वास्तविक व्यापार के नियम का अन्वेषण किया जाता है। किसी पदार्थ का किस रीति से व्यापार हो रहा है इसीकी गवेषणा इसमे होती है। मनोविज्ञान (Psychology) यथार्थ विज्ञान है। इसमें मानसिक क्रियाएं किस विधि से होती हैं, इसका अध्ययन किया जाता है।

आदर्श-निर्देशक विज्ञान मे पदार्थो को कैसा होना चाहिए, इस दृष्टि से अध्ययन किया जाता है। तर्कशास्त्र, आचार-शास्त्र ऐसे ही विज्ञान हैं। तर्कशास्त्र मे तर्क का आदर्श बतलाया जाता है। इसी प्रकार आचार-शास्त्र मे आचरण का आदर्श बतलाया जाता है, अर्थात् मानव आचरण कैसा होना चाहिए इसकी गवेषणा होती है।

एक मे क्या है या क्या नहीं है इसका निर्णय किया जाता है, दूसरे में क्या होना चाहिए या क्या नहीं होना चाहिए इसका निर्णय होता है। एक में है—निर्णय (Is-judgment) से सम्बन्ध है, दूसरे मे चाहिए—निर्णय (Ought-judgment) से। पहले मे पदार्थों का यथार्थ रूप का केवल वर्णन किया जाता है, इसलिए उसे वर्णनात्मक विज्ञान (Descriptive Science) भी कहा जाता है। दूसरे मे पदार्थों का मूल्यांकन होता है, अर्थात् यह विचारा जाता है कि उसे किस प्रकार का होना चाहिए। मूल्यांकन के लिए किसी नियम या आदर्श की आवश्यकता होती है, इसलिए इस विज्ञान मे आदर्श या नियम निश्चित किये जाते हैं। इसीलिए यह आदर्श-निर्देशक (Normative or Axiological) विज्ञान कहलाता है।

आचार-शास्त्र आदर्श आचरण का विज्ञान है। मानव आचरण किस आदर्श के अनुकूल हो इसकी गवेषणा इसमें होती है। आचरण की क्या प्रकृति है, इस प्रश्न से इसका कोई सम्बन्ध नहीं है। इसलिए आचरणशास्त्र यथार्थ विज्ञान नहीं आदर्श निर्देशक विज्ञान है।

यहां आदर्श-निर्देशक विज्ञान और यथार्थ विज्ञान का अन्तर समझ लेना आवश्यक है, क्योंकि आचरण-सम्बन्धी दोनों प्रकार के विज्ञान है। आचरण के यथार्थ विज्ञान को मनोविज्ञान कहा जाता है और उसके आदर्श निर्देशक विज्ञान को आचार-शास्त्र। दोनों प्रकार के शास्त्रों में अन्तर होते हुए भी एक दूसरे से विपरीत नहीं है। दोनों में कुछ समता भी है। दोनों में एक ही पद्धति का प्रयोग होता है। निरीक्षण, वर्गीकरण, कल्पना इत्यादि का प्रयोग दोनों में किया जाता है। इस अर्थ में दोनों ही दर्शनशास्त्र से भिन्न हैं, क्योंकि दर्शन की पद्धति चिन्तनशील (Speculative) है। बहुत से शास्त्र यथार्थ और आदर्श निर्देशक दोनों होते हैं, जैसे, राजनीतिशास्त्र ।

(इ) सैद्धान्तिक विज्ञान (Theoretical Science) या व्यावहारिक विज्ञान (Practical Science) ?

विज्ञान के दो भेद हैं—सैद्धान्तिक और व्यावहारिक। सैद्धान्तिक विज्ञान उसे कहा जाता है जिससे केवल किसी नियम या आदर्श का ज्ञान हो। उस आदर्श-पालन का क्या मार्ग है, इससे इसका कोई सम्बन्ध नहीं है।

आचारशास्त्र सैद्धान्तिक विज्ञान है, क्योंकि इसमें केवल आदर्श आचरण का ज्ञान होता है। उस आदर्श की प्राप्ति के नियम नहीं बताए जाते। यह हमें कोई व्यवहार नहीं बताता या सिखलाता।

पर कुछ विचारकों ने इसे व्यावहारिक विज्ञान कहा है। जिस विज्ञान का लक्ष्य व्यावहारिक हो उसे इस नाम से सम्बोधित किया जा सकता है।

मैकेंजी और मूईरहेड ने आचारशास्त्र को व्यावहारिक मानना स्वीकार नहीं किया है। मैकेंजी का विचार है कि आचारशास्त्र किसी आदर्श को प्राप्त करने का मार्ग नहीं बतलाता इसलिए इसे व्यावहारिक नहीं कहना चाहिए। मूईरहेड ने बतलाया है कि वास्तव में सभी शास्त्र अंशत सैद्धान्तिक हैं और अंशत· व्यावहारिक, क्योंकि सभी में सिद्धान्तों का प्रतिपादन होता है और व्यवहार के आधार सिद्धान्त ही हैं। इसलिए जैसे अन्य सभी शास्त्र सैद्धान्तिक और व्यावहारिक दोनों हैं, उसी प्रकार आचारशास्त्र भी है। वास्तव में व्यावहारिक विज्ञान का दो अर्थों में प्रयोग

हो सकता है—जो कोई व्यवहार सिखलाता हो या जिसका नित्य दिन के व्यवहार से सम्बन्ध हो। यदि पहला अर्थ लिया जाय तो उसके अनुसार वह विज्ञान व्यावहारिक होगा जो कोई व्यवहार सिखलाता हो। आचारशास्त्र कोई व्यवहार या किसी प्रकार का आचरण सिखाता नहीं इसलिए यह व्यावहारिक विज्ञान नहीं है। इसी अर्थ में मैकेंजी तथा मुईरहेड ने अपनी राय दी है। दूसरे अर्थ के अनुसार मनुष्य के व्यवहार से सम्बन्ध रखनेवाले विज्ञान व्यावहारिक विज्ञान होगें। आचारशास्त्र का विषय मानव आचरण है, इसलिए इसे व्यावहारिक विज्ञान कहा जा सकता है। सेद का भी यही मत है।

वास्तव मे सिद्धान्त और व्यवहार में उतना अन्तर नहीं है जितना इन विचारकों ने माना है। कोई भी व्यवहार किसी न किसी सिद्धान्त ही पर होता है और कोई सिद्धान्त किसी व्यवहार पर आधारित रहता है। सुकरात (Socrates) ने भी कहा है 'ज्ञान ही धर्म है'। इससे यह स्पष्ट है कि ज्ञान ही पर व्यवहार अवलम्बित रहता है। आदर्श आचरण के ज्ञान से हमारी प्रवृत्तियाँ भी उधर मुड़ ही जाती हैं। उनका हमारे व्यवहार पर प्रभाव पड़ता ही है। इसलिए आचार-शास्त्र को व्यावहारिक कहा जा सकता है।

(फ) आचार दर्शन (Moral philosophy) या आचारशास्त्र (Moral Science)

आचारशास्त्र दर्शन का एक अग है या विज्ञान है? आचारशास्त्र मानव आचरण के आदर्शों की समीक्षा करता है। मनुष्य के जीवन और उसके कर्मों से बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध है। आचारशास्त्र मनुष्य के कर्मों से ही सम्बन्धित है। नैतिकता मानव जीवन का तीन-चौथाई हिस्सा है। वास्तव में इनका सम्बन्ध सम्पूर्ण जीवन अर्थात् उसके प्रत्येक अनुभव से है। इसलिए कुछ विचारकों ने इसे विज्ञान नही वल्कि दर्शन कहा है। विज्ञान मनुष्य के विशेष अनुभवों से सम्बन्धित होता -दर्शनशास्त्र मे मनुष्य के सम्पूर्ण अनुभवो की समीक्षा होती है। इसलिए आचारशास्त्र को आचार दर्शन कहा गया है।

कॉट, हेगेल आदि ने भी आचारशास्त्र को दर्शन की ही एक शाखा माना है। मनुष्य का परम धर्म क्या होना चाहिए, जीवन का वास्तविक आदर्श क्या हो

इत्यादि प्रश्नों से आचारशास्त्र का सम्बन्ध है। ऐसे प्रश्न गहरे चिन्तन तथा कल्पना के द्वारा ही सुलझाए जा सकते हैं। * इसलिए उनकी ऐसी धारणा है कि आचारशास्त्र दर्शन का एक अंग है।

पर वास्तव में इस शास्त्र और दर्शन मे भेद है। दर्शन का विषय समस्त संसार है पर आचारशास्त्र संसार के केवल एक विभाग से सम्बंधित है—मानव आचरण से। दर्शनशास्त्र में कोई पूर्व मान्यता नहीं होती है। आचारशास्त्र के कुछ मान्यताएं (Postulates) होती हैं, जैसे, इच्छा-शक्ति की स्वच्छन्दता मनुष्य की विवेक-शक्ति इत्यादि। इनके विषय मे आचारशास्त्र कुछ छानबीन नहीं करता। वे दर्शनशास्त्र के विषय हैं। तीसरी बात यह है कि दर्शनशास्त्र की पद्धति चिन्तनशील (Speculative) होती है, आचारशास्त्र की वैज्ञानिक। इसलिए आचारशास्त्र को आचार दर्शन कहना उचित नहीं होगा। पर आचार-शास्त्र का दर्शन से बहुत ही गहरा सम्बन्ध है। जीवन के आदर्श की समीक्षा में मनुष्य अपने अनुभवों तक ही नहीं बल्कि उससे परे भी चिन्तन करता है। अनुभवातीत विषयो की समीक्षा दर्शन में ही होती है। अत आचारशास्त्र का दर्शन से बहुत ही घनिष्ट सम्बन्ध है।

---

* 'यथार्थ' (Facts) और 'मूल्य' (Value) में अन्तर होता है। देश और काल में होनेवाली घटनाओं को यथार्थ कहा जाता है। कोई घटना क्या है, कैसी है या उसका क्या कारण है, इत्यादि प्रश्न उसकी यथार्थता बतलाते हैं पर यदि उस घटना की उपकारिता पूछी जाय तो उसका सम्बन्ध मूल्य से है। मूल्य कोई वस्तु नहीं होता उसकी उपकारिता होती है। मूल्य वास्तविक नहीं काल्पनिक होता है। उचित-अनुचित, धर्म, दोष, सद्‌गुण इत्यादि मूल्य हैं। किसी पदार्थ को कैसा होना चाहिए, यह प्रश्न मूल्य सम्बन्धी है। यथार्थ हमारे बुद्धि को तृप्त करता है, मूल्य हमारी आकाक्षाओं (Desires) को।

आचारशास्त्र का सम्बन्ध मूल्य से है क्योंकि आचरण क्या है यह नहीं अपितु उसे कैसा होना चाहिये, हम यह जानना चाहते हैं।

मूल्य दो प्रकार के होते हैं—वास्तविक (Intrinsic) और बाह्य (Extrinsic)। हम कोई भी काम किसी प्रयोजन (End) से करते हैं, जैसे,

आचारशास्त्र का लक्ष्य तथा उपयोग

मानव जीवन का आदर्श बतलाना ही आचारशास्त्र का मुख्य लक्ष्य है। मानव जीवन का चरम लक्ष्य क्या होना चाहिए, उस लक्ष्य का वास्तविक स्वरूप क्या है, आदि समस्याओं की ही इसमें मुख्यतः मीमांसा होती है। मनुष्य को कैसे रहना चाहिए, उसका कैसा आचरण नीति-सम्मत है, आदि बातें इस शास्त्र में अध्ययन की जाती है। इसलिए, आचारशास्त्र के सैद्धान्तिक तथा व्यावहारिक दोनों पक्ष हैं।

विज्ञानों मे आचारशास्त्र को एक लभ्य स्थान प्राप्त है। इसमें मनुष्य के अध्ययन का विषय स्वयं मनुष्य है। संसार का तथा अपने जीवन की अधिक विषमता स्वयं अपने को अध्ययन करने से दूर हो सकती है। जीवन के वास्तविक आदर्श को इंगित करना तथा नियमपूर्वक जीवनयापन करने का मार्ग दिखाना इस शास्त्र का लक्ष्य है। इसलिए इसके अध्ययन की उपयोगिता (Utility) बहुत है।

वैज्ञानिक अध्ययन होने के कारण इससे पहला फायदा तो यह है कि बहुत सी प्रचलित अशुद्धया तथा रूढ़ीवादी (Dogmatic) नीति-सम्बन्धी अन्धविश्वासों से मस्तिष्क मुक्त हो जाता है। मनुष्य अज्ञान के कारण बहुत सी ऐसी बातें नीतियुक्त मानता है जो वास्तव में नीति के दृष्टि से माननीय नही हैं। धर्म के प्रचार के लिए दूसरे की हत्या करना या दूसरों से घृणा करना कुछ लोगो के

व्यायाम अपने स्वास्थ्य के लिए। प्रत्येक उद्देश्य का नैतिक मूल्य होता है, क्योंकि वे मनुष्य की आकाक्षाओं की पूर्ति करते हैं। पर कुछ प्रयोजन किसी दूसरे प्रयोजन के साधन मात्र होते हैं, जैसे स्वास्थ्य सुख के लिए। इसी प्रकार जिन प्रयोजनों का कोई दूसरा बाह्य प्रयोजन (External end) होता है, उसे बाह्य मूल्य कहा जाता है। पर बहुत से उद्देश्य ऐसे हैं जिनका वही स्वयं प्रयोजन होता है, जैसे, कर्त्तव्य। कर्त्तव्य पालन किसी बाह्य प्रयोजन से नही होता। उसे ही वास्तविक मूल्य कहा जाता है। यदि नैतिक मूल्य का अर्थ मनुष्य के परम धर्म से है तो उसका वास्तविक मूल्य है।

विचार में कदापि अनुचित नहीं है। ऐसे अन्धविश्वासों में दोष बतलाना आचार-शास्त्र का लक्ष्य है; इसलिए, इसके अध्ययन से ऐसे विचार मन से दूर हो जाते हैं। इस प्रकार मनुष्य प्रचलित रीति-रिवाजों की बुराईयो से मुक्त हो उनमें परिवर्तन ला सकता है। नीति-सम्बन्धी भ्रमात्मक विचारों के दूर हो जाने से मनुष्य की दूषित प्रवृत्तियाँ (Evil tendencies) भी दूर हो जाती हैं। जिस प्रकार का विचार होता है वैसी ही प्रवृत्तियाँ मनुष्य मे पनपती हैं। भ्रमात्मक विचारों से मनुष्य का आचरण भी कुत्सित हो जाता है। यथार्थ ज्ञान होने से ही प्रवृत्तियाँ बदलती हैं।

यथार्थ ज्ञान होने से मनुष्य को जीवन का वास्तविक आदर्श का ज्ञान होता है। वैज्ञानिक ढंग से इसका ज्ञान होने पर मनुष्य उस पथ से शीघ्र ही विचलित नहीं हो सकता।

इस प्रकार आचारशास्त्र के अध्ययन से ही मनुष्य का नैतिक उत्थान सम्भव होता है।

वर्तमान भौतिकवादी (Materialistic) युग मे आचारशास्त्र का अध्ययन तो और भी आवश्यक है। हमने विज्ञानों के द्वारा शारीरिक सुख के साधन का तो ज्ञान बढा लिया है पर उनके प्रयोजन के विषय में अनभिज्ञ हैं। इसका फल वर्तमान संघर्ष, विषमता तथा कुत्सित आचरण के रूप में प्रत्यक्ष है। इसलिए वह विज्ञान जो सन्मार्ग बतलाता हो उसके उपयोगिता के विषय में किसी को संदेह नही होना चाहिये।

आचारशास्त्र विशेष रूप से ब्रह्मज्ञानियों (Theologians), राजनीतिज्ञों (Statesmen), न्यायकर्ताओं तथा शिक्षकों के लिए लाभदायक है। इनके द्वारा अन्य लोगों को शिक्षा मिलती है, इसलिए इन्हें मनुष्य के आचरण के विषय में यथार्थ ज्ञान होना चाहिए। संक्षेप मे, आचारशास्त्र के द्वारा ही मानव जाति में वास्तविक नैतिक उत्थान सम्भव है।

आचरणशास्त्र के विरुद्ध कुछ प्रचलित आपत्तियाँ (Objections) और उनका निराकरण।

(१) (आचारशास्त्र-नैतिक विवेक से विश्वास हटाकर अनावश्यक नैतिक वाद-विवाद का जन्म देता है—आपत्ति) प्रतिवाद—विश्वास दो प्रकार का होता है—अन्धविश्वास और ज्ञान। अन्धविश्वास विना किसी धारणा की परीक्षा किए ही होता है पर धारणाओं को हर पहलू से समझ लेने पर उसका वास्तविक ज्ञान होता है। किसी भी विज्ञान के द्वारा हमें वास्तविक ज्ञान होता है। ज्ञान का आधार तर्क होता है। तार्किक आधार पर हमें जो विश्वास होता है उसकी नींव दृढ होती है। अन्धविश्वास का आधार तर्क नहीं अज्ञान है। इसलिए ऐसे विश्वासों की नींव दुर्बल होती है।

आचारशास्त्र एक विज्ञान है। उचित तर्क वितर्क के बाद ही इसमें कोई धारणा निश्चित की जाती है। इसलिए नीति का इससे वास्तविक ज्ञान होता है। राधाकृष्णन ने कहा है कि यदि किसी भी नैतिक विश्वास को यदि अटल माना जाय तो नैतिक उत्थान सम्भव नहीं है।

(२) (आचारशास्त्र केवल सैद्धान्तिक (Theoretical) है, व्यावहारिक (Practical) नहीं। इसके अध्ययन करने से मनुष्य का नैतिक उत्थान नहीं होता इसलिए यह सारहीन है। आपत्ति) प्रतिवाद—यह सत्य है कि आचारशास्त्र के अध्ययन से कोई मनुष्य धार्मिक हो ही जाय यह आवश्यक नहीं है। आचारशास्त्र एक विज्ञान है। विज्ञान का सम्बन्ध ज्ञान से है, व्यवहार से उतना नहीं। इसका लक्ष्य निर्माण नहीं, ज्ञान है। कला का लक्ष्य है निर्माण करना। गाना एक कला है इसलिए इसके अध्ययन से मनुष्य गवैया हो जाता है। तर्कशास्त्र एक विज्ञान है। इसके अध्ययन से मनुष्य को तर्क के यथार्थ नियमों का ज्ञान होता है वह शुद्ध तर्क नहीं करने लगता। इसी प्रकार आचारशास्त्र एक विज्ञान है। यह आचार नियम का ज्ञान देता है। इसके अध्ययन से यह आवश्यक नहीं है कि सभी धार्मिक हो जाएं। इस कथन से पहली आपत्ति उचित जान पड़ती है कि यह शास्त्र केवल सैद्धान्तिक है; पर वास्तव में ऐसी बात नहीं है। वास्तव में समालोचकों ने सिद्धान्त (Theory) और व्यवहार (Practice) का अन्तर बहुत बढ़ा दिया है। कोई भी व्यवहार किसी-न-किसी सिद्धान्त ही पर आधारित रहता है। इसी प्रकार किसी सिद्धान्त

का वास्तविक ज्ञान होने से मनुष्य की प्रवृत्ति भी उसी प्रकार की हो जाती है। ज्ञान मनुष्य की प्रवृत्तियों को सुधारता है। यह सम्भव है कि मनुष्य किसी विशेष परिस्थिति में पड़कर उनके अनुकूल नहीं व्यवहार करे पर उसकी प्रवृत्ति उधर ही होती है। सिद्धान्त और व्यवहार का सम्बन्ध घनिष्ट है। सिद्धान्त के ज्ञान से उसका प्रभाव कुछ-न-कुछ व्यवहार पर पड़ता ही है। इसलिए आचारशास्त्र के अध्ययन को सारहीन नहीं कहा जा सकता है।

Exercises.

1. Describe the distinctive character of Ethics showing how it differs from the natural sciences.

2. Is Ethics a science or a branch of Philosophy? Justify your answer.

3. The distinction between natural and normative sciences is one of those convenient distinctions which requires to be drawn at the outset, but which may be gradually superseded' (Seth) Explain and discuss this statement in relation to Ethics.

4. 'In morals the achievements can not be distinguished from the inner activity by which it is brought about'. (Mackenzie) Explain this and discuss why Ethics can not be regarded as an Art?

5. Indicate the scope of Ethics. Is Ethics a positive or a normative science?

6. In what sense can Ethics be regarded as a practical science? Explain the utility of its study.

7. What is the main problem of Ethics? How it beane defined ?

8. Facts differ from values. With which is Ethics concerned ? If by the study of Ethics a man does not necessarily become a moralist, can it not be said as barren and futile ? Justify your answer.

9. What is the subject-matter of Ethics ? Is Ethics merely a theoretical study ? Discuss.

दूसरा परिच्छेद

आचारशास्त्र और अन्य विज्ञान

संसार के सभी पदार्थ एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। अत भिन्न विज्ञान भी, जिनमें उन विषयों का अध्ययन होता है, एक दूसरे से सम्बन्धित हैं, पर कुछ विज्ञान ऐसे हैं जिनमे बहुत ही घनिष्टता रहती है और कुछ ऐसे होते हैं जिनमें वैसी घनिष्टता नहीं रहती। यूं तो आचारशास्त्र, शिक्षाशास्त्र, अर्थशास्त्र आदि से सन्बन्धित है पर इसकी घनिष्टता मनोविज्ञान, धर्मशास्त्र, दर्शनशास्त्र, समाजशास्त्र तथा राजनीतिशास्त्र से है।

आचारशास्त्र और मनोविज्ञान (Psychology)

आचारशास्त्र का सम्बन्ध आचरण की उचितता और अनुचितता से है। यह मानव आचरण के आदर्श की मीमासा करता है। कौन-से आचारण को अच्छा या बुरा कहा जा सकता है, यही समस्या है आचारशास्त्र की। आचरण का स्वरूप जान लेने पर ही उसके आदर्श की मीमासा हम कर सकते हैं। मानव आचरण की क्या विशेषताएं हैं, यह जान कर ही उसका आदर्श निर्धारित किया जा सकता है। मानव आचरण का विश्लेषण, उसका स्वरूप और स्रोत आदि का अध्ययन मनोविज्ञान मे होता है। अत आचारशास्त्र और मनोविज्ञान में घनिष्ट सम्बन्ध है। वास्तव में आचारशास्त्र का मनोवैज्ञानिक आधार आवश्यक है। मानव आचरण का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण जाने विना उसके आदर्शों की मीमासा हम नही कर सकते। सीजवीक ने कहा है कि 'प्राय सभी नैतिक विचारो में मनोवैज्ञानिक तथ्य वर्तमान हैं'। किसी भी नैतिक मत का पालन क्यों न किया जाय, मानव जीवन के लक्ष्य का वास्तविक स्वरूप विना मनुष्य के मानसिक स्वरूप जाने सम्भव नही है। पर आचारशास्त्र और मनोविज्ञान मे ऐसी घनिष्टता रहने पर भी दोनों के क्षेत्र और दृष्टिकोण मे अन्तर है।

मानसिक क्रियाओं के तीन पहलू हैं—ज्ञानात्मक, भावात्मक और क्रियात्मक मनोविज्ञान सभी का अध्ययन करता है। आचारशास्त्र का सम्बन्ध केवल ऐच्छिक क्रियाओं से ही है। अत इस दृष्टि से मनोविज्ञान का क्षेत्र आचारशास्त्र के क्षेत्र से अधिक व्यापक है।

मनोविज्ञान मे ऐच्छिक क्रियाओं का विश्लेषण तथा उसके स्वरूप का अध्ययन होता है। आचारशास्त्र का लक्ष्य है—आचरण के आदर्श का ज्ञान। अत. जहाँ कि मनोविज्ञान एक यथार्थ विज्ञान है, वहाँ आचारशास्त्र आदर्श निर्देशक विज्ञान है। मनोविज्ञान का सम्बन्ध 'है' से है, आचारशास्त्र का 'चाहिए' से।

मनोविज्ञान का दृष्टिकोण वस्तुनिष्ठ और आचारशास्त्र का आत्मनिष्ठ माना जाता है। मनोविज्ञान मानसिक तथ्यो को वस्तुओ की भाँति अध्ययन करता है, आचारशास्त्र व्यक्तियों की आन्तरिक मानसिक अवस्थाओ और व्यक्तिगत अनुभूतियों से सम्बधित रहता है।

आचारशास्त्र में मनोवैज्ञानिक पद्धति से काम लिया जाता है पर उसकी पूर्ति दार्शनिक पद्धति से होती है। इसमें मनुष्य 'क्या करता है' यह जानकर उसे 'क्या करना चाहिए' की समीक्षा होती है।

आचारशास्त्र और समाजशास्त्र (Sociology)

समाजशास्त्र समाज का विज्ञान है। इसमें समाज के स्वरूप, नियम तथा विकास का अध्ययन होता है। भिन्न सामाजिक वर्गो का निर्माण, भिन्न संस्थाएं, रीति-रिवाज आदि का प्रारम्भ तथा विकास कैसे हुआ, यही जानना इसका लक्ष्य है। आदि काल से वर्तमान रूप में मनुष्य का कैसे विकास या परिवर्तन हुआ, समाज-शास्त्र मे इसी का अध्ययन किया जाता है। आचारशास्त्र का सम्बन्ध मानव आचरण से है। मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। व्यक्ति समाज का अग है। मारटीन्यू ने कहा है कि 'समाजविहीन मनुष्य नाम का ही मनुष्य है'। अत. मानव आचरण का अध्ययन विना उसके सामाजिक जीवन के अध्ययन के सम्भव नहीं है। व्यक्ति का सुख समाज के सुख से ही सम्बन्धित है। वास्तव में बिना समाज के मनुष्य की कल्पना भी नही की जा सकती। जिसे मनुष्य का

सद्गुण या दुर्गुण कहा जाता है वह तो एक मनुष्य का दूसरे के साथ कैसा व्यवहार होता है, इसी पर निर्भर है। अत आचारशास्त्र और समाजशास्त्र में घनिष्ट सम्बन्ध है।

मानव आचरण का क्या आदर्श होना चाहिए, यह व्यक्ति और समाज के वास्तविक सम्बन्ध को जानकर ही विचारा जा सकता है। समाज और व्यक्ति में अन्योनाश्रय सम्बन्ध है। अत व्यक्ति के सुख का अर्थ है, सामाजिक सुख और सामाजिक सुख का अर्थ है, व्यक्ति का सुख। व्यक्ति और समाज अभिन्न हैं। मानव का चरम लक्ष्य या चरम शुभ सामाजिक शुभ है।

आचारशास्त्र वास्तव में समाजशास्त्र पर आश्रित है। सामाजिक संस्थाओ का इतिहास, रीति-रिवाजो का विकास तथा नैतिक नियमो के विकास का इतिहास समाजशास्त्र मे मिलता है। इन्ही के आधार पर हम मानव आचरण के आदर्श का विचार करते हैं। यथार्थ का ज्ञान समाजशास्त्र से होता है और आदर्श का आचारशास्त्र से। इसलिए समाजशास्त्र आचारशास्त्र का आधार है। पर वास्तव मे समाजशास्त्र स्वयं आचारशास्त्र पर आश्रित है। समाज के नियमो और उसके इतिहास को जानकर ही उसकी प्रगति या पतन का ज्ञान नही होता। समाज के उत्थान या पतन का मूल्याकन किसी मापदड से ही सम्भव है। यह मापदंड आचारशास्त्र से ही मिलता है। अत समाजशास्त्र मे सामाजिक विकास या परिवर्तनो का मूल्याकन आचारशास्त्र के मापदण्डों के द्वारा होता है।

आचारशास्त्र और समाजशास्त्र की घनिष्टता के कारण कुछ विचारकों ने (स्पेंसर, स्टीफन, आदि) आचारशास्त्र को समाजशास्त्र की एक शाखा माना है। समाजशास्त्र में नैतिक आदर्शों के विकास का अध्ययन होता है, इसीलिए वे ऐसा विचारते हैं। पर आचारशास्त्र मे मुख्यत नैतिक आदर्शों के विकास का अध्ययन नही होता वल्कि उसके स्वरूप की मीमासा होती है। इसके अतिरिक्त दोनो विज्ञानो मे और भी अन्तर हैं।

आचारशास्त्र मानव जीवन के आदर्श से सम्बन्धित है, पर समाजशास्त्र मानव समाज के इतिहास तथा विकास से।

आचारशास्त्र आदर्श निर्देशक विज्ञान है, पर समाजशास्त्र यथार्थ विज्ञान है। किसी समाज या सामाजिक संस्था का विकास कैसे हुआ, क्या उसके नियम है, ये प्रश्न समाजशास्त्र के हैं। व्यक्ति या समाज का क्या आदर्श होना चाहिए, ये प्रश्न आचारशास्त्र के हैं। अतः समाजशास्त्र वर्णनात्मक है, आचारशास्त्र आदर्श निर्देशक।

आचारशास्त्र व्यावहारिक विज्ञान है। इसका सम्बन्ध मनुष्य के दैनिक व्यवहारों से है। यह, आचरण कैसा होना चाहिए, इसका ज्ञान देता है। समाजशास्त्र सैद्धान्तिक है। इसमें समाज का सैद्धान्तिक अध्ययन होता है।

समाजशास्त्र में मनुष्य के सामूहिक रूप का अध्ययन होता है, आचार-शास्त्र में सामूहिक तथा व्यक्तिगत, दोनों रूपों में।

समाजशास्त्र में मानसिक तथ्यों का वस्तुनिष्ठ अध्ययन किया जाता है, जैसे रीति-रिवाजों का या संस्थाओं का। आचार-शास्त्र में आत्मनिष्ठ मानसिक-प्रक्रियाओं का अध्ययन होता है, जैसे, इच्छा, प्रयोजन आदि का।

आचारशास्त्र और राजनीतिशास्त्र (Politics)

राजनीतिशास्त्र वह विज्ञान है जिसमें राज्य और शासन-सम्बन्धी समस्याओं का अध्ययन होता है। किस प्रकार का शासन हो कि सम्पूर्ण मानव जाति सुख और शान्ति से रहे, यही इसकी समस्या है। कैसा विधान या नियम हो जिससे मानववर्ग में शान्ति रहे और उसका उत्थान हो, यही प्रश्न है राजनीतिशास्त्र का, इसलिए, यह आदर्श निर्देशक है।

आचारशास्त्र का सम्बन्ध भी मानव आचरण के आदर्श से है। इसलिए दोनों विज्ञान आदर्श निर्देशक हैं। दोनों विज्ञानों का सम्बन्ध मनुष्य के दैनिक जीवन से है, इसलिए दोनों व्यावहारिक हैं।

राजनीतिशास्त्र का आधार आचारशास्त्र ही है। किसी भी विधान को न्याय-संगत होने के लिए नैतिक होना आवश्यक है। राज्य के विधान नैतिक सिद्धातों के अनुकूल यदि नहीं रहते तो उनका फल खराब होता है। कोई राज्य अनैतिक नहीं हो सकता। नीति और राज्य-विधान में, आचारशास्त्र और राजनीतिशास्त्र

में घनिष्ट सम्बन्ध है। दोनों शास्त्रों में ऐसी घनिष्टता के कारण कुछ दार्शनिकों ने राजनीतिशास्त्र को आचारशास्त्र का एक अंग माना है (प्लेटो और अरस्तू)। उन्होंने नैतिक नियमों से ही राज्यशासन के विधान का प्रतिपादन किया है। पर कुछ विचारकों ने राजनीतिशास्त्र को आचारशास्त्र से बिल्कुल भिन्न माना है (माइं-कामेली)। उनके अनुसार राज्य नैतिक नियमों से बंधा नहीं है। शासन के विधान अवसर के अनुसार बनते हैं। यदि किसी राज्य का लक्ष्य उच्च है तो उसे किसी भी साधन द्वारा प्राप्त करना उचित होता है। झूठ, धोखा, इत्यादि जो नैतिक दृष्टि से असंगत हैं, अवसर के अनुसार राजनैतिक दृष्टि से संगत भी हो सकते हैं। कुछ विचारकों ने आचारशास्त्र को राजनीतिशास्त्र का अंग माना है। वे राज्य के नियम ही को नैतिक नियम बतलाते हैं (हौब्स और बेन)। उपरोक्त विचार एकांगी हैं। किसी शासन क्रम से यदि नैतिकता को हटा दें तो उसका प्रभाव मनुष्य पर नहीं पड़ता। जो राज्य नैतिक दृष्टि से गिरा हुआ रहता है उसकी सत्ता अधिक दिनों तक नहीं टिकी रहती। एक न एक दिन उसका लोप हो ही जाता है। नैतिक शक्ति ही सबसे बड़ी शक्ति है। इसलिए राजनीति का आधार आचारशास्त्र ही है। पर इसका यह भी अर्थ नहीं कि दोनों एक हैं। उनमें भेद भी है।

राजनीतिशास्त्र का सम्बन्ध अधिकतर कर्मों के बाह्य रूप से है। मनुष्य के कर्म ऐसे हों कि उनका फल सुखकर हो। आचारशास्त्र का सम्बन्ध अधिकतर मनुष्य की इच्छा, अभिलाषा, आकांक्षा, तथा लक्ष्य से है। मनुष्य की अभिलाषा तथा आकांक्षा उच्च होनी चाहिए। राजनैतिक विधान के अनुसार किसी को कष्ट देना एक अपराध है पर आचारशास्त्र के अनुसार किसी को कष्ट देने का विचार ही एक अपराध है। राजनीतिशास्त्र मनुष्य के आन्तरिक पहलू से भी सम्बन्धित है, पर बाह्य रूप ही प्रधान विचारे जाते हैं।

राजनीतिशास्त्र का उद्देश्य है अधिकांश मनुष्य को सुख देना। इसका सम्बन्ध समुदाय से है, आचारशास्त्र का व्यक्ति से। व्यक्ति का सुख ही इसका लक्ष्य है। इसका यह अर्थ नहीं है कि व्यक्ति और समुदाय विरोधक हैं। वास्तव में दोनों पूरक हैं। पर राजनीतिशास्त्र में सामुदायिक पहलू का और आचारशास्त्र

में वैयक्तिक पहलू का अधिक विचार किया जाता है। राजनीति समुदाय के सम्मिलित व्यवहार को देखती हैं, आचारशास्त्र मनुष्य के व्यक्तिगत क्रियाओं को।

दोनों के दृष्टिकोणों मे भी भेद हैं। किसी समुदाय के लिए कौन सा लाभदायक कार्य्य होगा, यह बताना राजनीतिशास्त्र का लक्ष्य है। आचारशास्त्र में वाह्य लाभ का प्रश्न नही उठता। यह आवश्यक नहीं है कि जो कार्य लाभ-दायक हो वह नैतिक दृष्टि से भी उचित ही हो।

राज्य के नियम दण्ड और पुरस्कार के डर तथा प्रलोभन के द्वारा लागू होते हैं। आचारशास्त्र के नियम का पालन वाह्य डर तथा प्रलोभनों से नहीं होता है। यदि केवल दण्ड के डर से ही कोई सदा सत्य बोले तो नैतिक दृष्टि से उसका कोई महत्व नही है।

आचारशास्त्र का राजनीतिशास्त्र से अधिक व्यापक क्षेत्र है। राजनैतिक नियमो को भी नैतिक दृष्टि से परीक्षा होती है। वही राजनैतिक नियम अच्छे कहे जाते हैं जो नैतिक दृष्टि से अच्छे हों।

आचारशास्त्र और धर्मशास्त्र (Theology)

धर्म-शास्त्र धर्म के सिद्धान्तो की मीमासा है। धर्म का अर्थ है मानवशक्ति से उच्चतर किसी शक्ति में विश्वास। यह शक्ति इन्द्रियगोचर नही, पर मानव संवेगो से उदासीन भी नहीं है। धर्म का सबसे विकसित रूप एक सर्व-शक्तिशाली, अतर्यामी, सर्वज्ञानी व्यक्ति रूप ईश्वर का विचार करता है। धर्मशास्त्र ईश्वर प्राप्ति ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य विचारता है। अत यह उस लक्ष्य की प्राप्ति के नियम बतलाता है। इसलिए दोनो शास्त्रो में बड़ा घनिष्ट सम्पर्क है। बहुत से दार्शनिको ने आचार-शास्त्र को धर्मशास्त्र के अधीन माना है। उनके अनुसार धर्म ही नीति (morality) का मूल है, (Descartes, Locke, Duns Scotus इत्यादि)। धर्म के नियम ही नैतिक नियम है। हमारे वैसे ही आचार नैतिक कहे जा सकते हैं जो धर्म के नियमो के अनुसार हो। ईश्वर की इच्छा पर ही उचित और अनुचित निर्भर है। जिसे वह आदिष्ट करता है वही उचित और जिसका निषेध, वह अनुचित होता है। ईश्वर अपनी इच्छाओ का पालन दण्ड के भय और पुरस्कार के प्रलोभन से कराता है।

यह मत मान्य नही प्रतीत होता। धार्मिक विचार मनुष्य के जीवन के पीछले भाग में उदय होते हैं, पर बाल्यकाल ही से सत्य और असत्य का ज्ञान आरम्भ हो जाता है। यदि धार्मिक विचार ही नैतिक विचारो का साधन होता तो ऐसी बात नही होती।

यदि भय और प्रलोभन से ही मनुष्य कोई कर्म करता है तो उसमे नैतिकता का प्रश्न नहीं उठता। हमारे आचरण केवल दण्ड के डर और पुरस्कार के प्रलोभनो से यदि संचालित हो तो उन्हें अच्छा या खराब कैसे कहा जा सकता है? उन कर्मों से तो हमारे वास्तविक स्वरूप का पता नही चलता।

धर्म या सत्य ईश्वर की आज्ञाओ पर निर्भर नही हैं, अपितु उसकी प्रकृति के द्योतक हैं। ईश्वर अपनी इच्छानुसार किसी कार्य को सत्य या असत्य नहीं बना सकता। कोई कर्म इसलिए सत्य या असत्य नही होता कि वैसी ईश्वर की इच्छा होती है, अपितु वह किसी कर्म का आदेश देता है, इसलिए कि वह सत्य है और निषेध करता है इसलिए कि वह असत्य या अधर्म है।

यदि धर्मशास्त्र को आचार-शास्त्र का सूत्र माना जाय तो बिना ईश्वर के विश्वास के नीति का भी लोप हो जाता है। पर वास्तव मे ऐसी बात नही है। बौद्ध मत, जैन मत आदि इसके उदाहरण हैं।

इसके विपरीत कुछ दार्शनिको का मत है कि धर्मशास्त्र का आधार आचार-शास्त्र है, क्योंकि धर्म का आधार है नीति (morality)। हममे यह विश्वास है कि अच्छे कर्मों का फल अच्छा होता है और बुरे कर्मों का बुरा। पर वास्तविक जगत् में ऐसा नहीं पाया जाता। बुरे ही अधिकतर सुख भोगते हैं और सदाचारी कष्टों का शिकार बनता है। इसलिए इस भेद के कारण हममें यह विश्वास उत्पन्न होता है कि अवश्य ही कोई शक्तिशाली ईश्वर का अस्तित्व है जो इस विषमताओ को दूर करता है। वह सदाचारियो को पुरस्कार देता है और दुराचारियो को दण्ड। यही विश्वास धर्म का जड है, (Kant, Martineau इत्यादि)।

दूसरे, मनुष्य नैतिक नियमों का पालन करना अपना कर्त्तव्य समझता है किसी सत्ता के प्रति ही कोई कर्त्तव्य होता है। यह सत्ता कौन है? इसीके फलस्वरूप ईश्वर के अस्तित्व में हमारा विश्वास होने लगता है।

तीसरे, आचार-शास्त्र में चरित्र का आदर्श निर्धारित किया जाता है। यह आदर्श केवल सैद्धान्तिक नहीं माना जाता। इसलिए एक ऐसी शक्ति को हम मानते हैं जो उन आदर्शों से सम्पूर्ण है।

इन्हीं कारणों से कहा गया है कि नैतिक विचारो से ही ईश्वर के अस्तित्व मे विश्वास उत्पन्न होता है। पर इस विचार मे भी अत्योक्ति है। किसी-न-किसी रूप मे धर्म हर देश और काल में रहता है, चाहे वहाँ नैतिक विचार हो या नहीं हों। इसके अलावा, धार्मिक विचार मनुष्य की अपूर्णता के भाव से उदय होते हैं। मनुष्य अपने को अपूर्ण पाकर एक ऐसी सत्ता मे विश्वास करने लगता है जो सर्व-शक्तिमान है। नैतिक विचारों का उदय मानव आत्मा की पूर्णता की भावना से होता है। दोनों के दो सूत्र हैं। एक के विना दूसरे का विचार किया जा सकता है। कोई विना धार्मिक विचारो के भी नैतिक नियमो का पालन कर सकता है और विना नैतिक विचारो के धार्मिक नियमो पर चल सकता है। पर दोनो शास्त्रो का सम्वन्ध घनिष्ट है। एक का प्रभाव दूसरे पर बहुत अधिक है। वास्तव मे जो नैतिक दृष्टि से अच्छा है वह धार्मिक भी है और जो धार्मिक दृष्टि से अच्छा है वह नैतिक भी है। आचार-नियम धार्मिक विचारों । इस दृष्टि से धर्मशास्त्र और आचार-शास्त्र एक-दूसरे से सम्बन्धित है।

आचार-शास्त्र (Ethics) और दर्शनशास्त्र (Philosophy)

ससार तथा उसके तत्त्व-सम्वन्धी प्रश्नो की विवेचना दर्शनशास्त्र मे की जाती है। ससार क्या है, मनुष्य का उसमे क्या स्थान है, आत्मा तथा परमात्मा क्या है, इनकी प्रकृति क्या है, इत्यादि प्रश्न इस शास्त्र के हैं। दर्शन का सम्वन्ध पदार्थों की वास्तविकता से है।

आचार-शास्त्र दर्शन से सम्वन्धित है। उसकी समस्याओं का समाधान दर्शन की विवेचनाओं पर ही अधिकतर निर्भर है। जिस प्रकार के दार्शनिक

विचार होते हैं हमारे नैतिक विचार भी वैसे ही होते हैं। जड़वाद (Materialism) पर ही सुखवाद (Hedonism) आधारित है। यदि जड जगत् ही वास्तविक है तो मनुष्य का ध्येय अधिक-से-अधिक सुख प्राप्त करना ही होना चाहिए। इस तरह सुखवाद की उत्पत्ति होती है। वैसे ही, चेतनवाद (Spiritualism) पर पूर्णतावाद (Perfectionism) की नीव है। बिना किसी दार्शनिक आधार के आचार-शास्त्र एक कल्पना है।

इच्छाशक्ति की स्वतंत्रता, मनुष्य की नैतिक प्रकृति इत्यादि प्रश्नो की विवेचना दर्शन-शास्त्र मे होती है। आचार-शास्त्र उन्ही पर अवलम्बित है। आचार-शास्त्र को आचार दर्शन भी कहा गया है।

इसलिए दर्शन आचार-शास्त्र का आधार है। पर दोनो मे अन्तर भी है।

दर्शन का क्षेत्र आचार-शास्त्र के क्षेत्र से विस्तृत है। आचार-सम्बन्धी समस्याएँ दर्शन के एक अग हैं। दर्शन-शास्त्र मे अन्य समस्याओ पर भी विचार किया जाता है।

दर्शन-शास्त्र सैद्धान्तिक हैं। उसमे किसी भी विषय का चिंतन ज्ञान की दृष्टि से की जाती है। आचार-शास्त्र व्यावहारिक तथा आदर्श निर्देशक है। इसका सम्बन्ध मनुष्य के दैनिक जीवन और व्यवहार से है।

Exercises

1. Discuss the relation of Ethics to Religion. Is morality the source of Religion or Religion the source of morality ?

2. Explain the relation between Ethics and Politics. Is Ethics a branch of Politics ?

3. What is the relation between Ethics and Psychology ? Discuss.

4. Is Ethics a branch of Philosophy ? Point out its relation to Metaphysics

5. Can Ethics be regarded as a branch of Sociology ? 'Ethics is the Science of man as a social being'. Explain this statement.

6. Explain the relation between Ethics and Sociology.

तीसरा परिच्छेद

आचारशास्त्र की पद्धतियाँ (Methods)

पद्धति का अर्थ है रीति या तरीका। अत आचारशास्त्र की पद्धति का अर्थ होगा वह रीति जिसके द्वारा आचार-नियम स्थापित किए जाते हैं। मानव-आदर्श की खोज में जिन विधियों का प्रयोग किया जाता है वे ही उसकी पद्धतियो हैं।

आचारशास्त्र का लक्ष्य है मानव आचरण का आदर्श निश्चित करना। मानव आचरण कैसा होना चाहिए, यही प्रश्न है। इसका उत्तर हमें दो रीतियों से मिल सकता है। हम परीक्षा करें कि वास्तव में मनुष्य की आकांक्षा क्या रहती है और इसीसे निश्चय करें कि मनुष्य के आचरण का लक्ष्य क्या हो। एक यह रीति है। इसे मनोवैज्ञानिक (Psychological) या आगमनात्मक (Inductive) रीति कहा जाता है। दूसरी रीति यह है कि संसार-सम्बन्धी किसी दृष्टिकोण के आधार पर मानव-आदर्श का निरूपण किया जाय। इसे अमनोवैज्ञानिक (Unpsychological) या निगमनात्मक (Deductive) रीति कहा जाता है। पहले में यथार्थ से आदर्श निश्चित किया जाता है, दूसरे में किसी आदर्श ही पर आचार-नियम आधारित रहता है।

इसलिए आचारशास्त्र की मुख्य पद्धतियो दो हैं।

(क) मनोवैज्ञानिक (Psycholrgical)

(ख) अमनोवैज्ञानिक (Unpsychological)

(क) मनोवैज्ञानिक पद्धति (**Psychological Method**)-जिस प्रकार मनोविज्ञान में मनुष्य की वास्तविक मानसिक क्रियाओं की परीक्षा करके उनके नियम अध्ययन किए जाते हैं, उसी प्रकार इस पद्धति के द्वारा मनुष्य के आचरण का लक्ष्य या आदर्श, उसके वास्तविक आचरणों की परीक्षा करके, निश्चित की जाती है। मनुष्य वास्तव में किस लक्ष्य की पूर्ति के लिए कोई कर्म करता है,

वह क्या चाहता है, इसी की परीक्षा करके हम बतला सकते हैं कि उसके आदर्श क्या हैं। इस रीति द्वारा आचरण के विश्लेषण के आधार पर ही आदर्श स्थापित किया जाता है, इसलिए इसे विश्लेषणात्मक रीति (Analytic Method) भी कहा जाता है। जिस प्रकार आगमन (Induction) मे परीक्षा पर ही कोई निष्कर्ष आधारित रहता है, वैसे ही इसमें भी परीक्षा ही आधार है, इसलिए इसे आगमनात्मक या परीक्षात्मक रीति (Inductive or Empirical Method) भी कहा जाता है। इस पद्धति के आधार पर आचार-सम्बन्धी भिन्न मत हैं।

सुखवादियों (Hedonists) ने मनोवैज्ञानिक रीति ही का पालन किया है। उन्होंने परीक्षा करके यही पाया कि प्रत्येक मनुष्य का प्रधान लक्ष्य सुख की प्राप्ति है। वह कोई भी काम इसी ध्येय से करता है। इसलिए सुख ही को उन्होंने जीवन का आदर्श बताया है। यही आचार-नियम है। यदि किसी आचरण से मनुष्य को सुख मिलता है तो वह धार्मिक है और यदि उससे उसे दु ख होता है तो वह अधार्मिक है।

इसी रीति के द्वारा अन्त अनुभूतिवादियों (Intuitionists) ने अतरात्मा (Intuition) को नैतिक और अनैतिक आचरण का निर्णायक बतलाया है। उनके अनुसार प्रत्येक मनुष्य में एक ऐसी विवेक बुद्धि है जिससे वह तत्काल कर्मों में धर्म और अधर्म को पहचान जाता है। इसलिए इसे ही आचरण का निर्णायक मानना चाहिए।

काट ने भी इसी नीति का पालन करके बतलाया है कि मनुष्य की प्रज्ञा (Reason) उसके कर्मों के नैतिक मूल्य का परिचायक है। कोई कर्म धार्मिक है या नहीं, यह प्रज्ञा ही बता सकती है। काट के मत को कठोरवाद (Rigorism) कहा जाता है। साराश यह हुआ कि सुखवाद (Hedonism), अन्त-अनुभूतिवाद (Intuitionism) और काट के कठोरवाद (Rigorism) में मनोवैज्ञानिक पद्धति का पालन किया गया है।

(ख) अमनोवैज्ञानिक पद्धति (Unpsychological Method)

इस पद्धति में संसार के विषय में कोई दृष्टिकोण विचार कर उसके आधार पर ही मानव जीवन का आदर्श निश्चित किया जाता है। मान लें कि हमारा विश्वास मनुष्य की अपूर्णता और ईश्वर की पूर्णता में हो तो इससे सहज निष्कर्ष निकलता है कि मनुष्य का लक्ष्य 'पूर्ण होना' ही होना चाहिए। इसी प्रकार किसी तत्त्व-सम्बन्धी विचार से निष्कर्ष स्वरूप मानव आचरण का आदर्श स्थापित करना ही इस रीति की विशेषता है। अतः इसे निगमन-रीति (Deductive Metho) भी कहा जाता है। निगमन-रीति में आधार मान कर उसीसे निष्कर्ष निकाला जाता है। इस रीति में अनुभव के आधार पर आदर्श का ज्ञान नहीं होता, अपितु बुद्धि; के द्वारा इसलिए, इसे अनुभवातीत रीति (Transcendental Method) भी कहा जाता है। इस रीति को प्रयोजनमूलक (Teleological) भी कहा जाता है क्योंकि मनुष्य का क्या प्रयोजन है, इसी विचार पर मानव आदर्श निर्भर है। इस रीति का वर्तमान विचारकों के अतिरिक्त प्राचीन दार्शनिकों ने भी प्रयोग किया है। स्पीनोजा तथा लाईब्नीज की पद्धतिया अमनोवैज्ञानिक ही हैं। उन्होंने संसार की वास्तविकता पर विचार करके उसीसे मानव आचरण के नियमों को स्थिर किया है। अमनोवैज्ञानिक पद्धति के दो भेद हैं :—

(अ) प्राकृतिक (**Naturalistic**),

(ब) दार्शनिक (**Philosophical**) या तात्त्विक (**Metaphysical**)

(अ) प्राकृतिक रीति (Naturalistic Method)

संसार को प्राकृतिक शक्तियों का सामंजस्य विचारना ही प्रकृतिवाद है। इसके अनुसार संसार ईश्वर की सृष्टि या ब्रह्म का माया रूप नहीं है, अपितु प्राकृतिक जड पदार्थों के संयोग से ही संसार की उत्पत्ति होती है। इस विचार से यह स्पष्ट है कि मृत्यु के बाद मनुष्य का क्या होता है, इसके विषय में कुछ नहीं कहा जा सकता। इसलिए ऐसे दार्शनिक सुख ही को मनुष्य का आदर्श बतलाते हैं,

क्योंकि मरने के बाद क्या होगा यह निश्चित नहीं है। उनके अनुसार शरीर का, जड़ होने के कारण, विनाश हो जाता है और आत्मा भी जड़ ही का एक रूप है, इसलिए मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए 'सुख' और 'आनन्द' की प्राप्ति। स्टीफेन की ऐतिहासिक पद्धति (Historical Method) और स्पेन्सर की जैवि पद्धति (Biological Method) भी प्राकृतिक रीति ही है।

स्पेन्सर ने नैतिकता का विकास असभ्य जातियों के तथा पशुओं की क्रियाओं से बतलाया है। पशुओं की क्रियाएं सुख-प्राप्ति तथा दुःख-निवृत्ति की प्रवृत्ति से होती हैं। ऐसी प्रवृत्ति जीव-रक्षा के हित ही होती है। नैतिकता सामाजिक विकास का ही परिणाम है। अतः आचारशास्त्र का लक्ष्य है नैतिक विचारों की उत्पत्ति और विकास का अध्ययन। आचारशास्त्र समाजशास्त्र का ही एक अंग है। यह विचार स्टीफन् का भी है।

(ब) तात्त्विक रीति (Metaphysical Method)

बहुत से विचारकों ने अपने तत्त्व-सम्बन्धी विचारों के आधार पर ही मानव-आदर्श का प्रतिपादन किया है। प्लेटो, अरीसटाटल, ग्रीन और हेगेल के आचरण-सम्बन्धी विचार ऐसे ही हैं। हेगेल का मत है कि तत्त्व (Reality) केवल एक है और अन्य आत्माएं उसी के प्रतिरूप हैं। मानव-आत्मा अपूर्ण है। इसलिए, पूर्णता (Perfection) की प्राप्ति ही मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिये।

वास्तविक रीति

अब प्रश्न है कि आचारशास्त्र की वास्तविक रीति क्या है, अर्थात् जीवन का सच्चा आदर्श बताने में कौन-सी पद्धति उपयुक्त है ?

आचारशास्त्र में मानव-जीवन के आदर्श की मीमांसा होती है, जिससे मनुष्य के आचरण का नैतिक मूल्यांकन किया जा सके। इसलिए यह शास्त्र आदर्श निर्देशक है, यथार्थ विज्ञान नहीं। किसी आदर्श के निरूपण में हमारा दृष्टिकोण यह होता है कि उस वस्तु को कैसा होना चाहिए। यह सम्भव है कि उस पदार्थ का वास्तविक स्वरूप कुछ हो और होना चाहिए उसे कुछ और ही।

जैसा वह पदार्थ हो वैसा ही उसका आदर्श वतलाया जाय तो उस आदर्श को आदर्श नहीं कहा जा सकता। आदर्श का अर्थ ही है जिसकी प्राप्ति नहीं हुई हो पर उसे ही सिद्ध करना हमारा लक्ष्य हो। उसी प्रकार आचरण के आदर्श के विषय में भी कहा जा सकता है। जिस लक्ष्य से हम ऐच्छिक क्रिया करते हैं वही हमारा लक्ष्य होना चाहिए, ऐसा कहना उचित नही है। यही भूल केवल मनोवैज्ञानिक पद्धति के पालन करने से होती है। हम मनुष्य के आचरण के वास्तविक उद्देश्यो से उसी उद्देश्य को आदर्श मान लेते हैं। यदि हम कोई कर्म अपने स्वार्थ-सिद्धि के लिए करते हैं तो इस आधार पर यह कहना कि स्वार्थपरता ही हमारा लक्ष्य होना चाहिये कदापि न्यायसंगत नहीं प्रतीत होता है। इसलिए जीवन-आदर्श निश्चित करने के लिए केवल मनोवैज्ञानिक पद्धति ही सहायक नहीं हो सकती है।

पर इसका यह अर्थ नहीं है कि केवल अमनोवैज्ञानिक पद्धति से ही हमारा काम चल जाता है। जीवन का आदर्श ऐसा होना चाहिए जो प्राप्त किया जा सके। यदि आदर्श अप्राप्य हो तो उस आदर्श से लाभ ही क्या? यह जानने के लिए कि कोई आदर्श हम प्राप्त कर सकते हैं या नहीं मनुष्य की वास्तविक प्रकृति का ज्ञान होना आवश्यक है। हमारे कर्म वास्तव में कैसे होते हैं, यह जानकर ही हम कह सकते हैं कि किसी आदर्श को हम प्राप्त कर सकते हैं या नही। इसलिए विना मनुष्य के आचरण की परीक्षा किए ही किसी दार्शनिक मत को मान कर कोई आदर्श स्थिर कर देने से ही उसे जीवन का वास्तविक आदर्श नहीं माना जा सकता है।

जीवन का वास्तविक आदर्श वही है जो प्राप्त किया जा सके। यह मनुष्य के आचरण की परीक्षा से ही जाना जा सकता है। इसके लिए मनोवैज्ञानिक पद्धति का प्रयोग आवश्यक है। पर केवल: यह परीक्षा करके ही कि मनुष्य के आचरण किस उद्देश्य से होते हैं उसे ही जीवन का वास्तविक आदर्श भी नहीं माना जा सकता। हमें क्या करना चाहिए, इस पर विचार करने की आवश्यकता है। यहां अमनोवैज्ञानिक पद्धति के प्रयोग की आवश्यकता है। इसलिए आचार-

शास्त्र में दोनो पद्धतिया आवश्यक हैं। दोनो के प्रयोग से ही जीवन का सच्चा आदर्श निश्चित किया जा सकता है।

साराश यह हुआ कि आचारशास्त्र मे मनोवैज्ञानिक पद्धति और दार्शनिक पद्धति, परीक्षा और विचार, दोनों की आवश्यकता है। केवल एक से ही इस शास्त्र की समस्या का समाधान नहीं हो सकता है।*

Exercises

1. Is it true to say. that the method of Ethics is philosophical rather than scientific?

2. What is meant by the method of Ethics? What, in your opinion, should be the true method of Ethics?

3. Distinguish between Psychological and Unpsychological Methods Which of them is the true method of Ethics?

4. Classify the methods of Ethics and explain which of them is suited for ethical investigation.

---

* स्टूअर्ट, सीजवीक तथा मार्टिन्यू ने भी आचारशास्त्र की पद्धतियों का वर्गीकरण किया है। पर उन विचारको ने आचार-पद्धति और आचार-सम्बन्धी मत के भेद पर ध्यान नहीं दिया है। कोई मत किसी पद्धति के आधार पर ही स्थापित होता है। पद्धति आधार है और मत उसका फल। इसलिये मत और पद्धति में अन्तर है। आचार-पद्धति हम उस विधि को कहते हैं जिसे पालन कर आचार-सम्बन्धी मत निश्चित किये जाते हैं। मतो का वर्गीकरण पद्धतियों के वर्गीकरण से भिन्न होना चाहिए क्योंकि एक ही पद्धति का पालन करने से भी भिन्न विचार होना सम्भव है। उपरोक्त विचारकों का वर्गीकरण आचार-सम्बन्धी मतों का वर्गीकरण है, आचार-पद्धति का नही।

चौथा परिच्छेद

आचारशास्त्र का मनोवैज्ञानिक आधार

Psychological Basis of Ethics.

नैतिक और नीति-शून्य कर्म

(Moral and non-moral actions)

आचारशास्त्र (Ethics) का लक्ष्य है मानव-आचरण का वास्तविक आदर्श ढूंढना जिससे तुलना करके कर्मों के औचित्य या अनौचित्य का निर्णय किया जा सके। पर हर तरह की क्रियाओं का नैतिक निर्णय सम्भव नहीं है। क्रियाएं अनेक प्रकार की होती हैं और सभी को उचित या अनुचित, पाप या पुण्य, श्रेय या अश्रेय, धर्म या अधर्म नहीं कहा जा सकता। कुछ क्रियाओं का इन शब्दों में मूल्याकन हो सकता है पर कुछ का नही। यदि कोई कुत्ता किसी मनुष्य को अनायास ही काट ले और उससे उसे कोई रोग हो जाय तो क्या हम कुत्ते को अधर्मी या पापी या उसकी क्रिया को अनुचित कहेंगे ? इसी तरह और क्रियाएं हैं जिनका नैतिक-निर्णय नहीं होता। वैसी क्रियाएं जिनका नैतिक निर्णय हो सके अर्थात् जिन्हें उचित या अनुचित, पाप या पुण्य आदि कहा जा सके, उन्हे नैतिक कर्म (Moral action) कहा जाता है। अब प्रश्न है कि कैसी क्रियाओं का नैतिक मूल्याकन या निर्णय होता है ?

नैतिक निर्णय या मूल्याकन वैसी क्रियाओं का होता है जिनमे नैतिक गुण अर्थात् पाप-पुण्य, औचित्य-अनौचित्य आदि का प्रश्न हो। सभी चीजों में सभी प्रकार के गुण नही होते। यदि कोई पूछे कि काठ में मानवता है या दानवता तो इसका कोई उत्तर नहीं होगा इसलिए कि ये गुण काठ में नही है। इसी तरह नैतिक गुण भी सभी क्रियाओं मे नहीं होते। वास्तव

में पाप-पुण्य, अच्छा-खराब, धर्म-अधर्म, औचित्य-अनौचित्य सापेक्ष शब्द हैं। ये तो वहीं लागू होंगे जहाँ विकल्प (alternatives) हो। जिस तरह सुख-दुःख सापेक्ष हैं और सुख या दुःख का तभी कोई अर्थ है जब एक की दूसरे से तुलना हो, उसी प्रकार उचित-अनुचित का तभी अर्थ होगा जब हम कोई काम करने लगें और जो करने का विचार करें उसके अतिरिक्त हमारे सामने और भी रास्ते हों। तभी तो तुलना करके यह कहा जा सकता है कि यह कर्म उचित है या अनुचित है। अचेतन रूप से या बिना इच्छा किए वा दबाव में पड़कर यदि कर्म हो तो वहां कोई दूसरा रास्ता (alternative) तो है नहीं, अतः अच्छा-खराब या उचित-अनुचित का प्रश्न ही नहीं उठता। वैसा कर्म जो चेतन रूप से इच्छा और चुनाव करके किया गया है ऐच्छिक कर्म कहा जाता है। अतः ऐच्छिक कर्मों के साथ ही अच्छा-खराब, उचित-अनुचित का प्रश्न होता है अर्थात् उन्हीं का नैतिक निर्णय या मूल्यांकन हो सकता है इसलिए उन्हें ही नैतिक-कर्म कहते हैं। यदि बिजली गिरने से किसी घर के सभी मासूम बच्चों की मृत्यु हो जाय तो बिजली को हम पापी या अधर्मी नहीं कह सकते पर यदि हमने इच्छा करके कुछ गहने चुराने के लिए एक बच्चे को सिर्फ घायल कर दिया तो हमें दुराचारी कहा जा सकता है। सभी संकल्पित कर्म (willed actions) अर्थात् ऐच्छिक कर्म नैतिक कर्म हैं। ऐच्छिक कर्म वैसी क्रिया है जिसे कोई आत्मचेतन प्राणी स्वतंत्र इच्छा से साधन-हेतु के चुनाव के बाद बुद्धिमानी से करे। जिस क्रिया में संकल्प का अभाव हो वे नैतिक कर्म नहीं हैं।

ऐच्छिक कर्म के अतिरिक्त मनुष्य के अभ्यासजन्य कर्मों का (habitual actions) भी नैतिक निर्णय हो सकता है, हालांकि वैसे कर्मों को करने में, जिनका अभ्यास हो गया है, इच्छा, संकल्प या मानसिक द्वन्द्व नहीं होता। यदि शराब पीने की किसी को आदत हो गई हो तो उसे शराब मंगवाते वक्त वा पीते वक्त कोई हिचकिचाहट नहीं होती। पर तोभी आदत लगने के पहले इच्छा करके ही हम वैसे कर्म आरम्भ करते हैं। पीछे उनका अभ्यास हो जाता

है। वैसे कर्मों के प्रारम्भ मे भी इच्छा, संकल्प आदि होते हैं। इसलिए अभ्यासजन्य कर्म (habitual actions) भी नैतिक कर्म हैं।

नीति-शून्य कर्म (Non-moral actions)—हमने पहले ही वतलाया है कि वहुतेरे ऐसे कर्म होते हैं जिन्हें न पाप और न पुण्य, न धर्म और न अधर्म, न उचित और न अनुचित कहा जा सकता है। वे नैतिकता के क्षेत्र के वाहर हैं। उनका नैतिक निर्णय नहीं हो सकता इसलिए कि उनमें नैतिक गुणों का अभाव है। ऐसे कर्मों को नीतिशून्य कर्म (non-moral action) कहा जाता है। नीति-शून्य का यह अर्थ नहीं है कि ऐसे कर्म खराव हैं। उनमें इच्छा और संकल्प का अभाव रहता है अतः उनका नैतिक निर्णय नही होता। इसे ही नीति-शून्य कर्म कहते हैं। साराश यह हुआ कि अनैच्छिक कर्म ही नीति-शून्य कर्म कहे जाते हैं। अव प्रश्न है कि कौन-कौन से कर्म नीति-शून्य हैं।

निर्जीव पदार्थों की क्रियाओं का नैतिक निर्णय सम्भव नहीं है, क्योंकि उनमें इच्छा का अभाव रहता है। इसलिए वे नीति-शून्य कर्म हैं। वादल से समय पर पानी वरसने को, सूर्य्य से जाड़ा मे गर्मी होने को या गर्मी में हवा से ठंढक होने को उचित या अनुचित, पाप या पुण्य नहीं कहा जाता। उनमे नैतिक गुण का अभाव रहता है।

पौधे या पशुओ की क्रियाएं भी नीति शून्य हैं। उनमें भी इच्छा का अभाव रहता है इसलिए वे आचारशास्त्र के क्षेत्र के वाहर हैं। मनुष्य की कुछ ऐसी क्रियाएं भी होती हैं जिनमे इच्छा का अभाव रहता है, इसलिए उनका भी नैतिक-निर्णय नही होता। सहज (Instinctive), प्रत्यावर्तन, अनियमित तथा भावनाजन्य क्रियाओं में या संवेगों के स्वतः प्रकाशन में भी इच्छा का अभाव होता है। पलक गिरने में या सास लेने में मनुष्य को कोई संकल्प नहीं करना पड़ता। ऐसी क्रियाएं स्वत होती हैं। उनमें उद्देश्य की चेतना मनुष्य को नहीं रहती। इसलिए वे भी नीति-शून्य हैं।

मनुष्य की आकस्मिक (Accidental) और अनुकरणजन्य (Imitative) क्रियाएं भी नीति-शून्य हैं क्योंकि जान कर या विचार करके वैसी क्रियाएं नही की जातीं। नैतिकता मनुष्य के संकल्प में होती है। इसमें संकल्प ही का अभाव रहता है।

मनुष्य की वैसी क्रियाओ को, जो मानसिक विकार (Abnormality) के कारण हुई हों (पागल या बेवकूफों के कर्मों को), उचित या अनुचित नहीं कहा जाता। पागलों के किसी कर्म का नैतिक दृष्टि से मूल्याकन नहीं किया जाता। उनको तो अपनी इच्छा या स्वयं पर कोई अधिकार ही नहीं रहता इसलिए वे अपनी क्रियाओं के लिए उत्तरदायी नहीं रहते। यदि कोई पागल किसी की हत्या कर देता है तो इसके लिए उसे कोई दण्ड नहीं दिया जाता।

वैसे बालकों की क्रियाए, जिन्हें अपने या दूसरे का ज्ञान नहीं हुआ हो, नैतिक नहीं होतीं। बच्चों में धर्म-अधर्म, उचित-अनुचित के ज्ञान का विकास नहीं होना। उनकी क्रियाओ का फल क्या होगा उसको वे नहीं समझते, इसलिए उनका नैतिक निर्णय नहीं हो सकता।

ऐसे मनुष्य की क्रिआए भी, जिनका समाज पर कोई प्रभाव न पड़े, नैतिक क्षेत्र के बाहर हैं। कोई व्यक्ति किसी समाज का अग होता है। यदि समाज से उसका सम्बन्ध बिल्कुल नहीं हो तो वह व्यक्ति की कोटि में रहता ही नहीं है।

जो कर्म बलपूर्वक (Co-ercion) कराए जाते हैं या किसी शारीरिक या भौतिक कारणों से बाध्य होकर किए जाते हैं वे भी नैतिक नहीं हैं। पर यह याद रखना चाहिए कि ऐसे कर्म तभी वास्तविक अर्थ मे नीति-शून्य होंगे जब उनके प्रतिरोध की शक्ति मनुष्य मे नहीं हो। यदि कोई बालक किसी युवा से हठ करके कोई अनुचित काम करवा ले तो उस युवा के आचरण को नीति-शून्य नहीं कहा जा सकता, इसलिए कि उसका प्रतिरोध सम्भव था।

सम्मोहित अवस्था में दिए गए आदेशो (Hypnotic suggestions) के फलस्वरूप यदि कोई कर्म किया जाय तो वह भी नीति-शून्य ही है क्योंकि उस अवस्था में मनुष्य में न आत्मचेतना रहती है, न स्वतंत्र इच्छा और न साध्य-साधन का चुनाव ही होता है।

नैतिक (Moral) शब्द का अर्थ—

नैतिक शब्द तीन अर्थों मे व्यवहृत किया जाता है। भाषा में इसे मानसिक का पर्यायवाची शब्द माना जाता है। वह जो भौतिक (Physical) या शारीरिक नही है उसे नैतिक (Moral) कहा जाता है। यह है नैतिक शब्द का विस्तृत अर्थ।

साधारणतः नैतिक दृष्टि से जो अच्छा है उसे नैतिक (Moral) कहा जाता है। यहाँ इसका विपरीतार्थक शब्द है अनैतिक (Immoral)। वह जो नैतिक दृष्टि से खराब है वही अनैतिक है। यह हुआ नैतिक शब्द का सीमित अर्थ।

पर आचारशास्त्र मे नैतिक शब्द का अर्थ भिन्न है। वैसी क्रियाओं को, जिनका नैतिक-निर्णय हो सके, नैतिक कहा जाता है। इसलिए वह कर्म जो नैतिक है वह उचित और अनुचित दोनो हो सकता है। साधारणतः जिसे हम अनैतिक कर्म अर्थात् खराब कर्म कहते हैं वह भी नैतिक कर्म हैं क्योकि नैतिक निर्णय करने पर ही हमने उसे खराब, अनैतिक कहा। चूंकि उसमे नैतिक निर्णय हुआ इसलिए वह कर्म नैतिक कर्म (Moral action) है। यहाँ नैतिक (Moral) का विपरीतार्थक शब्द नीति-शून्य (Non-moral) है, अनैतिक (Immoral) नही। इसी अर्थ में नैतिक शब्द का आचारशास्त्र में प्रयोग होता है। यह हुआ नैतिक शब्द का संकुचित अर्थ।

ऐच्छिक कर्म (voluntary action)—मनुष्य के जीवन का आदर्श क्या होना चाहिए अर्थात् मनुष्य का आदर्श आचरण क्या है, इसकी विवेचना

करना ही आचारशास्त्र (Ethics) का मुख्य लक्ष्य है। पर किसी भी वस्तु के आदर्श की समीक्षा करने के पहले उस वस्तु को जान लेना आवश्यक है। पुल कैसा होना चाहिए यह जानने के पूर्व पुल क्या है यह तो जान-लेना आवश्यक ही है। इसी प्रकार यह जानने के पहले कि आचरण कैसा होना चाहिए ऐच्छिक क्रिया क्या है इससे भिज्ञ हो जाना आवश्यक है, अर्थात् कोई कर्म करने के पहले मस्तिष्क में कौन-सी बातें आती हैं, शारीरिक क्रिया कब प्रारम्भ होती है, आदि। वास्तव में यह विषय मनोविज्ञान का है। इसीलिए इसे आचारशास्त्र का मनोवैज्ञानिक आधार कहा जाता है। अत अब हम ऐच्छिक कर्म का विश्लेषण करेंगे।

ऐच्छिक कर्म का विश्लेषण (Analysis of voluntary action)

जब कोई आत्मचेतन पुरुष स्वतन्त्र रूप से संकल्प कर कोई ऐसा कर्म करता हो जिसके साधन और हेतु का उसे पूर्व ज्ञान हो तब उस क्रिया को ऐच्छिक कर्म कहा जाता है। मान लें किसी विद्यार्थी को क्लास में पढ़ाई होते वक्त असह्य प्यास लगी हो तो वह दुविधा मे पड जाता है। कभी वह विचार करता है कि शिक्षक की आज्ञा लेकर पानी पी आए और कभी यह कि क्लास समाप्त होने पर ही उठे। अन्त में विचार कर वह उसी समय जाने का संकल्प कर लेता है और आज्ञा लेकर पानी पी आता है। उसने बाहर जाकर पानी पीने की इच्छा की। अत इसमें उसका संकल्प निहीत है। वह कैसे जायगा और किसलिए जायगा, इस बात की भी उसे पूरी चेतना है। वह आत्मचेतन प्राणी है और स्वतन्त्र भी। उसकी यह क्रिया ऐच्छिक कर्म है। अब प्रश्न है कि इसका विश्लेषण करने पर इसमें कौन-कौन-सी बातें मिलती हैं?

सबसे पहली बात तो यह है कि मनुष्य जब भी अपनी इच्छा से कोई कर्म करता है तो कोई-न-कोई जरूरत से। वह किसी-न-किसी अभाव का अनुभव करता है और उसीकी पूर्ति की इच्छा से कर्म करता है। यदि कोई द्विविधा होती है तो उस पर सोच-विचार कर इच्छित पदार्थ को पाने का साधन विचारता है और अन्त में विचारे हुए साधन से उस पदार्थ को प्राप्त करने का संकल्प (will) करता है। ऊपर दिए हुए उदाहरण मे प्यास महसूस करने

पर ही पानी पीने का विचार आता है। क्लास से जाएं या न जाएं इस तरह की द्विविधा होती है और अन्त में सोच-विचार कर आज्ञा लेकर पानी पी आने का वह विद्यार्थी संकल्प कर लेता है। यहां तक तो केवल मानसिक क्रिया हुई। इसके बाद अपने अभिप्राय (motive) की पूर्ति के लिए शारीरिक चेष्टा (bodily effort) आरम्भ होती है। मन में यह निश्चय कर लेने के बाद कि पानी पीने जाना है वह विद्यार्थी उठता है और आज्ञा मांग कर बाहर पानी पी आता है। यह हुई उसकी शारीरिक चेष्टा। अन्त में चेष्टाओं के समाप्त होने पर उस कर्म का फल होता है। वह विद्यार्थी पानी पी लेता है और उसे सन्तोष हो जाता है। इस प्रकार ऐच्छिक कर्म में अभाव, अभिप्राय, साधन का विचार, मानसिक द्वन्द्व, निश्चय, आदि मन में होते हैं, चेष्टा शरीर द्वारा होती है और उस क्रिया के हो जाने पर उसका बाह्य फल (external consequence) होता है। अतः ऐच्छिक कर्म में तीन स्थितियाँ (stages) होती हैं।

(i) मानसिक स्थिति (mental stage)—क्रिया यहीं से आरम्भ होती है।

(ii) शारीरिक स्थिति (bodily or organic stage)—क्रिया (चेष्टा) साधारणतः इसे ही कहा जाता है क्योंकि यही स्थिति दूसरों को प्रत्यक्ष है। मानसिक स्थिति दूसरों को प्रत्यक्ष नहीं होती। दूसरे के मन में कौन-कौन-सी बातें आती हैं यह कोई कैसे जान सकता है?

(iii) बाह्य स्थिति (external or extra-organic stage)—क्रिया यहीं समाप्त होती है। यही स्थिति है क्रिया के फल का। ऐच्छिक कर्म की इन तीनों स्थितियों में शारीरिक स्थिति का नैतिक दृष्टि से कोई विशेष महत्त्व नहीं है। हमारी शारीरिक चेष्टाओं में शरीर के कौन-कौन से अवयवों का कैसे संचालन होता है, इससे किसी कर्म के उचित या अनुचित होने से क्या सम्बन्ध है? इसलिए हम मानसिक स्थिति और बाह्य परिणाम का विश्लेषण करेंगे।

मानसिक स्थिति (mental stage) या कर्म की प्रेरणा (spring of action)--प्रत्येक ऐच्छिक कर्म के पीछे कोई प्रेरणा होती है। इस प्रेरणा का कारण कोई अभाव (want) है। जब मनुष्य कोई अपूर्णता या कमी (अभाव) महसूस करता है तो उसे तकलीफ होती है। कमी की पूर्त्ति के लिए ही क्रिया होती है। इच्छा हम तभी करते हैं जब हमे कोई अभाव हो। यह कमी किसी तरह की हो सकती है, मूल-प्रवृत्ति या एषणा अर्थात् शारीरिक या बौद्धिक या नैतिक या सौन्दर्य-सम्बन्धी। साथ-साथ यह भी आवश्यक नहीं है कि कमी हम अपने में (egoistic) ही महसूस करें तभी कोई कर्म हो। दूसरों की कमी (altruistic) की भावना से भी हमें कर्म की प्रेरणा मिलती है। यह कमी या अभाव वास्तविक (actual) हो सकता है या काल्पनिक (anticipated), हो सकता है कि कोई अभी जाडा महसूस करे और कोट का कपडा खरीदना चाहे या कभी यह भी होता है कि कोई भविष्य में अच्छी नौकरी हासिल करे इसलिए अभी से आई॰ ए॰ और बी॰ ए॰ की परीक्षा में उत्तीर्ण होने के लिए अधिक चेष्टा करे। अतः अभाव की भावना अपनी हो सकती है या दूसरों की अथवा वास्तविक या काल्पनिक। पशुओं में भी क्रियाएं अभाव के कारण ही हुआ करती हैं पर उन्हे उस अभाव की चेतना नहीं रहती और दूसरी बात यह है कि उन्हे काल्पनिक अभाव की भावना नहीं होती। उनके अभाव की भावना को भूख (appetite) कहते हैं।

कार्य-स्रोत (Springs of Actions)

सभी मानव क्रियाओं की उत्पत्ति मन (Mind) से ही होती है। किसी अभाव या आवश्यकता की भावना से ही कार्य की प्रवृत्ति या इच्छा होती है। अत: अभाव या आवश्यकता ही किसी कार्य का स्रोत (Spring) है। पर मनुष्य की कोई भी आवश्यकता या अभाव किसी न किसी भावना या आवेग से ही सम्बद्ध रहता है। भावनाएं ही सुखदायी या दुखदायी होती है, अत उन्हीं से अभाव की उत्पत्ति होती है। यदि कोई आवेग दुखदायी है तो उसे ही हम कमी या अभाव कहते हैं और उसे दूर करने की प्रवृत्ति या इच्छा होती है।

जब मनुष्य मे अभाव की भावना रहती है तो वह अवस्था कष्टप्रद होती है, पर साथ-साथ उस समय सुखप्रद भावना भी रहती है इसलिए कि उस कमी की पूर्ति हो जायगी ऐसी भावना भी वर्तमान रहती है। पर अभाव की भावना मे ही कोई कर्म नहीं हो जाता। इसके बाद दूसरी मानसिक क्रिया होती है जिसे लक्ष्य (End) और प्रयोजन (Motive) कहा जाता है।

यदि कोई आवेग सुखदायी है, तो उसे हम प्राप्त करने की इच्छा करते है। अत भावनाओ या आवेगो से ही अभावो या आवश्यकताओं की उत्पत्ति होती है। इसलिए भावनाएं या आवेग ही कार्य के मूल स्रोत हैं। मनुष्य की कितनी आवश्यकताएं होती है और किन-किन भावनाओ और आवेगो से वे सम्बद्ध है, यह जानना भी आवश्यक है। मार्टीन्यू ने मानव आवश्यकताओ और आवेगो का वर्गीकरण किया है और प्रत्येक का मानव जीवन मे नैतिक दृष्टि से स्थान भी निर्धारित किया है।

कार्य-स्रोत का मनोवैज्ञानिक वर्गीकरण—मार्टीन्यू के अनुसार उत्तेजनाएं (आवेग या भावनाएं), जो कार्य-स्रोत है, दो प्रकार की होती है—मौलिक (Primary) और गौण (Secondary)। वैसी उत्तेजनाएं जो मूल-प्रवृत्तियो (Instinct) की भाति किसी अनुकूल विषय की प्राप्ति के लिए होती है, वे मुख्य है; वैसी भावनाएं जो अनुभव और ज्ञान के आधार पर किसी विशेष भावना की तुष्टि के लिए होती हैं, वे गौण है। मुख्य उत्तेजनाएं प्राकृतिक प्रवृत्तिया है और गौण, अनुभव और अभ्यास के द्वारा अर्जित है। गौण भावनाएं मुख्य भावनाओ के ही परिवर्तित रूप है। भोजन की क्षुधा प्राकृतिक भावना है पर किसी खास प्रकार के भोजन का अनुभव कर हमे उसी की चाह हो सकती है। यह गौण भावना हुई। मौलिक भाव ही कार्य के मुख्य स्रोत है। मौलिक भावो या आवेगो को चार वर्गों मे रखा जा सकता है—

(1) जैवि उत्तेजना (Propensions)—शरीर की रक्षा के लिए जो चेष्टाएं होती है। जीवन को संजोने और उसकी रक्षा के लिए ये आवश्यक हैं। इसीके अन्तर्गत क्षुधा (भूख, प्यास तथा योनि-सम्बन्धी) और शारीरिक क्रिया तथा विराम हैं।

लक्ष्य और प्रयोजन (End and motive)—जब मनुष्य को किसी तरह के अभाव की भावना होती है तो उसे अवश्य ही किसी ऐसी वस्तु का विचार होता है जिससे वह समझता है कि उसका अभाव दूर हो जायगा। प्यास लगने पर फौरन् मनुष्य को पानी का विचार हो जाता है। उस वस्तु को ही, जिससे हम समझते हैं कि हमारा अभाव दूर हो जायगा, क्रिया का लक्ष्य (End of the action) कहा जायगा। उस वस्तु के विचार

(ii) द्वेष (Passions)—अरुचिकर तथा कष्टदायक की ओर विकर्षण (Repulsion)। इसके अन्तर्गत (क) घृणा (Antipathy)—बुराइयों को न चाहना, (ख) क्रोध (Anger) तथा (ग) डर (Fear) शामिल हैं।

(iii) राग (Affections)—समान पशुओं और व्यक्तियों की ओर आकर्षण। इसके अन्तर्गत (क) पैत्रिक, (ख) सामाजिक तथा (ग) सहानुभूति की प्रवृत्तिया शामिल हैं।

(vi) संवेग (Sentiments)—आदर्शों (स्वयं से उच्च) की प्राप्ति का भावना। इसके अन्तर्गत (क) आश्चर्य, (ख) प्रशंसा तथा (ग) श्रद्धा हैं। उपरोक्त मौलिक उत्तेजनाओं या भावनाओं के आधार पर निम्नलिखित गौण भावनाएं या कार्य-स्रोत हैं।

(i) गौण जैवि-उत्तेजनाएं (Secondary Propensions)—

(क) अच्छे भोजन तथा शौक का चाव

(ख) शारीरिक क्रिया का चाव, जैसे, घुड़सवारी, तैरना आदि

(ग) विराम का चाव

(घ) शक्ति का चाव

(ङ) अर्थ या लाभ का चाव

(ii) गौण द्वेष (Secondary passions)

(क) असूया-दूसरों में दोष देखने की प्रवृत्ति

(Idea of the object) को प्रयोजन (Motive) कहा जाता है। वस्तु के विचार को प्रयोजन इसलिए कहा जाता है कि वही हमें प्रेरित करता है। यहाँ पानी पीना क्रिया का लक्ष्य (end) है पर पानी पीने का विचार क्रिया का प्रयोजन (Motive)।

इच्छा (Desire)—जब मनुष्य मे कोई कमी (want) रहती है और उस कमी की पूर्त्ति कैसे होगी इसका विचार (Motive) मौजूद रहता है तो हमे उस वस्तु को प्राप्त करने की इच्छा होती है। कमी की भावना

(ख) बदला लेने की प्रवृत्ति

(ग) सन्देह

(iii) गौण राग (Secondary Affections)

(क) बच्चो के खेल से चाव

(ख) सामाजिक आदान-प्रदान की प्रवृत्ति

(ग) दया

(iv) गौण संवेग (Secondary sentiments)

(क) आत्म-संस्कृति की भावना

(ख) कला का प्रेम

(ग) धर्म और नीति से प्रेम

इन उत्तेजनाओ या भावनाओ के अतिरिक्त कई मौलिक प्रवृत्तियों के मिलने से मिश्रित प्रवृत्तिया भी होती हैं।

मार्टीन्यू का उपरोक्त वर्गीकरण मूल प्रवृत्तियों को समझने मे सहायक हैं, पर वे अपूर्ण हैं। इसके अतिरिक्त कुछ मनोवैज्ञानिकों ने इस वर्गीकरण को प्रयोजनों (Motives) का वर्गीकरण माना है।

मार्टीन्यू ने इसी वर्गीकरण के आधार पर कर्मों का मूल्य निर्धारित किया है। कोई कर्म इन्ही प्रवृत्तियों से मूलतः उदय होते हैं। अत इन प्रवृत्तियों का जैसा नैतिक मूल्य है, वैसा ही नैतिक मूल्य कर्मों का भी होगा। क्षुधा से

अब इच्छा मे परिवर्तित हो जाती है। इच्छा भी एषणा की भांति अन्धी होती है। उस वस्तु की प्राप्ति के लिए जिससे हम समझते हैं कि हमारे अभाव की पूर्ति हो जायगी, जो हममे तृष्णा होती है उसे ही इच्छा (Desire) कहा जाता है। इसमें अभाव, लक्ष्य जिससे वह कमी दूर होगी, तथा उस लक्ष्य के प्राप्त करने के साधन का विचार रहता है।

जिस समय कोई इच्छा होती है उस समय यदि दूसरी विरोधात्मक इच्छाएं न हों तो हम शीघ्र ही किसी निश्चय पर पहुंच कर कर्म सम्पन्न कर लेते हैं।

प्रवृत्त होकर किए गए कर्म सहानुभूति से प्रवृत्त कर्मों की तुलना मे नैतिक दृष्टि से निम्न कोटि की है। इसी प्रकार यदि सभी प्रवृत्तियों का नैतिक मूल्य ज्ञात हो तो कर्मों का मूल्याकन सरलता से हो सकता है।

उपरोक्त विचार से ही मार्टीन्यू ने भिन्न प्रवृत्तियो की एक सूची बनाई है जिसमें नैतिक दृष्टि से सन्देह सबसे निम्न और श्रद्धा सर्वोच्च बताया गया है। अन्य प्रवृत्तिया मध्य मे हैं।

मूल्य के अनुसार—

१ सन्देह, बैर तथा द्वेष
२ योनि-सुख और विराम
३ क्षुधा
४ लक्ष्यहीन क्रिया
५ लाभ
६ सहानुभूति की भावना में लिप्सा
७ डर
८ शक्ति-प्रेम
९ संस्कृति-प्रेम
१० उत्कंठा, प्रशंसा
११ पैत्रिक तथा सामाजिक राग
१२ सहानुभूति
१३ श्रद्धा

पर यदि उसी समय दूसरी विरोधात्मक इच्छाएं उठ जाती हैं तब एक द्वन्द्व (conflict) उपस्थित हो जाता है। ऊपर के उदाहरण में पानी की इच्छा होती है पर साथ-साथ नहीं जाने की भी इच्छा होती है। दोनों विरोधात्मक इच्छाएं हैं। दोनो की पूर्त्ति एक ही समय सम्भव नहीं है अत एक द्वन्द्व खड़ा हो जाता है।

इच्छा या प्रयोजन का संघर्ष या मानसिक द्वन्द्व (Conflict of desires or motives or mental conflict)—किसी जटिल-कार्य में कभी-कभी अनेक विरोधी प्रवृत्तिया हो जाती हैं। एक समय कई आवश्यकताएं तृप्ति चाहती हैं अत उनसे अनेक इच्छाएं, लक्ष्य और प्रयोजन उठ जाते हैं। सभी

ऐच्छिक क्रियाओं के स्रोत ये प्रवृत्तिया हैं। उनमें मानसिक द्वन्द्व होता है और हम चुनाव करते हैं। यदि दो विकल्पो में निम्नतर का चुनाव किया गया तो वह कर्म नैतिक दृष्टि से अनुचित है, जैसे, योनि-सुख तथा क्षुधा में योनि-सुख का चुनाव। पर उसी कर्म का दूसरी परिस्थिति में दूसरा मूल्य हो सकता है। यदि योनि-सुख और सन्देह की प्रवृत्तियो में द्वन्द्व हो तो योनि-सुख का चुनाव निम्न नहीं उच्च होगा। अत किसी प्रवृत्ति का नैतिक मूल्य उसकी विरोधी प्रवृत्ति पर निर्भर है। प्रवृत्तियों के द्वन्द्व में अन्तरात्मा के द्वारा उनके नैतिक मूल्यों का सहजबोध हो जाता है। अत. कर्मों के नैतिक मूल्य की पहचान अन्तरात्मा से होती है।

मार्टीन्यू के मत में नैतिक इन्द्रियवाद के दोष हैं। उन्होने अन्तरात्मा को कर्मों के नैतिक मूल्य के ज्ञान का साधन माना है। पर उन्होंने भिन्न प्रवृत्तियों का जो नैतिक मूल्याकन किया है वह उनके विचार का फल है, अन्तरात्मा का नहीं। इसके अतिरिक्त आचारशास्त्र एक विज्ञान है, अत विना यह विचारे कि क्यों सन्देह निम्नकोटि की प्रवृत्ति है और श्रद्धा उच्चकोटि की, हमारा ज्ञान पूर्ण नहीं होता। हमारा लक्ष्य है इन भेदों को जानना। फिर, मार्टीन्यू ने किसी प्रवृत्ति का जो निश्चित मूल्य बतलाया है, वे वैसा निश्चित नहीं है। परिस्थितियों के अनुसार उनका मूल्य बदलता भी है। इसलिए व्यावहारिक

एक दूसरे के अनुकूल नही रहते। विविध इच्छाएँ, मन को विविध दिशाओं में खींचती है। कभी एक इच्छा की पूर्ति की कामना होती है और कभी दूसरी इच्छा की। सभी की पूर्ति एक ही समय में सम्भव नहीं है क्योकि इच्छाएं विरोधी होती हैं। अत उनमे संघर्ष उत्पन्न हो जाता है। यही अवस्था मानसिक द्वन्द्व की है। मानसिक द्वन्द्व मे वाह्य शक्तियो मे द्वन्द्व नही होता। इच्छाएं हमसे भिन्न कोई वाह्य शक्ति नही हैं। वे स्व (Self) की ही दशाएं है। विरोधी इच्छाएं भी स्व की ही हैं, अत इच्छा-द्वन्द्व में स्व का किसी वाह्य शक्ति से द्वन्द्व नहीं होता अपितु स्व का स्व से ही संघर्ष होता है। योद्धा, उसका विरोधी और युद्ध-भूमि सब स्व (Self) ही है। यह संघर्ष स्व के भिन्न दृष्टिकोणों का है।

इस द्वन्द्वात्तमक अवस्था मे मन कार्य को स्थगित (Pause) कर देता है और यह विचारने लगता है कि विविध इच्छाओं मे कौन-सी इच्छा की पूर्ति की जाय। उक्त विद्यार्थी को यह मानसिक द्वन्द्व होता है कि वह वाहर जाय या न जाय और तव वह विचारना आरम्भ करता है कि क्या करे।

विचारना (Deliberation)—जब इच्छाओं का द्वन्द्व होता है तो मन कार्य को स्थगित कर यह विचारने लगता है कि विविध इच्छाओं की पूर्ति मे कौन-कौन से दोष-गुण है। भिन्न विकल्पो (alternatives) की मन तुलना करता है। यदि ऐसा किया जाय तो कैसा होगा या वैसा किया जाय तो क्या हानि है, आदि। मन विभिन्न इच्छाओं के फल को तौलता है। इस तौलने का लक्ष्य यह है कि विभिन्न इच्छाओं मे किसका चुनाव किया जाय। इस मानसिक

जीवन मे मार्टीन्यू के मापदंड का मूल्य नही है। वास्तव मे मानव प्रवृत्तियो की पूर्ण सूची नहीं तैयार की जा सकती है। ऐसा उन्होने स्वयं माना है। अन्त में यह भी कि नैतिक निर्णयो मे कर्मो की अच्छाई या बुराई की मात्रा नही देखी जाती, वल्कि यह कि कोई कर्म उचित है या अनुचित। मार्टीन्यू की सूची के अनुसार हम केवल यही जान सकते हैं कि एक प्रवृत्ति दूसरे की अपेक्षा निम्नतर है या उच्चतर है।

क्रिया को ही विचारणा कहा जाता है। उक्त विद्यार्थी यह चिन्तन करने लगता है कि यदि वह जाय तो कैसा होगा और यदि न जाय तो क्या फल होगा।

चुनाव या निर्णय (Choice or decision)—जब मन विभिन्न इच्छाओं द्वारा प्रेरित कर्मों के गुण-दोषों का चिन्तन कर लेता है तो किसी एक का चुनाव हो जाता है अर्थात् अपने को उसीसे हम एकाकार कर लेते हैं। किसी एक इच्छा को चुनकर अन्य को त्याग दिया जाता है। वह विद्यार्थी विचार कर लेने के बाद, जाने के विचार को ही चुन लेता है और नहीं जाने का विचार त्याग देता है। इसी क्रिया को चुनाव या निर्णय कहा जाता है। इसके साथ-साथ जिस लक्ष्य से क्रिया करने का निर्णय किया गया है उसे प्राप्त करने का साधन भी विचार कर लिया जाता है। इस तरह निश्चित साध्य और साधन का चुनाव या निर्णय हो जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जिस विचार का निर्णय किया गया वह हमसे पृथक् कोई प्रवलतम शक्ति है जो हमारे निर्बल विचारों के ऊपर विजय प्राप्त कर लेती है। स्व के द्वारा चुना हुआ प्रयोजन कर्म का वास्तविक प्रयोजन हो जाता है। वैसी इच्छाएं या प्रयोजन जो नही चुने गए वे मन के अचेतन स्तर मे चले जाते हैं। प्रतिद्वन्द्वी इच्छाएं कर्म के सम्भावित प्रयोजन हैं और चुना हुआ प्रयोजन वास्तविक। कर्म के साध्य और साधन के विचार को ही अभिप्राय (Intention) कहा जाता है। विद्यार्थी बाहर जाने के विचार को चुन लेने के साथ-साथ कैसे वह जायगा (शिक्षक से आज्ञा लेकर) इसका भी विचार कर लेता है। यही उसके अभिप्राय है।

निश्चय या संकल्प (Determination, Resolution, Will or Volition)—जब लक्ष्य और साधन का निर्णय किया जाता है तो हम संकल्प कर लेते हैं। कभी-कभी जो निर्णय किया जाता है उसको फौरन् कार्यरूप में परिणत कर दिया जाता है। पर कभी-कभी ऐसा नही होता तो हम **निश्चय कर लेते** हैं कि हम अपने निर्णय पर डटे रहेंगे। निश्चयपूर्वक निर्णय पर डटे रहने का और द्विविधा को हटाने का संकल्प होता है।

संकल्प कर लेने के बाद हम अपने संकल्प को शारीरिक क्रिया द्वारा व्यक्त करते हैं।

शारीरिक क्रिया (organic or bodily stage)—संकल्प कर लेने के बाद हमारे शारीरिक अवयव गतिशील हो जाते हैं।

वाह्य परिणाम (Extra-organic stage) शारीरिक गति के कारण वाह्य जगत् में कुछ परिवर्तन होता है। इन्हें परिणाम (consequence) कहा जाता है। यदि कर्म सफल तो उसका परिणाम या फल वैसा ही होता है जैसा हमारा अभिप्राय (intention) था। उस हालत मे चुने हुए उद्देश्य की सिद्धि होती है और साथ-साथ कुछ आकस्मिक बातें भी हो सकती हैं। यदि कर्म सफल नहीं हुआ तो फल दूसरा ही होता है। अत सफल कर्म के परिणाम में निम्नलिखित बातें होती हैं।

निश्चय (Resolution)—जब अपने निर्णयो को कार्यरूप मे शीघ्र परिणत नहीं किया जाता तो उसकी पूर्ति के लिए निश्चय करना आवश्यक हो जाता है। जहा क्रिया में देर होती है, वहा ऐच्छिक कर्म मे निश्चय अवश्य होता है। इसके लिए मानसिक बल और आत्म-संयम (Self control) की आवश्यकता होती है। यदि आत्म-संयम नही हो तो निश्चय पर डटे रहना सम्भव नहीं है। आत्म-संयम सभी मे बराबर नही होता, किसी मे कम और किसी मे अधिक होता है। जिसमे आत्म-संयम की कमी होती है वह निश्चित पथ से विचलित हो जाता है।

आत्म-संयम अतिरूप मे जिद या अहंकार का रूप धारण कर लेता है। ऐसे लोग अपने निश्चय को कभी फिर से नहीं विचारते। बुद्धिमान निश्चय पर डटे अवश्य रहते हैं पर आवश्यकतानुसार उसे परिवर्तित भी कर सकते हैं।

आत्म-संयम—आत्म-संयम का अर्थ है आत्म-संचालन, अपने उपर अधिकार। अपनी भावना, विचार और क्रिया या अपनी मानसिक अवस्थाओ और प्रक्रियाओं, पर अधिकार रखने को आत्म संयम कहा जाता है। इसके दोनों पहलू हैं, भावात्मक और निषेधात्मक। जाडे की ठण्ढी रात मे कर्त्तव्य के लिए बाहर जाना, यह भावात्मक पहलू हुआ अर्थात् कोई काम करना। किसी कारण वश कार्य की

(i) चुने हुए उद्देश्य (End or object) की सिद्धि, जिसके लिए कर्म किया गया।

(ii) चुने हुए उचित या अनुचित साधन (means) की सिद्धि।

(iii) कुछ प्रत्याशित (foreseen) परिणाम (consequence) और कुछ अप्रत्याशित (unforeseen) परिणाम।

पर जिस उद्देश्य से कोई कर्म किया गया है वही अन्तिम उद्देश्य नहीं होकर वह दूसरे उद्देश्यो का साधन (means) मात्र हो सकता है। पास करने के उद्देश्य से विद्यार्थी साधारणत मेहनत करता है। बी ए० पास करना उद्देश्य है पर यह स्वयं साधन है एक दूसरे उद्देश्य का, अच्छी नौकरी प्राप्त करने का—बी० ए० पास करना चाहते हैं अच्छी नौकरी पाने के लिए। कोई भी ऐच्छिक कर्म साधन हो जाता है दूसरे उद्देश्यो का। कोई भी कर्म किसी उद्देश्य से किया जाता है और वह उद्देश्य एक साधन होता है दूसरे उद्देश्यो की पूर्ति के लिए। इस प्रकार मनुष्य के जीवन मे साध्य और साधनों की शृंखला होती है।

इच्छा (desire) का विश्लेषण—किसी ऐसे उद्देश्य को प्राप्त करने की चाह, जिससे अभाव पूर्ति का विश्वास हो इच्छा कहा जाता है। यह एक प्रकार का आवेग है जिसमें उद्देश्य-पूर्त्ति होने पर भविष्य सुख का कल्पना रहती है। आवेग का सदा कोई उद्देश्य होता है और उस उद्देश्य को प्राप्त कर लेने पर सन्तोष होता है। इच्छा मे, इसीलिए, चेतना के ज्ञानात्मक (cognitive), रागात्मक (affective) और क्रियात्मक (conative) तत्त्व वर्तमान

प्रवृत्ति को रोकना, जैसे, पान खाने का अभ्यास समाप्त कर देना, निषेधात्मक पहलू हुआ। चूंकि आत्म-संयम का अर्थ है भावना, विचार और क्रिया तीनों पर अधिकार अत. तीनों मे भावात्मक और निषेधात्मक पहलू हैं।

विचारों का संयम—ध्यान लगाने और हटाने का अभ्यास करने से विचारों पर संयम होता है। संवेगो का संयम—शरीर और विचार को वश में रखने से संवेगों पर भी अधिकार होता है। क्रियाओ का संयम—मन और शरीर पर अधिकार प्राप्त करने से क्रियाओं पर भी अधिकार हो जाता है।

रहते हैं। इसका अर्थ यह है कि जिस मानसिक स्थिति को इच्छा कहा जाता है उसमे किसी बात की चेतना रहती है, सुख-दुःख की भावना रहती है और मस्तिष्क क्रियाशील रहता है। अब हमे देखना है कि किन बातो की चेतना, कौन-सी भावना प्रधान और किस मात्रा में मानसिक क्रिया होती है।

ज्ञानात्मक तत्त्व (cognitive factor)—जब किसी वस्तु की इच्छा होती है तब,

(i) मनुष्य को उस अभाव की चेतना रहती है जिसकी पूर्त्ति की इच्छा की जाती है।

(ii) उस वस्तु का विचार रहता है जिससे अभाव की भावना दूर होने का विश्वास है।

(iii) उचित या अनुचित साधनों का भी विचार रहता है जिससे उद्देश्य की प्राप्ति होगी।

(iv) वास्तविक स्थिति (present state), जब अभाव की पूर्त्ति नहीं हुई है और उस भविष्य की स्थिति, जब अभाव की पूर्त्ति हो जायगी, के भेद की चेतना। इस बात की सदा चेतना रहती है कि अभी अर्थात् जिस समय इच्छा की जा रही है अभाव की पूर्त्ति नही हुई है।

(v) जितना अधिक वर्त्तमान स्थिति और भविष्य-स्थिति में अन्तर मालूम होता है इच्छा उतनी ही अधिक बलवती हो जाती है।

रागात्मक तत्व (Affective factors)

चूँकि मनुष्य इच्छा तभी करता है जब उसे किसी प्रकार के अभाव की भावना रहती है, अत उस स्थिति मे उसे दुख का ही भाव वर्त्तमान रहता है। इससे यह स्पष्ट है कि इच्छा का उद्देश्य सुख की भावना नही है। सुख की भावना तो तब होती है जब इच्छा की पूर्त्ति हो जाती है। हा, भविष्य मे इच्छा की पूर्त्ति की कल्पना मात्र से सुखप्रद भावनाएँ उदय होती हैं। इसलिए इसमें सुख-दुख का मिश्रित भाव होता है। पर दुख की ही भावना अधिक मात्रा मे होती है।

इच्छा की पूर्त्ति में जितना विलम्ब होता है उतनी ही दुःखप्रद भावना की मात्रा अधिक बढ़ती जाती है।

क्रियात्मक तत्व (conative factor)

इच्छा की मानसिक स्थिति में उद्देश्य-प्राप्ति की एषणा रहती है। इच्छा दूसरी मानसिक प्रतिक्रियाओं से इस बात में भिन्न है कि इसमें मस्तिष्क पूर्णरूपेण क्रिया-शील रहता है। क्रिया की मात्रा इसमें बहुत अधिक रहती है। उद्देश्य प्राप्त करने-वाले कर्म के लिए वेगयुक्त मनोवृत्ति रहती है। इच्छा शारीरिक क्रिया तो नहीं पर शारीरिक क्रिया का विचार अवश्य है। *

इच्छा, चरित्र और आत्मा

इच्छाएँ चिन्तनशील प्राणियों में होती हैं। वे पशु-प्रवृत्तियों से भिन्न है, क्योंकि, उनमें किसी विषय की चेतना तथा शुभाशुभ का विचार रहता है। इच्छाएँ मनुष्य की किसी शुभ वस्तु की, जिसे वह शुभ समझता है, प्राप्त करने की चेतन मानसिक चेष्टा है। इच्छाएँ सदा किसी विषय की होती हैं, जिनका किसी व्यक्ति के लिए मूल्य है। चूंकि किसी वस्तु को हम मूल्यवान समझते हैं इसलिए उसकी इच्छा होती है। इसलिए किस वस्तु को हम मूल्यवान मानते हैं यह तो हमारे चरित्र पर निर्भर है। जैसा चरित्र, वैसी इच्छाएँ। चरित्र मनुष्य का स्व (self) है। इसलिए इच्छा का चरित्र और आत्मा से घनिष्ट सम्बन्ध है। इच्छा स्व से कोई बाह्य शक्ति नहीं है, न यह कोई अन्ध शक्ति ही है। इच्छाएँ आत्मरोचक वस्तुओं की प्राप्ति के हेतु ही उदय होती हैं। मूईरहेड ने इनका सम्बन्ध बतलाते हुए कहा है कि

---

*जैव-वृत्ति, पशु-प्रवृत्ति, इच्छा, प्रबल-इच्छा और संकल्प (Want, Appetite, Desire, Wish and Will)—जिसमें भी प्राण है उसे आवश्यकताएँ होती हैं, पेड़-पौधों को रोशनी, वायु आदि की, पशुओं को खाद्य सामग्री आदि की। पेड़-पौधों को जो आवश्यकताएँ होती हैं उनकी उन्हें चेतना नहीं होती इसलिए कि वे अचेतन हैं। इन आवश्यकताओं को जैव-वृत्ति (want) कहा जाता है। पशुओं को अपनी आवश्यकताओं की चेतना तो अवश्य

पहली बात तो यह है कि इच्छाएं आत्मचेतन प्राणियों में होती हैं और पशु-प्रवृत्तियों से भिन्न हैं। दूसरी बात यह है कि इच्छाएं मनुष्य के स्वरूप अर्थात् चरित्र की बनावट पर निर्भर है और जिस वस्तु की हम इच्छा करते हैं, उसमें ही हम स्व की पूर्ति चाहते हैं। अत वे आत्मपूर्ति के साधन हैं।

इच्छा का क्षेत्र (Universe of desire)

प्रत्येक इच्छा का अपना क्षेत्र होता है अर्थात् विषय होता है। विविध इच्छाओं का एक ही क्षेत्र हो सकता है या भिन्न। किसी भी समय इच्छा का क्षेत्र मनुष्य की नैतिक दृष्टिकोण का क्षेत्र है। प्रत्येक मनुष्य को एक विशेष इच्छा-क्षेत्र मे रहने की आदत है। यही क्षेत्र उसका स्थायी चरित्र होता है। इस तरह कोई भी इच्छा मनुष्य के चरित्र मे स्वतन्त्र सत्ता नहीं है। भिन्न स्थितियो में इच्छा-क्षेत्र भी परिवर्तित होते रहते हैं, जैसे भिन्न स्वास्थ्य में, भिन्न आर्थिक दशा में। पर इच्छाएँ कभी भी स्वतन्त्र नहीं होतीं, उनका सम्बन्ध सदा किसी न किसी इच्छा-क्षेत्र से रहता है। अतः इच्छाएँ हमारे चरित्र के विशेष काल मे प्रकाशित रूप हैं।

प्रयोजन (Motive) का विश्लेषण

प्रयोजन (motive) प्रवर्त्तक है अर्थात् किसी कर्म मे गति प्रदान करने-वाली शक्ति (moving force)। वह जो किसी विशेष कर्म में प्रवृत्त करे

होती है पर उन्हें शुभा-शुभ की चेतना नहीं रहती। यह पशु-प्रवृत्ति है। मनुष्य की इच्छा में वस्तु की चेतना, सुख-दु.ख का भाव तथा शुभाशुभ की भी चेतना होती है। सभी इच्छाएँ कार्यरूप में परिणत नहीं होते। इच्छाएँ तो मनुष्य को अनेक होती हैं, ऐसी भी जो वह जानता है कि पूर्ण नहीं होगी, जैसे, इंगलैंड के बादशाह होने की इच्छा, पर वे प्रभावहीन होती हैं। वैसी इच्छाएँ जो हम कार्यरूप में परिणत करना चाहें अर्थात् प्रभावशील हो वे प्रबल इच्छा (Wish) कहलाएगीं। पर प्रबल इच्छाएँ भी संकल्प में परिणत हो जाएँ, यह आवश्यक नहीं है। अपने दुश्मन की हत्या करने की मुझे प्रबल इच्छा हो सकती है, पर मै उसका संकल्प नही करता क्योंकि पकड़े जाने का डर है। वैसी प्रबल इच्छाएँ जो हम कार्य रूप में परिणत करना चाहते हैं संकल्प हैं।

वही प्रयोजन है अर्थात् वही प्रयोजन है जिसकी वजह से हम कोई काम करते हैं। अब प्रश्न है कि किसी कर्म का प्रवर्त्तक या कारण क्या है? यह दो हो सकता है—एक उत्तेजक और दूसरा प्रेरक अर्थात् कोई भावना (feeling) या किसी उद्देश्य का विचार (idea of some object)। दूसरे शब्दों में, या तो हमें किसी भावना से ही किसी कर्म के लिए प्रेरणा मिलती है या हम किसी लक्ष्य को प्राप्त करना चाहते है इसलिए उसका विचार ही हमे कर्म करने के लिए गति प्रदान करता है। पहले अर्थ मे किसी विशेष कर्म के लिए भावनाएँ (feelings, emotions) मनुष्य को उत्तेजित करती हैं। किसी न किसी भावना, जैसे, क्रोध, ईर्ष्या, सहानुभूति, दया इत्यादि के कारण ही मनुष्य कोई काम करता है। यदि सोचने विचारने के बाद कोई किसी की सेवा करता है तो यहा कर्म का प्रवर्त्तक सुख या सहानुभूति या दया की भावना ही है। अत सुख, दुख, दया इत्यादि भावनाएँ ही किसी कर्म के प्रयोजन (motives) हैं। यह मत सुखवादियो (मिल, वेन्थम, बेन आदि) का है। उनके अनुसार सुख और दुख की भावनाएँ ही कर्मों की प्रेरणाएं हैं। मनुष्य जो ऐच्छिक कर्म करता है वह इसी लक्ष्य से कि उससे सुख-प्राप्ति और दुख की निवृत्ति हो। मिल ने स्पष्ट रूप से बतलाया है कि प्रेरणा एक भाव (feeling) है जो कर्त्ता से कुछ करने का संकल्प करवाती है। अत इनके अनुसार भाव और संवेग (feeling and emotion) ही कर्म के प्रयोजन (motive) हैं।

उपर्युक्त मत में कठिनाइया हैं। पहली बात तो यह है कि नैतिक निर्णय वैसे ही कर्मों का होता है जो ऐच्छिक हैं अर्थात् जिसमें इच्छा, लक्ष्य, संकल्प आदि का समावेश हो। यदि मनुष्य केवल कोई भाव वा संवेग से उत्तेजित होकर कोई कर्म करता है तब वह ऐच्छिक नही कहा जा सकता। यदि हम किसी भाव के आवेश से प्रेरित हो कोई कर्म करें तब हमें उस कर्म का कर्त्ता नही मानना चाहिए। उस समय तो हमारी दशा पागलो और शराबियो की सी हो जाती है। क्या पागलो की क्रियाएँ ऐच्छिक होती हैं? क्या उसके लिए वे उत्तरदायित्व महसूस करते हैं? यदि कोई पत्थर फेंके और उससे आपको चोट लग जाय तो दोष किसका है—पत्थर का या फेंकनेवाले का? निश्चय ही फेंकनेवाले

का। यदि भावों और संवेगों के आवेश में कर्म किया जाता है तो हमारी दशा उस पत्थर ही की तरह है, इसलिए हमारे कर्म नैतिक नहीं हो सकते। मनुष्य के ऐच्छिक कर्म विवेकपूर्ण होते हैं। भावनाएँ होती हैं पर हम उनका विचार कर कोई निर्णय करके किसी लक्ष्य से ही कर्म करते हैं। इसलिए लक्ष्य का विचार ही कर्म का प्रेरक होता है।

दूसरी बात यह है कि मनुष्य विवेकशील प्राणी है। केवल अन्धभाव (blind feelings) और संवेग ही उसे कर्म के लिए प्रेरित नहीं कर सकते। किसी सिनेमा घर में, पर्दे पर, विधवा के कष्टों की तस्वीर देखकर दुख से आंसू निकल आते हैं पर हम धन देकर उसकी सहायता के लिए दौड़ नहीं पड़ते। भाव और संवेग उठते हैं पर जब तक हम उनके अनुकूल कर्म करने की इच्छा नहीं करेंगे कर्म कैसे होगा? उन भावों और संवेगों पर विचार कर जब हम उन्हें अपनी इच्छा में परिवर्तित कर देते हैं और वैसा ही लक्ष्य बना कर उसे प्राप्त करने का संकल्प करते हैं तो कर्म होता है। मनुष्य कर्मों में भावना-शून्य नहीं रहता। पर भावनाएं कर्म के केवल निमित्त कारण (efficient cause) हैं। उन्हें कर्म का अन्तिम कारण (final cause) नहीं कहा जा सकता। लक्ष्य का विचार ही किसी कर्म का अन्तिम कारण है। म्यूरहेड ने कहा है कि एकान्त रूप से भावना किसी कर्म के प्रयोजन नहीं हैं। कोई कर्म भावनाओं से आरम्भ हो सकता है पर अन्त में विचार कर जब कोई लक्ष्य चुन लिया जाता है तो उसी की प्राप्ति के लिए कर्म होते हैं। भावनाएँ उठ सकती हैं और यदि हम उनके अनुसार कर्म करने की इच्छा न करें तो वे दब भी जाती हैं। कर्म, इसीलिए, लक्ष्य के विचार से ही होता है। ग्रीन तथा मैकेंजी का भी यही मत है। ग्रीन के अनुसार मनुष्य लक्ष्य के विचार (idea of the end) को ही सामने रख उसकी प्राप्ति के लिए कर्म में प्रेरित होता है। मैकेंजी ने बतलाया है कि नैतिक कर्म ऐच्छिक होते हैं और वे साधारणत भावना प्रधान नहीं होते। भावना उनके लिए पर्याप्त नहीं; उनके साथ-साथ साध्य का विचार भी आवश्यक है।

कुछ मनोवैज्ञानिकों ने प्रयोजन शब्द को 'अभाव', 'उस लक्ष्य का विचार जिससे अभाव की पूर्त्ति होगी', 'इच्छा की जटिल स्थिति', आदि अर्थों में व्यवहार किया है। पर वास्तव में अभाव की भावना, उस लक्ष्य का विचार जिससे अभावपूर्त्ति का विश्वास है, इच्छा आदि मानसिक क्रियाएँ एक दूसरे से इतने अभिन्न हैं कि सबो की मिश्रित स्थिति को प्रयोजन (motive) कहा जा सकता है। पर चूँकि इन सबो मे 'लक्ष्य का विचार' ही प्रधान रूप से कर्म के लिए हमें प्रेरित करता है इसीलिए उसे ही प्रयोजन कहना ठीक होगा।

किसी भी कर्म में विविध इच्छाएँ उठती हैं और अनेको लक्ष्य के विचार हमारे समक्ष आते हैं। क्या सभी को प्रयोजन मानना चाहिए या केवल वैसे ही लक्ष्य के विचार को जो अन्त में मनुष्य किसी कर्म के पहले चुन लेता है? वास्तव मे चुनी हुई इच्छा को ही प्रयोजन मानना चाहिए क्योंकि वही कर्म के लिए प्रेरित करती है। विविध इच्छाएँ कर्म की प्रेरणा नही होतीं। केवल वैसी ही इच्छा के अनुसार कर्म होता है जिसे उन विविध इच्छाओं मे चुन लिया जाता है। ड्यूई ने कहा है कि 'कोई इच्छा जब चुन ली जाती है वही प्रयोजन हो जाता है'। म्यूरहेड ने भी इसका समर्थन ऐसे किया है कि प्रयोजन चुनी हुई इच्छा या उद्देश्य है। पर जब हम 'प्रयोजनो का सघर्ष' कहते हैं तब वहा 'कोई साध्य-विचार (लक्ष्य का विचार)' ही प्रयोजन माना जायगा क्योंकि संघर्ष तो तभी तक है जब तक चुनाव नहीं हुआ हो।

प्रयोजन में भावना और बुद्धि दोनों का सामञ्जस्य है। इच्छाओं का भावनाओं से ही उदय होता है, बुद्धि जब उन्हें चुन लेती है तो उसे प्रयोजन कहा जाता है। अतः इसमें भावना और बुद्धि दोनों सम्मिलित हैं।

अभिप्राय (Intention)

किसी ऐच्छिक कर्म मे मनुष्य जो भी चाहता है वे सभी अभिप्राय हैं। किसी भी कर्म का अभिप्राय पूछे जाने पर कोई एक बात बता दी जाती है; पर वास्तव में केवल वही अभिप्राय नहीं बल्कि वे सभी बातें जो हम चाहते हैं। मान

लें कि मुझे किसी से रुपया लेने जाना है। वहा पहुंचने के लिए हम बस पकड़ने जा रहे हैं। यदि कोई यह पूछे कि उधर जाने का अभिप्राय क्या है तब हम बहुधा कह देते हैं कि अमुक व्यक्ति के यहा जाना हमारा अभिप्राय है। पर अभिप्राय हमारा केवल वही नहीं बल्कि बस पकड़ना भी है। इसलिए अभिप्राय विविध प्रकार के हैं।

(१) कर्म के तत्कालिक (immediate) और (२) दूरस्थ (remote) अभिप्राय—एक पिता अपने पुत्र को नहीं पढने के लिए दण्ड देता है। यहा तत्कालिक अभिप्राय तो है उसे चोट पहुँचाने पर दूरस्थ अभिप्राय है अपने पुत्र की भलाई। तत्कालिक और दूरस्थ दोनों को मिलाकर ही सम्पूर्ण अभिप्राय हुआ।

(२) आन्तरिक (inner) और वाह्य (outer) अभिप्राय—यदि कोई विद्यार्थी किसी शिक्षक को केवल परीक्षा के समय ही सत्कार कर रहा हो तो उस कर्म का वाह्य अभिप्राय तो आदर की भावना है पर आन्तरिक अभिप्राय है परीक्षा मे सफल होना। आन्तरिक और वाह्य अभिप्राय मिलकर ही किसी कर्म का सम्पूर्ण अभिप्राय होता है।

(३) प्रत्यक्ष (direct) और परोक्ष (indirect) अभिप्राय मिलकर ही किसी कर्म का सम्पूर्ण अभिप्राय होता है। यदि किसी दुश्मन का वध करने के लिए किसी ने गाड़ी को उलट दिया तो प्रत्यक्ष अभिप्राय तो दुश्मन को मारना ही था पर परोक्ष अभिप्राय हुआ गाड़ी में बैठे हुए सभी यात्रियों की मृत्यु।

(४) चेतन (conscious) और अचेतन (unconscious) अभिप्रायों में भी अन्तर होता है। आधुनिक मनोविज्ञान ने मनुष्य के व्यवहार में उसके अचेतन मन का बहुत अधिक प्रभाव बतलाया है। हमारे कर्मों के चेतन अभिप्राय से भिन्न अचेतन अभिप्राय भी हो सकता है। ऐसी स्थिति में मनुष्य अपने कर्मों का वास्तविक अभिप्राय स्वयं नहीं जानता। वह जिस अभिप्राय से दूसरे के समक्ष कोई कर्म कर रहा है वह केवल वास्तविक अभिप्राय का आवरण मात्र है।

(५) किसी राजनैतिक संस्था के एक ही कर्म में आदर्शगत (formal) और

वस्तुगत (material) अभिप्राय दोनों होते हैं। भारत की समाजवादी पार्टी तथा हिन्दू महासभा दोनों ही कांग्रेस सरकार को बदलना चाहती है। अतः दोनों के वस्तुगत अभिप्राय एक ही हैं, कांग्रेस सरकार को बदलना पर आदर्शगत अभिप्राय दोनों के भिन्न हैं। एक पार्टी इसलिए ऐसा चाहती है कि कांग्रेसी सरकार पूँजीवादी है और दूसरी इसलिए कि यह अधिक प्रगतिशील है।

किसी ऐच्छिक कर्म में जितने भी उद्देश्य होते हैं सभी अभिप्राय हैं। अतः अभिप्राय में निम्नलिखित बातें होती हैं—

(i) कर्म का मुख्य प्रयोजन (motive) जिसके लिए कर्म किया जाता है,

(ii) उन साधन का विचार जिससे साध्य प्राप्ति की आकांक्षा है। पिता पुत्र को दण्ड देता है। यहाँ दण्ड देना साधन है मुख्य लक्ष्य को प्राप्त करने का। अभिप्राय में वह भी शामिल है।

(iii) कुछ प्रत्याशित फलों का विचार। पुत्र को दण्ड देने से उसे कष्ट होगा ऐसा ज्ञान रहता है पर पिता वैसा चाहता है क्योंकि उससे ही उसके बालक के सुधार की उम्मीद रहती है। अतः ऐसे प्रत्याशित फलों का विचार भी अभिप्राय में शामिल है जो इच्छा किए जाने लायक नहीं है पर हम वैसा भी चाहते हैं क्योंकि उनके बिना काम नहीं चल सकता।

अभिप्राय चूँकि चुने हुए लक्ष्य और साधन का विचार है इसलिए यह मनुष्य के चरित्र को प्रकाशित करता है। इसमें वह जिसके लिए कर्म किया जाता है (persuasive) और वह जिसके निवारणार्थ (dissuasives) कर्म होता है, दोनों शामिल हैं अर्थात् इसमें प्रवर्तक और निवारक दोनों हैं। पिता अपने पुत्र के हित के लिए उसे दण्ड देता है। यहाँ पुत्र का हित प्रवर्तक है क्योंकि इसके लिए कर्म किया जाता है। दण्ड देना, चोट पहुँचाना निवारक है पर इसके लिए भी कर्म होता है। अतः संक्षेप में अभिप्राय में प्रयोजन (motive) और साधन (means) दोनों शामिल हैं।

प्रयोजन (motive) और अभिप्राय (intention)

प्रयोजन और अभिप्राय सम्बन्धित हैं। मिल और बेन्थम भावना और [illegible] को ही प्रयोजन मानते हैं और जिस लक्ष्य से कर्म प्रेरित होता है उसके

विचार को अभिप्राय। अतः उनके अनुसार प्रयोजन कर्म का निमित्त कारण (efficient cause) और अभिप्राय अन्तिम कारण (final cause) है। उनके अनुसार अभिप्राय मे कर्म के साधन का विचार शामिल नहीं है। पर यह मत दोषपूर्ण है। प्रयोजन अर्थात् कर्म को प्रेरित करनेवाला वह है जिसके लिए कर्म किया जाता है अर्थात् लक्ष्य का विचार और जिसके द्वारा लक्ष्य-प्राप्ति का विचार है अर्थात् साधन। अत. दोनो ही कर्म के अन्तिम कारण हैं। प्रयोजन अभिप्राय का एक अश है। अभिप्राय प्रयोजन की तुलना मे अधिक व्यापक है। इसके अन्दर प्रयोजन शामिल है और साथ-साथ साधन का विचार भी। प्रयोजन सम्पूर्ण अभिप्राय नहीं है। कर्म का प्रयोजन वह है जिसके लिए कर्म किया जाता है। लक्ष्य का विचार सुखप्रद होता है। यह हमे कर्मों के लिए प्रेरित करता है। पर इसे प्राप्त करने के लिए किसी न किसी साधन का प्रयोग करना पड़ता है। यह साधन सुखप्रद भी हो सकता है। अभिप्राय मे दोनो शामिल हैं, प्रवर्तक और निवारक। पिता पुत्र को उसके हित के लिए दण्ड देता है। यहाँ लक्ष्य है पुत्र का हित। यह सुखप्रद है। इसी का विचार प्रयोजन हुआ। पर पुत्र के हित के साथ तत्काल उसे हम चोट पहुचाना चाहते हैं। चोट पहुंचाना उस लक्ष्य को प्राप्त करने का साधन है। यह दुखप्रद है, निवारक है। पर यह भी उस कर्म का अभिप्राय है। प्रयोजन दूरस्त, आन्तरिक, वस्तुगत और बहुधा प्रत्यक्ष अभिप्राय है।

चरित्र (character) और आचरण (conduct)

साधारणत· अच्छे आचरणवालों को चरित्रवान कहा जाता है। पर इस शब्द का यह वास्तविक अर्थ नही है।

चरित्र का अर्थ है मनुष्य की अपनी मानसिक और नैतिक प्रकृति जिसके कारण वह दूसरे मनुष्य से भिन्न है। विवेक-बुद्धि (rationality) मनुष्य का विशेष गुण है। इसके कारण ही मनुष्यों मे समानता है पर उनमें भेद भी होता है, उनकी शारीरिक प्रकृति (physical constitution) या उनकी मानसिक और नैतिक प्रकृति (mental and moral consti-

tution) के कारण। मनुष्य की मानसिक या नैतिक विशेषताओं को ही उसका चरित्र कहा जाता है। अब प्रश्न है कि उसकी मानसिक और नैतिक प्रकृति क्या है? मनुष्य की कुछ प्रवृत्तियाँ जन्म से ही रहती हैं। आरम्भ में बहुत अंशो मे वे ही हमारे कर्मों की निर्णायक होती हैं। जिस प्रकार की प्रवृत्ति होती है हमारी इच्छा भी उसी प्रकार की होती है। किसी काम मे जब 'करें' या 'न करें' का द्वन्द्व होता है तो उन्हीं के कारण किसी एक ओर हम झुकते हैं। पर बचपन में हमारी क्रियाएं समान नहीं होतीं। कभी तो हम उचित कर्म का संकल्प करते हैं और कभी अनुचित कर्म का। जैसे-जैसे हमारा विकास होता है वैसे-वैसे उन प्रवृत्तियो का बुद्धि द्वारा नियंत्रण और परिष्कार कर उचित या अनुचित संकल्प करने का हमे अभ्यास पड़ता जाता है। पहले तो हम कभी उचित और कभी अनुचित इच्छा करते हैं पर पीछे हमारे संकल्प मे एकता आ जाती है। यह एकता अभ्यास के कारण होती है। जिस प्रकार साइकिल सीखना आरम्भ करने पर हम कभी गिरते और कभी नहीं गिरते हैं पर चलाने का अभ्यास हो जाने पर हमारी उस क्रिया में समरूपता (uniformity) आ जाती है, उसी प्रकार पहले इच्छा एक समान न रहने पर भी पीछे किसी ओर इच्छा करने का अभ्यास हो जाने पर हमारे आचरण में समरूपता आ जाती है। विचार-प्रवृत्ति भी दृढ हो जाती है और प्रत्येक मनुष्य के विचार करने की रीति व्यक्तिगत हो जाती है। विशेष ढंग की इच्छा के अभ्यास को और विचार-रीति को मनुष्य का नैतिक और मानसिक प्रकृति कहा जाता है। इसलिए चरित्र का अर्थ हुआ संकल्प (इच्छा) का अभ्यास। अच्छे या बुरे चरित्र का मतलब हुआ जो अभ्यासपूर्वक अच्छा संकल्प करे या बुरा अर्थात् अनुचित संकल्प करे।

चरित्र स्वभाव से भिन्न है क्योंकि स्वभाव प्राकृतिक है। यह नैतिक जीवन का प्राकृतिक उपादान (means) है। स्वभाव सभी सहजात प्रवृत्तियों और वासनाओं को कहा जाता है। पर चरित्र अर्जित होता है। यह उनकी स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति का कार्य है। इसमे मनुष्य की इच्छा, इच्छा-संघर्ष, विचारना अर्थात् विवेक और लक्ष्य का विचार ही काम करता है।

उसके सामने परिस्थितिया रहतीं है ; कभी-कभी उन्हीं परिस्थितियों के अनुसार और कभी उनके विपरीत भी वह कार्य करता है। दूसरे प्राणियों से उसकी क्रिया इसी में भिन्न है कि वे प्रकृति के अनुकूल या स्वभाव के अनुसार ही क्रिया करते हैं पर मनुष्य मे स्वतन्त्र इच्छा-शक्ति है। वह उचित-अनुचित का विचार कर अपनी स्वतन्त्र इच्छाशक्ति के अनुसार कर्म करता है। हम अपने चरित्र का स्वयं निर्माण करते हैं। अच्छे संकल्प का अभ्यास डाल कर अच्छा चरित्र और बुरे संकल्प के अभ्यास से हम बुरा चरित्र बना डालते हैं। इस प्रकार मनुष्य के चरित्र में विकास सम्भव है।

एक दो अवसर पर अच्छे कर्म कर लेने पर चरित्र अच्छा नही हो जाता। सदा उचित इच्छा रखने पर ही किसी का चरित्र अच्छा कहा जा सकता है।

आचरण (conduct) मनुष्य का ऐच्छिक या अभ्यासजन्य कर्म है। ऐच्छिक कर्मों मे मनुष्य की इच्छा, संकल्प आदि रहते हैं। यह मनुष्य का सचेतन इच्छा-युक्त कर्म है। किसी अवसर पर इच्छापूर्वक जो कर्म मनुष्य करता है वह तो जिस प्रकार वह सदा इच्छा करता आया है उसी पर निर्भर है। इसलिए आचरण 'इच्छा के अभ्यास' अर्थात् चरित्र पर निर्भर है। आचरण मनुष्य के चरित्र का व्यक्त (manifested) रूप है। इच्छा करने का अभ्यास जैसा रहता है मनुष्य का किसी अवसर पर वैसा ही आचरण होता है। आचरण किसी अवसर पर की गई इच्छा को कहा जाता है। इसलिए चरित्र का सम्बन्ध हमारे सम्पूर्ण व्यक्तित्व से है, आचरण का हमारे कर्म से। दोनों का सम्बन्ध वैसा ही है जैसा वृक्ष का जड और उसके फल मे सम्बन्ध रहता है। दोनों का पारस्परिक सम्बन्ध है। जैसा चरित्र होता है वैसा ही आचरण होता है और जैसा आचरण होता है वैसे ही चरित्र का निर्माण होता है।

मनुष्य का आचरण उसके चरित्र पर निर्भर है। पर बाह्य परिस्थितियों भी अंशत उसके आचरण को प्रभावित करती हैं। भौतिक और सामाजिक वातावरण ही बाह्य परिस्थितिया हैं।

इस विचार से ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य के आचरण के निर्धारक दो तत्त्व हैं, एक उसका चरित्र और दूसरी वाह्य परिस्थिति। पर चरित्र और वाह्य परिस्थिति को विलकुल स्वतंत्र मान लेना भूल है। वाह्य परिस्थितिया चरित्र से पूर्णत स्वतंत्र नहीं हैं। किसी भी स्थिति या वातावरण को परिस्थिति मानना, जिससे हम कोई कर्म के लिए वाध्य हों, हमारे चरित्र पर निर्भर है। एक ही परिस्थिति हमे कोई कर्म के लिए वाध्य करती है और दूसरे को नहीं। अपनी जान जाने के डर से किसी को डूबने से वचाने हम नहीं जाते पर कुछ लोग उसकी परवाह न करके पानी मे कूद जाते हैं। डूबने का डर हमारे कर्म के लिए एक परिस्थिति हुई जिससे उचित कर्म के लिए मजवूर हुए पर वही दूसरे के लिए कोई वाधक परिस्थिति नहीं हुई। इसलिए वाह्य वातावरण ही केवल परिस्थिति नहीं है वल्कि उस वातावरण को परिस्थिति मानना हमारे चरित्र पर निर्भर है।

अभ्यास (Habit), ज्ञान और सद्गुण (Virtue)

ऐच्छिक कर्मों को वार-वार करने से उसका अभ्यास हो जाता है। आरम्भ में ऐच्छिक कर्मों के लिए संकल्प तथा प्रयत्न की आवश्यकता होती है पर वार-वार वही करते रहने से उसके लिए संकल्प या चेतना की आवश्यकता नही रहती। वह कर्म आप से आप विना प्रयत्न और संकल्प के शीघ्र ही सम्पन्न हो जाता है। यही अभ्यास है। अत अभ्यास इच्छा-युक्त कर्म नही पर इसका प्रारम्भ इच्छा-युक्त कर्मों से होता है। यह गौण रूप से ऐच्छिक कर्म है। इसका महत्त्व नैतिक जीवन मे कम नहीं। किसी आचरण के अभ्यास से ही चरित्र का निर्माण होता है। सुकरात ने ज्ञान को ही धर्म (सद्गुण) कहा है। वहा ज्ञान का अर्थ है विशेष अवस्था मे मनुष्य के कर्त्तव्यों का ज्ञान। ऐसा ज्ञान नैतिक विवेक से ही सम्भव है। पर अरस्तू ने धर्म को अभ्यास कहा है। नैतिक विवेक के रहने पर भी हम वुरे कर्म करते हैं। नैतिक विवेक से हम किसी कर्म को उचित समझ लेते हैं पर उसके विपरीत अनुचित को ही करते हैं। इसलिए कर्त्तव्यों के अभ्यास से ही धर्म की उत्पत्ति होती है।

वास्तव मे धर्म के लिए विवेक और अभ्यास दोनों आवश्यक हैं। नैतिक गुणों की पहचान और उसी का वार-वार आचरण अर्थात् अभ्यास आवश्यक है।

अतः मैकेंजी का विचार मान्य है कि धर्म में विवेक और अभ्यास दोनों हैं। अरस्तू ने ठीक ही विचारा है कि धार्मिक मनुष्य वह है जो एक वार नहीं बल्कि वार-वार कर्त्तव्यों का आचरण करता है और उसमे उसे आनन्द की अनुभूति होती है।

चरित्र का विकास

मानव चरित्र-स्थायी नहीं होता। उसके जीवन-काल में इसका विकास होता रहता है। चरित्र का विकास निम्नलिखित वातों पर निर्भर है—

(i) संकल्प-वल तथा सयम के अभ्यास पर,

(ii) नैतिक आदर्श की व्यापक धारणा तथा कर्त्तव्य की गहरी अन्तर्दृष्टि पर

(iii) कर्त्तव्यों के नित्य पालन पर, और

(iv) कर्मों में सच्चाई और सदाचार पर।

चरित्र के विकास मे समाज का अत्यधिक प्रभाव होता है। मनुष्य के मानसिक जीवन के विकास मे सामाजिक प्रभाव का अधिक महत्व है। समाज के द्वारा हमारे कर्मों की प्रशंसा और निन्दा होने से उसीके अनुकूल हमारे कर्म होते हैं और हमारा वैसा ही चरित्र होता है। अत आत्म चेष्टा के साथ-साथ सामाजिक प्रभावों के द्वारा ही चरित्र का विकास होता है।*

नैतिक दोष और प्राकृतिक दोष (Moral evil and Natural evil)

जव इच्छापूर्वक किसी मानव कर्म का परिणाम खराव हो तो उसे नैतिक दोष कहा जाता है। यह मनुष्य की स्वतंत्र इच्छा का

* आचार-शास्त्र मे इस वात के विचार का महत्त्व नहीं है कि चरित्र कैसे वना, इसका विकास कैसे हुआ, किन्तु इस वात का कि चरित्र के वनने के लिए किन-किन तत्त्वों की आवश्यकता है। चरित्र के वनने मे वातावरण ईंट-गारे का काम करता है पर जिस प्रकार विना कारीगर के ईंट-गारे से भवन-निर्माण नहीं होता उसी प्रकार विना स्वतंत्र-इच्छाशक्ति के चरित्र नहीं वन सकता। स्वतंत्र इच्छाशक्ति उस कारीगर के समान है जो भवन का निर्माण करता है।

Q. 7. 'The essential difference between man as a moral being and a mere animal is that the former has desire which he can will to satisfy and the latter has mere want.' Analyse the factors involved in the formation of a moral will.

Q. 8. What are the mental factors involved in a voluntary action? Explain and illustrate.

Q. 9. Point out the ethical importance of Habit. How is Habit related to will and character?

Q. 10. Analyse conduct and character and discuss their ethical significance.

Q. 11. Analyse Desire and point out its ethical significance.

Q. 12. Distinguish between Motive and Desire. What is meant by 'Universe of Desire'?

पाँचवाँ परिच्छेद

नैतिक चेतना (Moral consciousness)

नैतिक चेतना का अर्थ—चेतना का अर्थ है वोध या जानकारी। अतः नैतिक चेतना का अर्थ है नैतिक गुणों का वोध। उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म, पाप-पुण्य आदि नैतिक गुण हैं और उनके विचारने मे जो मानसिक स्थिति और क्रियाएँ होती हैं, उन्हें ही नैतिक चेतना कहा जाता है।

नैतिक चेतना के तत्त्व-- नैतिक चेतना एक जटिल मानसिक स्थिति है। इसमें किसी विषय का ज्ञान, भावना और क्रिया वर्त्तमान रहती है। इसलिए इसमें तीन तत्त्व हैं—ज्ञानात्मक (Cognitive), भावात्मक (Affective) और क्रियात्मक (Conative)।

१– ज्ञानात्मक तत्त्व (**Cognitive factors**)—नैतिक चेतना में नैतिक भेदों का ज्ञान रहता है। अत इसमें निम्नलिखित तत्त्व हैं:—

(क) नैतिक गुणो अर्थात् उचित और अनुचित के भेद का ज्ञान।

(ख) इस बात का ज्ञान कि नैतिक निर्णय का विषय ऐच्छिक कर्म है। ऐच्छिक कर्म मे लक्ष्य और साधन का पूर्व ज्ञान रहता है और आत्मचेतन प्राणी की स्वयं संचालित क्रियाएं हैं।

(ग) नैतिक नियम की चेतना—नैतिक निर्णय किसी नियम के आधार पर ही होता है। अत इसमे नैतिक नियम की भी चेतना रहती है।

(घ) नैतिक नियम किसी आदर्श की पूर्त्ति के साधन होते हैं। अतः नैतिक चेतना मे नैतिक आदर्श का भी ज्ञान रहता है।

(ङ) नैतिक निर्णय निर्णयात्मक शक्ति के द्वारा होता है। अतः नैतिक चेतना का सम्बन्ध नैतिक शक्ति से भी है।

(च) नैतिक निर्णयों में नैतिक-बंधन का भी बोध शामिल है । अच्छे कर्मों को करना चाहिए और बुरे कर्मों को नही करना चाहिए । 'चाहिए' का बोध नैतिक निर्णय मे रहता है। अत नैतिक चेतना मे दायित्व का बोध भी है ।

(छ) दायित्व से सम्बद्ध अधिकार का बोध है । अत नैतिक चेतना में नैतिक अधिकार का भी बोध है।

(ज) अच्छे कर्मों के करने पर जो गुण और बुरे कर्मो का आचरण करने से जो दोष हम अर्जन करते हैं, उसकी भी चेतना रहती है।

(झ) ऐच्छिक कर्मों के लिए व्यक्ति स्वयं जिम्मेवार होता है क्योंकि वे कर्म उसके अपने हैं । अत: नैतिक चेतना मे 'जिम्मेवारी' की भी चेतना रहती है

(ञ) जैसा कर्म कोई बराबर करता आया है उसे उसी के अनुसार धार्मिक या अधार्मिक विचार किया जाता है। अत. धर्म-अधर्म की भी चेतना इसमे वर्तमान रहती है।

२–भावात्मक तत्त्व (Affective factors)—नैतिक चेतना केवल बौद्धिक नहीं है, इसमें भाव भी वर्त्तमान रहते हैं। जब किसी कर्म का नैतिक निर्णय होता है तो प्रशंसा या निन्दा के भाव अवश्य रहते हैं। यदि कर्म अच्छा है तो प्रशंसा के भाव और कर्म बुरा तो निन्दा के भाव रहते हैं। इन भावनाओं को नैतिक भावना (Moral sentiment) कहा जाता है। नैतिक चेतना का यही भावात्मक तत्त्व है। नैतिक निर्णयों के साथ नैतिक भावनाओं के रहने का यह अर्थ नही है कि वे ही नैतिक निर्णयों के आधार हैं। हममें अच्छी या खराब भावना उत्पन्न करने से कोई कर्म अच्छा या बुरा नही होता। ये भावना नैतिक निर्णयों के उपरान्त होती है ।

३—क्रियात्मक तत्त्व (Conative factors)—नैतिक चेतना मे नैतिक आवेग और चुनाव की क्रिया भी वर्तमान रहती है।

(क) नैतिक आवेग (Moral impulse)—वैसे कर्म जो उचित विचारे जाते हैं उनके आचरण की प्रवृत्ति होती है और जो अनुचित विचारे जाते हैं उन्हे नहीं करने की प्रवृत्ति होती है। अच्छे कर्मों को करने की इच्छा और बुरे कर्मों को नहीं करने की इच्छा होती है।

(ख) चुनाव की क्रिया—करने और नही करने के संघर्ष के कारण चुनाव की क्रिया होती है। हम वैसे कर्मो को, जिन्हें अच्छा विचारते हैं, चुन लेते हैं और उन्हें ही करने का निश्चय करते हैं। अत नैतिक चेतना मे चुनाव की क्रिया भी वर्त्तमान है।

नैतिक चेतना की निम्नलिखित विशेषताएं हैं:—

(क) यह आवश्यक रूप से प्रभुत्वात्मक है—जब भी इस बात की चेतना होती है कि कोई कर्म उचित या अनुचित है तो वैसे कर्मों को करना या नही **करना** चाहिए, की चेतना होती है। ऐसी अवस्था में हमे दायित्व की चेतना रहती है।

(ख) यह मुख्यत सक्रिय है—नैतिक निर्णय का विषय ऐच्छिक कर्म है। ऐच्छिक कर्मों मे ही नैतिक गुणो की चेतना होती है, निष्क्रिय अनुभूतियों में नहीं। इसलिए यह मुख्यत सक्रिय अवस्था है।

(ग) यह मुख्यत सामाजिक है—नैतिक कर्म वे हैं जिनका समाज पर प्रभाव पड़ना हो। अत इस चेतना मे सामाजिक प्रभावो की भी चेतना रहती है।

(घ) नैतिक चेतना मे भावना का भी समावेश रहता है। कर्म के उचित रहने पर प्रशसा और अनुचित रहने पर निन्दा के भाव रहते हैं।

(ङ) यह विचारयुक्त होता है। नैतिक निर्णय मे कर्मों की तुलना किसी मापदण्ड से की जाती है, अत इसमे चिन्तन की आवश्यकता होती है।

नैतिक चेतना की स्थितियां (Conditions)

नैतिक चेतना मे नैतिक भेदो का ज्ञान आवश्यक है, अत यह निम्नलिखित स्थितियों में ही सम्भव है :—

(i) आत्मगत स्थितियाँ :—

(क) ऐच्छिक कर्म का ज्ञान। नैतिक गुण ऐच्छिक कर्मों में ही होते हैं, अत, ऐच्छिक कर्म का ज्ञान आवश्यक है।

(ख) नैतिक शक्ति—नैतिक गुणो के ज्ञान के लिए नैतिक शक्ति भी आवश्यक है।

(ग) नैतिक सिद्धान्तो को कर्मों पर लागू करने की बौद्धिक शक्ति अर्थात् विवेक।

(ii) विषयगत स्थितियाँ :—

(क) उन परिस्थितियो का रहना आवश्यक है, जिनसे यह अवसर मिलता है।

(ख) अन्य व्यक्तियो से अपना सम्बन्ध।

(ग) कोई नैतिक आदर्श।

नैतिक चेतना की उत्पत्ति

नैतिकता चेतना की उत्पत्ति के विषय में दो मत हैं—

(i) अनुभववाद—इस मत के अनुसार बाल अवस्था के अनैतिक अनुभवों से ही नैतिक चेतना का विकास होता है। जन्म से नैतिक चेतना वर्त्तमान नहीं रहती। बचपन मे हमे विशेष कर्मों को उचित या अनुचित सिखाया जाता है। उस अवस्था में हमारे लिए वे कर्म अनैतिक रहते हैं, इसलिए कि हममे नैतिक गुणों की चेतना नही रहती। बढकर हमे पूर्व अनुभव के आधार पर ही नैतिक गुणों की चेतना होती है।

(ii) अन्त अनुभूतिवाद (Intuitionism)—इस मत के अनुसार मनुष्य का स्वभाव ही नैतिक हैं। शारीरिक और बौद्धिक विकास के साथ-साथ उसकी नैतिक प्रकृति का भी विकास होता है। जिस प्रकार बचपन मे उसका विवेक, उसकी प्रकृति का एक तत्त्व, अस्फुटित रहता है पर धीरे-धीरे

उसका विकास होता है, उसी प्रकार नैतिक चेतना, उसकी प्रकृति का एक तत्त्व, बचपन मे अस्फुटित रहता है और धीरे-धीरे उसका विकास होता है। नैतिक चेतना का विकास बुद्धि के विकास पर निर्भर है। इसलिए अनुभव से नैतिक चेतना का विकास नहीं होता। अनुभव नैतिक चेतना के विकास में केवल सहायक है।

नैतिक भावना (Moral Sentiments)

नैतिक चेतना मे भावनाओं का भी समावेश रहता है। इन भावनाओं को नैतिक भावना कहा जाता है। नैतिक भावना का क्या अर्थ है?

नैतिक भावना का अर्थ—किसी भी कर्म का नैतिक निर्णय करने पर उसे उचित या अनुचित विचारा जाता है। कर्मों को उचित-अनुचित विचारने पर जो भावना या भावनाएँ उत्पन्न होती हैं, वे ही नैतिक भावनाएँ हैं। किसी वस्तु के सुन्दर और कुरूप विचारने पर जो भावनाएँ होती हैं, वे सौन्दर्य-सम्बन्धी भावनाएँ हैं; किसी वस्तु के ज्ञान होने पर जो भावनाएँ उत्पन्न होती हैं वे बौद्धिक भावनाएँ हैं; उसी प्रकार कर्मों के नैतिक गुणों के विचारने पर जो भावनाएं होती हैं वे नैतिक भावनाएं हैं। ये तीनो एक दूसरे से भिन्न हैं। नैतिक भावना मे (i) नैतिक आदर्शों के प्रति श्रद्धा होती है और (ii) कर्म को उचित विचार करने पर सन्तोष की भावना और अनुचित विचारने पर असन्तोष की भावना होती है। असन्तोष की भावनाएं लज्जा, पश्चताप आदि मे और सन्तोष की प्रशंसा, आनन्द, आदि मे व्यक्त होती है।

नैतिक भावना की विशेषताएँ—नैतिक भावनाओ के स्वरूप से यह स्पष्ट है कि वे (i) नि स्वार्थ, (ii) व्यावहारिक, (iii) नियामक तथा (iv) सामाजिक होती हं।

(i) नि स्वार्थता—ऐसी भावनाएं किसी स्वार्थ की पूर्ति के लिए नहीं उत्पन्न होती है।

(ii) व्यावहारिकता—नैतिक भावनाएँ हमारी क्रियाओं को प्रभावित करती हैं। यदि सन्तोष की भावना होती है तो हम वैसे कर्मों की ओर प्रवृत्त होते है।

(iii) नियामकता—नैतिक निर्णय में दायित्व की भावना रहती है। अतः वे अच्छे कर्मों की ओर हमें उत्तेजित करती हैं।

(iv) सामाजिकता—उचित या अनुचित का प्रश्न सामाजिक व्यवहारों के साथ ही उठता है। अत. नैतिक भावना में सामाजिक चेतना भी रहती है।

नैतिक भावना का वर्गीकरण—दार्शनिकों ने नैतिक भावनाओं के वर्गीकरण की चेष्टा की है। कालडरवूड ने बतलाया है कि नैतिक भावनाओं के मनोवैज्ञानिक स्वरूप मे भी अन्तर होता है। यह अन्तर जिसका नैतिक निर्णय किया गया है उसपर निर्भर है। हम किसी कर्म का मूल्यांकन (निर्णय) करते हैं या किसी व्यक्ति का। व्यक्ति में निर्णय स्वयं अपना हो सकता है या अन्य का। इनमें नैतिक भावनाएँ भी भिन्न होती हैं। उन्हे तीन वर्गों मे रखा जा सकता है, (i) कर्मों के नैतिक निर्णय मे जो नैतिक भावनाएँ होती हैं, (ii) अपना निर्णय करने पर जो नैतिक भावनाएँ होती हैं और (iii) अन्य का नैतिक निर्णय करने पर जो नैतिक भावनाएँ होती हैं।

इन तीनों के अतिरिक्त नैतिक आदर्श के लिए जो श्रद्धा की भावना होती है, यह भी नैतिक भावना का ही एक प्रकार है।

कर्मों के निर्णय करने पर यदि वह उचित है तो सुखात्मक भावनाएँ और अनुचित तो दुःखात्मक भावनाएँ होती है।

अपना निर्णय करने पर आत्म-ग्लानि या आत्मसन्तोष की भावनाएँ होती है। आत्म-ग्लानि की भावना प्रायश्चित का रूप ले लेती है। अन्य व्यक्तियों का निर्णय करने पर प्रशंसा या निन्दा की भावनाएँ होती हैं। ये भावनाएँ प्रेम या घृणा का रूप ले लेती हैं।

इनके अतिरिक्त नैतिक आदर्शों के लिए श्रद्धा की भावना होती है।

नैतिक भावना की उत्पत्ति—

नैतिक भावना नैतिक गुणों से उत्तेजित होती है। अत उन्ही की भाँति ये भी मौलिक हैं। अनुभववादियो ने स्वार्थ या परार्थ की भावना से इनकी उत्पत्ति बतलाया है। उनके अनुसार स्वार्थ या परार्थ की भावना से नैतिक भावनाओं का विकास हुआ है। पर यह मत मान्य नहीं है क्योंकि भावनाएँ अनुभूतियो से अधिक प्रबल होती हैं। दूसरे यह भी कि नैतिक भावनाएँ विश्वास पर आश्रित हैं। वे मौलिक हैं और मनुष्य में अन्य भावनाओं की भाँति स्वभावत हैं।

नैतिक भावना और नैतिक निर्णय मे सम्बन्ध (Relation between Moral Sentiment and Moral Judgement)

नैतिक चेतना मे दोनों तत्त्व हैं, बौद्धिक और रागात्मक। दोनों में कौन प्राथमिक है अर्थात् नैतिक निर्णय पर नैतिक भावना आश्रित है या नैतिक भावना पर नैतिक निर्णय ? यदि हम किसी कर्म का निर्णय करते हैं कि वह उचित है तो हममें सुखात्मक भावना की अनुभूति होती है, इसमें कर्मों से सुखात्मक भावना की अनुभूति होती है इसलिए वह कर्म उचित विचारा जाता है या वह कर्म उचित विचारा जाता है इसलिए सुखात्मक भावना की उत्पत्ति होती है ? इसके विषय मे दो विरोधी विचार हैं।

(i) नैतिक इन्द्रियवाद (Moral Sense Theory)—इस मत के अनुसार नैतिक भावनाएँ नैतिक निर्णय के आधार हैं। कर्मों से नैतिक भावनाएँ उत्पन्न होती हैं और जैसी भावना होती है वैसा ही गुण उस कर्म मे विचारा जाता है। यदि कर्मों से सुखात्मक भावनाओं की उत्पत्ति हुई तो वह उचित और यदि दुखात्मक भावना की तो वह अनुचित निर्णय किया जाता है। अत नैतिक भावनाओं पर ही नैतिक निर्णय आश्रित है।

(ii) बुद्धिवाद (Rationalism)—इस मत के अनुसार नैतिक निर्णय पर ही नैतिक भावना आश्रित है। कर्मों को उचित या अनुचित निर्णय कर लेने

पर, सुखात्मक या दुखात्मक भावनाएं उत्पन्न होती हैं। यदि कर्मो के नैतिक गुणों का पहले बोध हो जाय तो भावनाएं उत्तेजित किनसे होंगी? कर्मो में नैतिक गुणों का बोध होने पर वे गुण ही हममे भावनाओं को उत्तेजित करते हैं। कर्मों के अनुचित रहने पर सुखात्मक भावना और उचित रहने पर दुखात्मक भावना उत्तेजित होती है।

उपरोक्त विचारों में बुद्धिवाद ही मान्य है। नैतिक इन्द्रियवाद में अनेक कठिनाइयाँ हैं।

(i) नैतिक इन्द्रियवाद के अनुसार नैतिक निर्णय भावनाओ पर आश्रित हैं। पर भावनाएँ अन्ध और वैयक्तिक होती है, अत भिन्न व्यक्तियो में वे भिन्न रहती हैं। इसलिए एक ही कर्म का मूल्य भिन्न व्यक्तियो के लिए भिन्न हो जायगा।

(ii) नैतिक भावनाओं में दायित्व की भावना कहाँ से आती है?

(iii) कर्मों में यदि नैतिक गुणो का बोध न हो तो भावनाएँ उत्तेजित किससे होती है? अत. नैतिक भावना के पहले नैतिक गुणों का ज्ञान आवश्यक है।

(iv) अन्तर्निरीक्षण से भी नैतिक निर्णय का प्राथमिक स्थान का प्रमाण मिलता है।

(v) मनुष्य की प्रकृति मे बुद्धि का भावना से अधिक महत्त्वपूर्ण स्थान है। साधारणत बुद्धि से ही यह अधिक प्रभावित होते हैं। अत नैतिक निर्णय ही आधार है नैतिक भावना का पर नैतिक निर्णय भावनाशून्य नही है। भावनाओं का भी नैतिक निर्णयों पर प्रभाव पडता है। भावनाओं का नैतिक जीवन पर कम प्रभाव नहीं है। प्रचलित रीति-रिवाजो से हमारी भावनाएँ सम्बन्धित हो जाती हैं और हमारे जीवन तथा हमारे नैतिक निर्णयो पर उनका प्रभाव पडता है।

नैतिक भावना का कार्य—नैतिक भावनाएं कर्मों के नैतिक गुण के मापदंड नही हैं, पर उनका भी नैतिक जीवन में बहुत महत्त्व है। नैतिक

भावनाओं को अन्तःकरण की ध्वनि (voice of conscience) कहा जाता है। वे कर्मों की नैतिकता के मापदंड तो नहीं हैं पर नैतिक गुणों का उनसे संकेत अवश्य मिलता है। कोई कर्म यदि हममें दुःखात्मक भावना उत्तेजित करता है तो इससे हम उसे उचित कर्म नहीं कह सकते। पर यदि कोई कर्म उचित है तो उससे सुखात्मक भावना की उत्पत्ति होती है। अतः भावना कर्मों के नैतिक गुणों का मापदंड नहीं है पर संकेत अवश्य है। अतः नैतिक भावनाओं का सांकेतिक मूल्य है।

नैतिक भावनाएं हमें अच्छे कर्मों की ओर उत्तेजित करती हैं और बुरे कर्मों से बचाती हैं। अच्छा कर्म करने पर उल्लास और बुरा कर्म करने पर पीड़ा का अनुभव होता है। अतः नैतिक भावनाएं एक प्रकार के नैतिक अनुमोदन हैं। पर बार-बार बुरे कर्मों के करने पर भावना शून्य होती जाती है। पहली बार हत्या करने पर जिस पीड़ा का मनुष्य अनुभव करता है वह कई बार हत्या कर लेने पर वैसा अनुभव नहीं रहता। पर भावना शून्य होने पर मनुष्य मनुष्य नहीं रह जाता, वह पशु हो जाता है।

नैतिक चेतना की उत्पत्ति तथा विकास (Origin and growth of moral consciousness)

मनुष्य की नैतिक प्रकृति (Moral nature of man)—मनुष्य एक नैतिक प्राणी है। उसमें केवल आत्म-चेतना ही नहीं नैतिक चेतना भी स्वभावतः रहती है। उचित-अनुचित, दायित्व आदि की चेतना उसमें स्वाभाविक है। मानव-जीवन के अन्य आवश्यक तत्त्वों (जैसे बुद्धि) की भांति इसका भी किसी व्यक्ति में धीरे-धीरे विकास होता है। जिस प्रकार बचपन में विवेक या बुद्धि का सर्वथा अभाव नहीं रहता वल्कि वे बीज रूप में वर्त्तमान रहते हैं और धीरे-धीरे उनका विकास होता है वैसे ही नैतिक चेतना का व्यक्ति के जीवन में कभी सर्वथा अभाव नहीं रहता वल्कि बीज रूप से धीरे-धीरे उनका भी विकास होता है। इसलिए अनैतिक शक्तियों से नैतिक चेतना की उत्पत्ति नहीं

होती। यदि मनुष्य के स्वभाव मे नैतिक चेतना नहीं होती तो फिर वह उत्पन्न कैसे हो जाती है ? इसलिए मनुष्य स्वभाव से ही नैतिक है ।

व्यक्ति मे नैतिक चेतना का विकास उसकी अन्य शक्तियो की भाति धीरे-धीरे होता है। पर मानव जाति मे नैतिक चेतना का विकास कैसे हुआ, हमें इसका विचार करना है ।

मनुष्य स्वभाव से ही नैतिक है, इसलिए आदि काल से ही नैतिकता का बीज उनमे निहीत है । स्पेंसर आदि विचारको का मत कि मनुष्य में नैतिकता का विकास अनैतिक तत्त्वो से हुआ है, मान्य नहीं है। अनैतिक से नैतिकता का विकास कैसे सम्भव है ? अनैतिक मानव नैतिक कैसे होगा ? वन्दर-वाघ प्रकृति से मनुष्य मे प्रेम और सहानुभूति की उत्पत्ति या विकास कैसे होगी ? अत मनुष्य अपने अस्तित्व-काल से ही यदि विकसित रूप में नहीं तो अविकासित रूप में नैतिक है। किसी न किसी रूप मे नैतिकता अर्थात् उचित-अनुचित भेद-ज्ञान मनुष्य में आरम्भ से ही है। मनुष्य की वर्वर अवस्था के इतिहास से अनुचित का भी उसमें नैतिक भेदो की चेतना का प्रमाण मिलता है। समाज-शास्त्रियों ने वतलाया है कि जंगली जातियो मे भी आचरण के नियम हैं। उनके आचरण भी 'क्या करना चाहिए', या क्या नहीं करना चाहिए इसी दृष्टिकोण से संचालित होते हैं। पर उनके विचार में अन्धविश्वास और विवेक का अभाव मिलता है। वेस्टरमार्क ने नैतिक विचारों के विषय मे वतलाया है कि जंगली जातियो के अनेक नैतिक विचार आज के सभ्य समाज के नैतिक विचारो के समान हैं । जाने ने वतलाया है कि नैतिक दृष्टि से देश और काल को अलग या भिन्न नहो कर सकते हैं । भिन्न आचार-विचार रहने पर भी मनुष्य-मनुष्य के नैतिक विचारो में आन्तरिक समता मिली है। पर आरम्भ मे नैतिक विचार विवेकयुक्त नहीं रहता । इसका आरम्भ परिचलनो (Customs) से होता है और सामाजिक प्रगति के साथ-साथ यह विवेकयुक्त (Reflective) होता है। वोसाक्वे ने इसी भेद को दूसरे रूप मे व्यक्त किया है। उसके आधार पर नैतिक विचार और

नैतिकता के विचार (Moral idea and idea about morality) मे अन्तर है। किसी नैतिक विचार से हम प्रभावित हो सकते हैं पर यह आवश्यक नहीं कि हमने उस विचार का चिन्तन किया हो। जब हम उन विचारो का चिन्तन करते हैं, तो वह नैतिकता का विचार (Idea of morality) हुआ। मैकेंजी ने नैतिकता के विचार को नैतिक-सिद्धात का विचार (Ethical idea) कहा है। नैतिक विचार वे हैं जिनके सिद्धातों पर विचार नहीं किया जाता, उनका पालन किया जाता है। नैतिकता का विचार वह है जिसमे सिद्धातों का विचार और मीमासा होती है। आज के युग मे भी हम अधिकतर नैतिक विचारो की मीमासा नही करते। मनुष्य: अधिकतर नैतिक विश्वासो के आधार पर आचरण करता है, नैतिक विवेक के आधार पर नहीं; अत नैतिक चेतना का विकास नैतिक विचारों से नैतिकता के विचार की ओर वे मानते हैं।

नैतिक चेतना का विकास-क्रम

मनुष्य एक सामाजिक प्राणी है। पर समाज का रूप सदा से एक-सा नहीं है। समाज के भी भिन्न रूप हैं और उनका विकास होता रहता है। नैतिक चेतना का सामाजिक परिवर्त्तनों के साथ-साथ विकास होता है। जैसा समाज, वैसे उसके नैतिक विचार। मनुष्य के नैतिक विचारों के इतिहास से यह स्पष्ट है कि नैतिकता का प्रारंभ प्रचलनों से हुआ है। मनुष्य बराबर समुदाय (Group) में रहता है। समुदाय का आदि रूप झुण्ड, परिवार, जाति, आदि हैं। एक वंश के लोग एक झुण्ड मे और इसी प्रकार अलग-अलग झुण्डो में वे रहा करते थे। किसी झुण्ड के प्रत्येक व्यक्ति मे यह चेतना कि वह उस झुण्ड का अंश है प्रबल रहती थी। उनकी समान रुचि, समान कल्याण और समान विपत्तियां हुआ करती हैं। उस अवस्था में व्यक्ति को स्व की चेतना उतनी नहीं रहती जितनी अपने झुण्ड या समाज की। मनुष्य की

इस अवस्था मे प्रचलन और नैतिक आचरण में कोई अन्तर नही रहता। जाति या झुण्ड के रीति-रिवाज ही प्रचलन हैं। किसी समुदाय में जो कर्मों की रीति बन जाती है और जिसके पालन की समुदाय के व्यक्ति दायित्व महसूस करते हैं उसे ही हम प्रचलन कहते हैं। प्रचलन कर्मों का स्थिर अभ्यास है। प्रचलन मे अभ्यास और दायित्व दोनो है। आदि अवस्था में मनुष्य का आचरण प्रचलनों के अनुसार ही हुआ करता था। प्रचलनो की उत्पत्ति कैसे होती है? क्यों कोई खास- रीति या रिवाज अपना ली जाती है? किसी समुदाय मे व्यक्तियो के जो कर्म होते हैं उनमे वैसे जो समुदाय के लिए लाभदायक हैं अपना लिए जाते हैं। समुदाय का प्रत्येक व्यक्ति वैसा ही कर्म करता है और इस प्रकार समुदाय मे उनका अभ्यास हो जाता है। ये ही रीति रिवाज प्रचलन कहे जाते हैं।

प्रचलनो से ही नैतिकता का प्रादुर्भाव होता है। उनमें ही कर्त्तव्य और आत्म-समर्पण के भाव का उदय होता है। मनुष्य अपने को उन प्रचलनों से बंधा हुआ पाता है। वैसे ही कर्मों का वह आचरण करता है और उनके विपरीत कर्म करने की प्रवृत्ति उसमे नही रहती। जाति के कल्याण के लिए स्वार्थ हित को वह त्याग देता है। उस अवस्था में स्वयं को या अन्य व्यक्तियो को स्वतंत्र व्यक्ति के रूप मे नही विचारता। उसमें व्यक्ति-चेतना नही, जाति-चेतना रहती है। वह स्वत- उन प्रचलनों के अनुसार कर्म करता है। अत जाति का शुभ ही वास्तविक शुभ माना जाता है। उसी दृष्टि से उसके कर्म उचित या अनुचित होते हैं। अत. प्रारम्भ की नैतिक इकाई परिवार, झुण्ड, जाति, आदि हैं। मनुष्य का आचरण प्रचलनों के अनुसार होता है और उनकी नैतिकता अर्थात् उचित अनुचित का विचार उन्हीं प्रचलनो में हैं।

नैतिकता की उपरोक्त अवस्था विचारहीन अवस्था है। इस अवस्था मे बिना विचार किए प्रचलनो के अनुसार कर्म होते हैं। नैतिक निर्णय आतरिक चरित्र का नही, अपितु बाह्य कर्मों का होता है। प्रचलनों का पालन ही

नैतिकता है। उसके विपरित कर्म होने से दराड का विधान होता है। झुराड मे मुखिया और परिवार मे वाप ही उन प्रचलनों की शिक्षा देते हैं और उन्हें लागू करते हैं। उनमे किसी प्रकार का परिवर्तन उन्ही के द्वारा होता है। अन्य व्यक्तियो का धर्म होता है उनका पालन करना।

प्रचलन समुदाय की प्रशंसा या निन्दा के प्रलोभन या भय से ही व्यक्तियों पर लागू होते हैं। कर्म-कराडो (Rituals), जैसे सामूहिक गाना, पूजा-पाठ आदि के द्वारा उनलोगो को अभ्यास कराया जाता है और Taboos के द्वारा उनका निषेध होता है। प्राकृतिक कष्टों के डर से भी वैसे कर्म किए जाते हैं।

प्रचलनात्मक नैतिकता मे नैतिक चेतना का प्रारम्भ तो अवश्य होता है पर उसे नैतिकता का वास्तविक रूप नहीं विचारा जा सकता, क्योकि उसमे न तो व्यक्तिगत चेतना का विकास होता है और न आत्म-चेतन व्यक्तियों के वे कर्म स्वतंत्र होते हैं। डर और प्रलोभनों से ही वैसे कर्म होते है तथा डर और भय भी अज्ञानवश ही होता है।

बुद्धि के विकास होने पर नैतिक चेतना मे भी विकास होता है। प्रचलन वाह्य नियमों का रूप ले लेते हैं। निश्चित वाह्य नियम और उनके आचरण के लिए निश्चित दराड और पुरस्कार का विधान किया जाता है। उचित और अनुचित का भेद अधिक स्पष्टतया व्यक्त होता है। अपने कर्मों के आचरण का और अन्य कर्मों के मूल्याकन के ये नियम आधार होते हैं।

इस अवस्था मे वौद्धिक और नैतिक विकास हुआ रहता है। इस विकास-क्रम में समुदाय और व्यक्ति, व्यवस्था अर्थात् प्रचलन और सुधार मे संघर्ष या विरोध प्रारम्भ हो जाता है। प्रचलनों को अभ्यास रूप नहीं वल्कि उचित या अनुचित विचार कर पालन या वहिष्कार करने की प्रवृत्ति उदय होती है। यह अवस्था वाह्य-नियमवाद की अवस्था है।

उपरोक्त अवस्था मे भी नैतिक चेतना का विकास काफी नहीं हुआ रहता है। दराड और प्रलोभन से किए गए कर्म सच्चे अर्थ मे नैतिक नहीं हैं। उस अवस्था का दृष्टिकोण है आर्थिक और सामाजिक उन्नति, व्यक्ति के चरित्र की

उन्नति नहीं। धीरे-धीरे समाज और व्यक्ति के अन्तर की चेतना का विकास होता है और वाह्य कर्मो और आन्तरिक चरित्र का भेद स्पष्ट होता है। इस अवस्था में नैतिक दृष्टि वाहर से अपने अन्दर की ओर मुड़ती है। नैतिक कर्मों का आदर्श जाति या समाज नहीं, कर्त्तव्य माना जाता है। सामाजिक शुभ और वैयक्तिक शुभ में विरोध नहीं दीख पड़ता। राज्य या समाज के नियम नहीं बल्कि शुभ अन्तःकरण के नियम नैतिक नियम विचारे जाते हैं। यह अवस्था विवेकयुक्त नैतिकता की अवस्था है। प्रचलनात्मक नैतिकता से व्यक्तिगत नैतिकता का विकास होता है—प्रचलन से अन्तःकरण का। इस अवस्था में जाति या सामाजिक शुभ के लिए अभ्यासगत कर्म नहीं, वल्कि व्यक्तिगत शुभ के लिए विचारयुक्त कर्मों के द्वारा सामाजिक शुभ की चेष्टा रहती है। जाति-चेतना के स्थान पर अन्तःकरण की ध्वनि का विकास होता है। नैतिक भेदों का पूर्ण ज्ञान तथा मीमांसा और धर्मों का अर्थ करण तथा वर्गीकरण होना है।

नैतिक चेतना के विकास का अर्थ है धर्मों के क्षेत्र का धीरे-धीरे विस्तार जाति से मानवता की ओर, राष्ट्रीयता से अन्तर्राष्ट्रीयता की ओर, वाहर से भीतर की ओर, प्रचलन से अन्तःकरण की ओर और प्रचलनात्मक नैतिकता से वैयक्तिक नैतिकता की ओर, अनैतिक से नैतिकता की ओर कदापि नहीं।

नैतिक चेतना के विकास में जैविक, आर्थिक और सामाजिक उपकरण ही सहायक होते हैं। इन्हीं पर समाज की कोई अवस्था निर्भर रहती है और जैसी समाज की अवस्था रहती है वैसी ही नैतिक चेतना होती है। अतः नैतिक चेतना के ये ही उपकरण हैं।

नैतिकता और प्रचलन (Morality and Custom)

पूर्व ऐतिहासिक काल की नैतिकता को प्रचलनात्मक कहा गया है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि आज के युग में, जिसे विचारयुक्त नैतिकता का युग माना जाता है, प्रचलनों का अभाव है। सभी सभ्य समाज में प्रचलन मिलते हैं और हमारे अधिकांश कर्म उन्हीं के अनुसार होते हैं। प्रचलन किसी समाज के नैतिक वातावरण के द्योतक हैं और व्यक्ति के आचरण और चरित्र को प्रभावित करते हैं। व्यक्ति की पहली शिक्षा प्रचलनों से ही होती है। आरम्भ में

जब उसकी वुद्धि विकसित नहीं रहती तो उन्हीं का वह आचरण करता है और बाद में अभ्यास रूप भी वो उसके व्यक्तित्व के अंश हो जाते हैं। सभी मनुष्य, यहां तक कि युग के महान व्यक्ति भी, प्रचलनों से ही शिक्षा ग्रहण करते हैं क्योंकि जिस समाज या युग में वे रहते हैं उसका नैतिक और आध्यात्मिक वातावरण ही उन्हें प्रभावित करता है। नैतिक और आध्यात्मिक वातावरण को Ethos कहा जाता है। किसी समाज के सामान्य नैतिक विचारों को ही Ethos कहा जाता है। हेगेल ने इसे विश्व-संकल्प का व्यक्त रूप माना है। मैकेंजी ने बतलाया है कि Ethos अर्थात् नैतिक वातावरण ही प्रचलनो मे या सामाजिक तथा राजनीतिक नियमो के रूप मे व्यक्त रहता है। अतः हेगेल ने कहा है कि बड़े-बड़े महापुरुष, युग क्रांतिकारी भी नैतिक वातावरण (Ethos) के ही स्तनो से पलते हैं अर्थात् उनकी भी शिक्षा उन्हीं से मिलती है।

पर सभ्य समाज के प्रचलन विचार और मीमांसा पर आश्रित रहते हैं और प्राचीन युग के प्रचलन मे इसका अभाव मिलता है। प्राचीन युग में प्रचलनों के विरुद्ध विचार करना कठिन था। आज के युग मे उनके विरुद्ध विचारा जाता है और उसमें बहुधा सुधार होते हैं। पहले उनमें नैतिक बन्धन थी आज स्वतंत्रता है। पहले वे ही नैतिकता के मापदंड थे, आज उन्हें नैतिकता की कसौटी पर हम कसते हैं और बुराइयाँ रहने पर उनमें सुधार करते हैं। प्रचलनो का उल्लंघन उतना अनुचित नहीं विचारा जाता जैसा पहले माना जाता था। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि प्रचलनो का उल्लंघन आवश्यक है और प्रत्येक व्यक्ति को मनमानी कार्य की स्वतंत्रता है और मिलनी चाहिए। प्रचलन सामूहिक अनुभव के फल हैं, अतः अधिकांशतः वे उचित कर्मों के द्योतक हैं। इसलिए व्यक्तिगत मनमानी विचारों की अपेक्षा उनका महत्व अधिक है और उनका पालन भी आवश्यक होता है।

Exercise

1. Analyse moral consciousness and distinguish between its intellectual and emotional elements.

2. Explain the meaning and nature of moral sentiment.

3 How is Moral Sentiment related to Moral Judgement ? Explain the function of Moral Jndgement in moral life.

4. What are the characteristics of Moral Sentiments ? Is it a test of the moral quality of an action ?

5. What is meant by the evolution of conduct ? Trace the development of moral consciousness through different stages.

6. How do we pass from custom to conscienee as the standard of morality.

———

छठा परिच्छेद

नैतिक निर्णय (Moral Judgement)

नैतिक निर्णय का स्वरूप (nature)

नैतिक निर्णय का अर्थ है किसी मनुष्य का ऐच्छिक कर्म उचित (right) है या अनुचित (wrong), शुभ (good) है या अशुभ (evil) इसे आँकना। दूसरे शब्दों में, ऐसे कर्मों को किसी नैतिक मापदण्ड (standard) से तुलना कर उसमें औचित्य-अनौचित्य का पता लगाना। अत नैतिक निर्णय वैसी क्रिया है जिसमें मनुष्य के ऐच्छिक कर्मों का किसी मापदंड से तुलना कर हम मूल्याकन करते हैं। अत नैतिक निर्णय के लिए निम्नलिखित बातें आवश्यक हैं—

(i) एक निर्णय करनेवाला **व्यक्ति**। मनुष्य की क्रियाएँ तो सदा होती रहती हैं पर यदि कोई उनका निर्णय करनेवाला नहीं हो तो नैतिक निर्णय नहीं हो सकता।

(ii) **ऐच्छिक कर्म**—ऐच्छिक कर्म का नैतिक निर्णय किया जाता है। अत ऐच्छिक कर्मों का होना आवश्यक है।

(iii) **कोई मापदंड**—मूल्याकन के लिये किसी आदर्श का होना जरूरी है। यदि कोई आदर्श न हो तो फिर ऐच्छिक कर्मों का मूल्याकन कैसे होगा ?

(iv) **निर्णय-शक्ति**—निर्णय करनेवाला व्यक्ति का विवेकी (rational) होना आवश्यक है। उसमें निर्णय करने की शक्ति होनी चाहिए।

इससे यह स्पष्ट है कि नैतिक निर्णय एक प्रकार का निर्णय है। जब हमारी आखों के सामने खल्ली रहती है और उसमें हम उसके किसी गुण, जैसे, उजलापन, को देख लेते हैं तो वह क्रिया प्रत्यक्ष कहलाती है। पर जब नैतिक निर्णय करके किसी ऐच्छिक कर्म को हम शुभ (good) या अशुभ (evil) कहते हैं तो प्रत्यक्ष की भाति

इस गुण की जानकारी नहीं होती बल्कि किसी मापदड से तुलना करने पर ऐसा विदित होता है। मापदंड से उस क्रिया की क्या समता है और उससे क्या फर्क है, यह जान करके ही नैतिक निर्णय किया जाता है। इसमें मापदंड से भेद तथा समता देखी जाती है। अत. यह प्रत्यक्ष नही है अपितु एक निर्णय है।*

निर्णय भी दो प्रकार का होता है, एक वास्तविकता-सूचक निर्णय (judgement of fact) और दूसरा मूल्य विषयक निर्णय (judgement of value)। पहला यह बतलाता है कि कोई वस्तु क्या है, कैसी है, इत्यादि, और दूसरा यह कि उसे क्या होना चाहिए। पहला वर्णनात्मक (descriptive) होता है। यह वस्तुओं के विवरण से सम्बन्धित है। दूसरा समालोचनात्मक होता है। यह वस्तुओ का मूल्य आँकना है। पहला है—निर्णय (is-judgement) और दूसरा चाहिए—निर्णय (ought-judgement) है। नैतिक-निर्णय वास्तविकता-सूचक नहीं अपितु मूल्यविषयक निर्णय है। इसमें आचार क्या है इसकी सूचना नही दी जाती अपितु आचरण कैसा होना चाहिए इसका संकेत मिलता है। यह आचरण के विवरण पर प्रकाश नही डालता, आचरण का मूल्य आँकना है। यह 'है' से सम्बन्धित नही, 'चाहिए' से है। इसलिए नैतिक-निर्णय तार्किक-निर्णय (logical judgement) से भिन्न है। तार्किक-निर्णय की तरह नैतिक-निर्णय भी एक वाक्य ही होता है पर यह नैतिक तथ्यों के विषय मे वाक्यमात्र नही बल्कि उनके ऊपर निर्णय भी देता है। यह आचरण की नैतिक मापदंड से तुलना करके उन्हे उचित या अनुचित आदि घोषित करता है। यह कर्म के विषय मे (about) वाक्य नही, उनके ऊपर (upon) नैतिक दृष्टिकोण से निर्णय है। दूसरी बात यह है कि तार्किक निर्णय में नैतिक-बाध्यता (moral obligation) नहीं है अर्थात् किसी अनुमान की सत्यता जाच लेने पर हम वैसा करने

---

*कुछ विद्वानों ने नैतिक-निर्णय की क्रिया प्रत्यक्ष की भाति माना है, पर हम आगे देखेंगे कि उनके विचारों में दोष है।

के लिए बाध्यता नहीं महसूस करते। पर किसी कर्म को उचित निर्णय करने पर, वैसा करें या न करें, वैसा करने के लिए एक प्रकार की बाध्यता महसूस करते हैं अर्थात यह महसूस करते हैं कि हमें ऐसा करना चाहिए। सारांश यह हुआ कि नैतिक निर्णय किसी कर्म के विषय में निर्णय नहीं, उसके ऊपर निर्णय है। यह मूल्यविषयक, समालोचनात्मक निर्णय है।

नैतिक-निर्णय आदर्श-निर्देशक (normative), नियामक (regulative) तथा व्यावहारिक (practical) है। नैतिक निर्णय में हम किसी नैतिक मापदंड या आदर्श से कर्मों की तुलना करके यह निर्णय करते हैं कि इसे कैसा होना चाहिए। इससे हमें आचरण के आदर्श का संकेत मिलता है। अतः यह आदर्श-निर्देशक है। इसी निर्णय से हमें इस बात का संकेत मिलता है कि हमारे कर्मों को कैसा होना चाहिए, हमें क्या करना चाहिए। इसलिए यह नियामक भी है। तीसरी बात यह है कि नैतिक निर्णय का सम्बन्ध नैतिक आचरण या व्यवहार से है। यह हमारे कर्मों का ही निर्णय करता है कि वे कैसे हों। अतः यह निर्णय व्यावहारिक है।

नैतिक-निर्णय अनुमानजन्य (inferential) होता है। इसमें किसी कर्म-विशेष के गुणों की किसी मापदंड से तुलना कर यह देखा जाता है कि उसके गुण उस मापदंड के अनुसार हैं या नहीं। यहां हम मापदंड को कर्म-विशेष पर लागू करते हैं। अनुमान की क्रिया भी ऐसी ही होती है। किसी सामान्य वाक्य को विशेष बातों पर लागू किया जाता है और उसी से निष्कर्ष निकाला जाता है। नैतिक-निर्णय में नैतिक नियमों को कर्म-विशेष पर लागू कर किसी कर्म का निर्णय किया जाता है। अतः यह अनुमानजन्य है पर अनुमान की क्रिया नैतिक-निर्णय में अभिव्यक्त स्पष्ट (explioit) नहीं होती। जब हम किसी कर्म को उचित या अनुचित कहते हैं तो चेतन रूप से किसी नैतिक मापदण्ड का विचार कर, उस कर्म से तुलना कर उसे वैसा निर्णय नहीं करते। यह निर्णय स्वाभाविक रूप से हो जाता है। केवल बहुत जटिल समस्याओं में ही चेतन अथवा स्पष्ट रूप से कर्मों की तुलना नैतिक आदर्श से की जाती है

अर्थात् अनुमान की क्रिया व्यक्त रहती है। अधिकतर नैतिक निर्णय अन्तः अनुभूति (intention) से ही तुरन्त हो जाते हैं। अत नैतिक-निर्णय विचारजन्य (discursive) नहीं, अन्त अनुभूतिजन्य (intuitive) होते है। अनुमान की क्रिया इसमें व्यक्त नहीं अव्यक्त रहती है।

नैतिक निर्णय बौद्धिक (intellectual) होता है, नैतिक नहीं। इसमें किसी मानदण्ड की दृष्टि से कर्म-विशेष मे नैतिक गुणों का भाव या अभाव देखा जाता है। यह एक प्रकार का गुणन है। जिस प्रकार किसी अनुमान में उसके नियमो को लागू कर उसकी सत्यता जाची जाती है तो जाचने की क्रिया को सही कह सकते है या गलत पर उसे उचित या अनुचित नहीं कहा जा सकता उसी प्रकार नैतिक-निर्णय में भूल हो जा सकती है या वह ठीक हो सकता है, उसे उचित या अनुचित नही कहा जा सकता। क्या किसी हिसाब के सही होने पर उसे धर्म या उचित और गलत होने पर उसे अधर्म या अनुचित कहा जाता है? उसी प्रकार नैतिक-निर्णय को धर्म-अधर्म या उचित-अनुचित नही कहा जा सकता। उनमे नैतिक गुणो का अभाव है। नैतिक-निर्णय का नैतिक-निर्णय नहीं हो सकता। वे नीति-शून्य है। उसका केवल सही या गलत होना जाचा जा सकता है। इसीलिए उन्हें बौद्धिक कहा जाता है, नैतिक नहीं। पर यदि किसी नैतिक-निर्णय मे जान-बुझकर किसी गलत सिद्धात को लागू कर हम गलती कर दें तो उसे उचित या अनुचित कहा जायगा। यदि किसी अभिन्न मित्र को दोषों से बचाने के लिए यह निर्णय करके भी कि उसका कर्म अनुचित है हम जानबुझकर कोई गलत सिद्धात लागू कर उसे उचित कह दें तो यह हमारा ऐच्छिक कर्म होगा। इसलिए यह नैतिक-निर्णय का विषय हो जायगा। पर इस प्रकार का निर्णय वास्तविक नैतिक-निर्णय नहीं है। नैतिक-निर्णय मे इसीलिए सत्यता की अपेक्षा रहती है।

नैतिक-निर्णय का विषय (object of moral judgement)

यह बतलाया जा चुका है कि हर प्रकार के कर्मों का नैतिक-निर्णय नहीं होता। केवल वैसे ही कर्मों का नैतिक मूल्याकन होता है जो संकल्प-जन्य

हैं अर्थात् जिनमें इच्छा, संकल्प आदि का समावेश हो। इसलिए नैतिक-निर्णय के विषय मनुष्य के ऐच्छिक तथा अभ्यासजन्य कर्म हैं। उनके ही उचित-अनुचित होने का निर्णय किया जा सकता है। अभ्यासजन्य कर्मों को भी इसीलिए नैतिक कहा जाता है कि आरम्भ में वे भी ऐच्छिक ही होते हैं और बार-बार उन्हें ही दोहराने से उनका अभ्यास हो जाता है। वैसे कर्म जो ऐच्छिक नहीं है वे नैतिक-निर्णय के विषय नहीं हैं।

साराश यह हुआ कि ऐच्छिक कर्म ही नैतिक-निर्णय के विषय हैं। पर ऐच्छिक कर्मों के दो पहलू हैं—आन्तरिक (internal) और वाह्य (external)। प्रत्येक ऐच्छिक कर्म में शारीरिक क्रिया के पहले इच्छा, इच्छा-संघर्ष, लक्ष्य का विचार, साधन का विचार, चुनाव, सकल्प, आदि की मानसिक क्रियाएँ हो जाती है और शारीरिक चेष्टा के वाद उसका कुछ परिणाम होता है, प्रत्याशित (foreseen) या अप्रत्याशित (unforeseen)। मानसिक क्रियाएँ ऐच्छिक कर्म के आन्तरिक और क्रिया का फल वाह्य पहलू हैं। अब प्रश्न यह है कि नैतिक-निर्णय का आधार क्या है— कर्म का फल या कर्म का आतरिक पहलू अर्थात् कर्म-फल के अच्छे या वुरे होने से किसी कर्म को अच्छा या वुरा कहना चाहिए या इच्छा, प्रयोजनादि के अच्छे वुरे होने से? नैतिक-निर्णय का विषय क्या है—कर्मफल या हमारे विचार? क्या कर्म का वाह्य परिणाम उसके नैतिक गुण का निर्णायक है? इस समस्या पर आचार-शास्त्र मे दो विरोधी मत हैं, एक सुखवादियों (Hedonists) का और दूसरा अन्त-अनुभूतिवादियों (Intuitionists) का।

A. सुखवादियों के अनुसार कोई कर्म अच्छा या वुरा अपने परिणाम के कारण ही है। यदि किसी कर्म का फल खराव हुआ तो कर्म खराव और यदि फल अच्छा हुआ तो कर्म अच्छा होगा। मिल ने कहा है कि प्रेरणा (प्रयोजन) का नैतिकता से कोई सम्बन्ध नही है (motive has nothing to do with the morality of an action)। पर यहा याद रखना चाहिए कि प्रयोजन उनके अनुसार उस लक्ष्य का विचार नहीं है

जिसके कारण कोई क्रिया होती है अपितु मनोभाव (feeling) है, इसलिए वे कहते हैं कि उस भाव से क्रिया का सम्बन्ध क्या है जिसकी वजह से हमने काम किया। वास्तव मे कर्म का फल कैसा हुआ इसीसे उस कर्म की नैतिकता का माप हो सकता है। इसलिए सुखवादियो के अनुसार अन्त भला तो सब भला (All is well that ends well)। किसी कर्म का परिणाम ही उसके नैतिक गुणो का निर्णायक है ।

उपर्युक्त मत मे दोष प्रतीत होता है। जिस उद्देश्य से मनुष्य कोई काम करता है वैसा ही उसका परिणाम नहीं होता। मनुष्य सोचता कुछ है और परिणाम कुछ दूसरा ही हो जाता है। कभी-कभी बहुत ही उत्तम उद्देश्य से कोई कर्म किया जाता है पर परिणाम उसका बुरा होता है। डाक्टर रोगी की जान बचाने के उद्देश्य से उसकी दवा करता है पर कभी-कभी उसकी मृत्यु हो जाती है। कभी-कभी डाकू से बचने के लिए उस पर गोली चलायी जाती है पर अकस्मात किसी निर्दोष को गोली लग जाती है अर्थात् उद्देश्य उत्तम पर परिणाम बुरा हुआ। अत उत्तम विचार रहते हुए भी परिणाम की खराबी के कारण उपर्युक्त मत के अनुसार कर्म बुरा होगा। इसका विपरीत उदाहरण भी मिलता है। कभी-कभी उद्देश्य तो बुरा होता है पर परिणाम अच्छा हो जाता है। कोई विद्यार्थी अपने किसी विपक्षी को अपनी समझ मे परीक्षा के लिए उल्टा प्रश्न बता देता है पर वही प्रश्न परीक्षा में आ जाता है और उसका विपक्षी अच्छे दर्जे मे पास कर जाता है अर्थात उद्देश्य बुरा पर परिणाम अच्छा हुआ। उपर्युक्त मत के अनुसार उद्देश्य बुरा होने पर भी कर्म अच्छा हुआ। यदि इस मत को सही माना जाय तब हमारा कौन सा कर्म नैतिक दृष्टि से अच्छा होगा या बुरा यह निश्चय करना कठिन हो जायगा क्योंकि किसी भी कर्म का परिणाम अनिश्चित होता है। जिस उद्देश्य अर्थात् जिस परिणाम के लिए कार्य किया जा रहा है वैसा ही परिणाम होगा या नहीं यह निश्चित रूप से नहीं कहा जा सकता है। इस दशा में नैतिक निर्णय का आधार अनिश्चित होगा। अत अच्छे उद्देश्यवाले कर्म और बुरे उद्देश्यवाले कर्म भी अच्छे हो जायेंगे। दूसरी बात यह है कि कर्म का परिणाम हमारे वश में नहीं है। इसलिए जहा तक परिणाम का

प्रश्न है वहाँ मनुष्य की इच्छा का अधिकार नहीं। जैसी इच्छा होती है वैसा ही कर्मों का परिणाम होता तो विश्व दुखी ही क्यों रहता? इसलिए यदि कर्म के परिणाम का ही नैतिक-निर्णय हो तो नैतिक और नीति-शून्य कर्मों में कोई अन्तर नहीं रह जायगा क्योंकि परिणाम की उत्पत्ति में वाह्य शक्तियों का योग भी रहता है। अत नैतिक-निर्णय का आधार कर्म का परिणाम नहीं अपितु हमारा संकल्प है, ऐच्छिक कर्मों का स्रोत (spring of action)।

अन्य अनुभूतिवादियों ने इस मत की पुष्टि की है। काट ने कहा है कि हमारे कर्मों के फल उनके नैतिक-मूल्य के कारण नहीं हो सकते। वटलर ने वतलाया है कि कर्मों का औचित्य-अनौचित्य कर्म की प्रेरणा (motive) पर निर्भर है।

सारांश यह हुआ कि किसी कर्म की नैतिकता उसके परिणाम पर नहीं अपितु आन्तरिक प्रेरणाओं पर निर्भर है। वहुत से कर्मों के परिणाम समान पर उद्देश्य विपरीत होते हैं। कोई विद्यार्थी शिक्षक का समुचित आदर अपना कर्त्तव्य समझ कर करता है पर कुछ अपनी स्वार्थ-सिद्धि के लिए वैसा करते हैं। दोनों का परिणाम एक है पर उद्देश्य विपरीत। परिणाम ही यदि कर्मों की नैतिकता का निर्णायक हो तो दोनों कर्म एक ही कोटि के होंगे। पर ऐसा विचार करना ठीक नहीं होगा। अत स्रोत की शुद्धता या अशुद्धता कर्मों का नैतिक-मूल्य निर्धारित करता है। कर्मों के वाह्य स्वरूप से कर्म के वास्तविक नैतिक रूप का परिचय नहीं मिल सकता। ऐसा केवल आन्तरिक स्वरूप के परिचय से ही सम्भव है। यदि कर्मों से उसके आन्तरिक स्रोत अर्थात उद्देश्य आदि को हटा लिया जाय तो कर्म का कोई महत्व नहीं रह जायगा।

पर इस वात को ध्यान में रखना चाहिए कि यदि कर्मों का परिणाम वैसा ही हुआ जैसा हमारा उद्देश्य है अर्थात् परिणाम प्रत्याशित हो तो परिणाम के आधार पर भी कर्मों की नैतिकता का निर्णय किया जा सकता है। जब कर्म के

परिणाम और उद्देश्य के विचार में साम्य हो तो परिणाम को आधार बनाने का अर्थ है प्रयोजन को ही आधार मानना।

इस प्रकार यह निष्कर्ष हुआ कि नैतिक निर्णय का विषय कर्मों का बाह्य परिणाम नहीं अपितु आन्तरिक प्रेरणाएँ हैं।

नैतिक निर्णय का विषय ऐच्छिक कर्मों का आन्तरिक पहलू है। पर आन्तरिक पहलू अर्थात् कार्य के प्रेरक भी दो हैं, एक कर्म का प्रयोजन (motive) और दूसरा प्रयोजन-सिद्धि का साधन (means)। अब प्रश्न है कि क्या केवल प्रयोजन के आधार पर ही कर्मों का नैतिक निर्णय या मूल्याकन होता है? दूसरे शब्दो मे क्या केवल कार्य का प्रयोजन ही उसके नैतिक गुणों का निर्णायक है?

B. क्या केवल कार्य का प्रयोजन ही उसके नैतिक गुणो का निर्णायक है?

अन्त-अनुभूतिवादियो (Intuitionists) और आदर्शवादियो के अनुसार केवल प्रयोजन ही नैतिक निर्णय का विषय है। यदि किसी कर्म का प्रयोजन भला है तो कर्म भी अच्छा होगा और यदि प्रयोजन खराब है तो कर्म भी खराब कहलायगा। कर्म का नैतिक मूल्याकन करने मे उनके अनुसार किस साधन अर्थात् उपाय से काम किया गया है इसका महत्व नहीं है। पर दोनों के मतों मे प्रयोजन शब्द का अर्थ भिन्न है। सुखवादियो की भाति अन्त-अनुभूतिवादियो ने मनोभावो और संवेगो को कर्म की वास्तविक प्रेरणा अर्थात् प्रयोजन माना है। जिस भाव से कोई कर्म किया जाता है वही उसका प्रयोजन है। डा० मार्टीनू ने प्रयोजनो की एक तालीका बनाई है जिसमे श्रद्धा-भाव को सर्वोच्च और सन्देह भाव को सबसे निकृष्ट प्रयोजन माना है। पर आदर्शवादियों के अनुसार जिस उद्देश्य से कोई कर्म किया जाता है उसी के विचार को प्रयोजन कहा गया है।

उपर्युक्त दोनो मत आपत्तिजनक हैं। अन्त अनभूतिवादियो का मत मान्य इसलिए नहीं है कि किस कर्म की वास्तविक प्रेरणा मनोभाव या संवेग नहीं है

वल्कि वह उद्देश्य जिसके लिए क्रिया होती है। दूसरी वात यह है कि मनुष्य के कर्मों के पीछे मनोभाव उतने सरल (Simple) नहीं हैं जैसा डा० मार्टीनू ने वतलाया है। एक ही काम में मिश्रित भाव हो सकते हैं, कुछ सन्देह का, कुछ विश्वास का, कुछ क्रोध का और कुछ सहानुभूति का। तीसरी आपत्ति यह है कि यदि मनोभावों को ही वास्तविक प्रेरणा मान लिया जाय तो जैसा मिल ने कहा है, कि अन्तत मनोभाव जिससे कार्य मे प्रेरणा मिलती है वह सुख-प्राप्ति और दुखनिवृत्ति की इच्छा है, वही सत्य है। कोई कर्म चाहे वह किसी साधू का हो या किसी हत्यारे का हो, दोनो ही एक ही मनोभाव से प्रेरित हुए हैं—सुख-प्राप्ति के भाव से। अत मनोभावों के कारण तो कर्मों मे कोई अन्तर नहीं होता। ऐसे मनोभाव तो स्वत विल्कुल निर्दोष है। सुख-प्राप्ति के भाव से यदि सभी कर्म होते हैं तो उस भाव में क्या दोष है। इसलिए उन्होंने कहा है कि प्रयोजन का कर्म की नैतिकता से कोई सम्वन्ध नही भले ही उससे कर्ता के विषय मे वहुत कुछ पता चल जाय (Motive has nothing to do with the morality of an action but much with the worth of the agent)। अत. अन्त.अनुभूतिवादियो का मत कि केवल प्रयोजन ही नैतिक निर्णय का आधार है, मान्य नही है इसलिए कि मनोभावों को उन्होंने प्रयोजन माना है।

सुखवादी मिल ने अभिप्राय (intention) को प्रयोजन शब्द के सामानार्थक रूप मे प्रयोग कर वतलाया है कि अभिप्राय ही नैतिक निर्णय का विषय है।

आदर्शवादियों का भी मत कि केवल प्रयोजन नैतिक-निर्णय का आधार है, एकागी (one-sided) है। उन्होंने प्रयोजन (motive) का अर्थ उद्देश्य का विचार माना है, मनोभाव नहीं। यदि किसी कर्म का नैतिक मूल्य केवल प्रयोजन पर ही निर्भर हो तव तो किसी हत्यारे की क्रिया, जो परिवार-पालन के लिए वैसा करता है, और किसी शिक्षक की क्रिया, जो परिवार के ही पालन के लिए कड़ा परिश्रम करता है, कोई अन्तर नही होगा इसलिए

कि दोनो का प्रयोजन एक है, परिवार का पालन। उनके विचार के अनुसार उस विद्यार्थी की क्रिया, जो परिश्रम करके पास करना चाहता है और उस विद्यार्थी की क्रिया मे, जो चोरी करके पास करना चाहता है, कोई अन्तर नहीं होगा क्योंकि दोनों का प्रयोजन एक है, परीक्षा मे उत्तीर्ण होना। पर ऐसा मानना न्यायसंगत नहीं होगा क्योकि दोनो क्रियाओ मे प्रयोजन एक होते हुए भी उनके साधनो मे अन्तर है। इसलिए दोनो कर्म एक प्रकार के कैसे होगे ?

	साधन	प्रयोजन
लुटेरे का ऐच्छिक कर्म	—हत्या (खराब)	परिवार पालन (अच्छा)
शिक्षक का ऐच्छिक कर्म	—परिश्रम (अच्छा)	परिवार पालन (अच्छा)

कुछ लोगो का ऐसा विश्वास है कि लक्ष्य (End) की पवित्रता साधन (means) को, चाहे वो जैसा भी हो, पवित्र बना देती है। इसलिए लुटेरे के कर्म मे चूँकि लक्ष्य उत्तम है उसका खराब साधन भी उत्तम हो जाता है। पर ऐसा सोचना युक्तिसगत नहीं होगा क्योकि एक ही कर्म में लक्ष्य और साधन दोनो होते हैं। वे अलग-अलग एक दूसरे से स्वतन्त्र नहीं हैं। इसलिए साधन का दोष, उसकी खराबी, लक्ष्य को भी दूषित कर देती है। अत वह कर्म दूषित हो जाता है। यदि एक ही साथ एक ढोली पान हो और कुछ उसमे सड़ गया हो तो दूसरा ठीक रहने पर भी शीघ्र उनके सम्बन्ध से ही खराब हो जाता है। अच्छाई-बुराई अलग-अलग शक्तियां हैं, एक भावात्मक (positive) और दूसरी निषेधात्मक (negative)। इसलिए यदि प्रयोजन के अच्छे या खराब रहने पर भी साधन यदि उसके विपरीत हुआ तो सम्पूर्ण कर्म का प्रभाव दूसरा हो जाता है। अत किसी कर्म के नैतिक मूल्याकन मे साधन का विचार त्यागा नहीं जा सकता। केवल-प्रयोजन से ही किसी कर्म के नैतिक गुण का निर्णय नहीं हो सकता। प्रयोजन और साधन दोनो कर्मो की नैतिकता का निर्णय करते हैं। प्रयोजन और साधन के विचार को ही अभिप्राय (intention) कहा जाता है। अत नैतिक निर्णय का विषय अभिप्राय है। किसी कर्म के नैतिक मूल्याकन मे कर्ता के सम्पूर्ण अभिप्राय का विचार करना चाहिए।

अभिप्राय एक मानसिक प्रक्रिया है। यह आन्तरिक है। अत अपने अभिप्राय का तो मनुष्य को प्रत्यक्ष ज्ञान होता है पर दूसरों के अभिप्राय का बाह्य परिस्थितियो से ही अनुमान किया जा सकता है। इस प्रकार अभिप्राय का ज्ञान प्राप्त करके ही कर्मों का वास्तविक नैतिक मूल्याकन सम्भव है।

मनुष्य का अभिप्राय उसके विचार, चुनाव, उसकी इच्छाओ आदि का फल है अर्थात् उसके चरित्र पर निर्भर है। किसी का अभिप्राय अधिकतर वैसा ही होता है जैसा उसका चरित्र है। यह उसके चरित्र का व्यक्त रूप है। अतः अभिप्राय के नैतिक-निर्णय का अर्थ है चरित्र का नैतिक निर्णय और चरित्र तो मनुष्य का स्व (self) है। हमारे चरित्र के निर्णय करने का अर्थ है 'हमारा' निर्णय करना। इसलिए यह ठीक ही कहा गया है कि नैतिक-निर्णय किए गए कर्मों का ही नहीं अपितु कर्त्ता का होता है। यदि किसी ऐच्छिक कर्म को कर्त्ता से भिन्न मान लें तो फिर वह कर्म क्यो किया गया, क्या उसका लक्ष्य था, क्या साधन था, कौन से विचार उसमे उत्पन्न हुए, किस तरह की कठिनाई हुई, ये सारी बातें कैसे मालूम होंगी? और यदि इन बातों का ज्ञान नहीं है तो नैतिक दृष्टि से उस कर्म का मूल्य क्या है? इन्हीं बातों पर ही हमने देखा है, नैतिक-निर्णय निर्भर है। इसलिए कर्म का वास्तविक स्वरूप कर्त्ता के बिना नही ज्ञात हो सकता। अत. नैतिक निर्णय किए गए कर्मों का नहीं अपितु करनेवाला अर्थात् कर्त्ता का होता है (moral judgment is passed not upon the action done but upon the person doing)।

सारांश

(i) नैतिक निर्णय का विषय ऐच्छिक और अभ्यासजन्य कर्म हैं।

(ii) ऐच्छिक कर्मों के परिणाम के आधार पर उसका नैतिक निर्णय नहीं होता अपितु प्रयोजन के आधार पर।

(iii) केवल प्रयोजन ही नैतिक निर्णय का आधार नहीं है बल्कि साधन भी अर्थात मनुष्य का सम्पूर्ण अभिप्राय।

(iv) अभिप्राय मनुष्य के चरित्र का व्यक्त रूप है; चरित्र और कर्त्ता में कोई अन्तर नहीं होता इसलिए नैतिक निर्णय का आधार है कर्त्ता न कि किया गया कर्म अर्थात् किसी भी कर्म की नैतिकता का विचार करने में कर्त्ता का भी विचार करना आवश्यक है।

अब प्रश्न है कि क्या केवल अभिप्राय ही, जो मानसिक क्रिया है, नैतिक-निर्णय का विषय है कि अभिप्राय का बाह्य शारीरिक क्रिया मे परिणत होना आवश्यक है ?

यहा समस्या यह है कि यदि किसी मनुष्य को किसी कर्म का अभिप्राय (मन मे संकल्प) हुआ पर उसे कार्य रूप (शारीरिक क्रिया) मे परिणत न कर सका और दूसरा मनुष्य मन मे सकल्प करता है, साथ-साथ वैसी ही क्रिया (शारीरिक) कर देता है तब केवल अभिप्राय का नैतिक विचार हो सकता है या नहीं ? साधारणत ऐसा प्रतीत होता है कि यदि किसी के मन मे किसी प्रकार का संकल्प हो तो उससे नैतिकता का कोई सम्बन्ध नहीं है। यदि हमने अपने संकल्प के अनुसार कर्म (शारीरिक) नहीं किया तो उसका मूल्य ही क्या ? पर यह विचार दोषपूर्ण है। अभिप्राय तो स्वयं एक क्रिया है। इसमे ही मनुष्य की इच्छा, चुनाव, प्रयोजन, साधन के विचार, आदि का समावेश है। यह मनुष्य के चरित्र पर निर्भर है। अत. केवल अभिप्राय का भी नैतिक मूल्य है और उसका नैतिक निर्णय हो सकता है। पर यदि किसी मनुष्य ने अपने अभिप्राय के अनुसार आचरण भी किया तो उसके कर्म का मूल्य उसकी तुलना मे, जिसका केवल अभिप्राय ही हुआ पर क्रिया नहीं, अधिक होगा। इसका कारण यह है कि वह जो अपने अभिप्राय को कार्य रूप मे परिणत करता है वह वैसी चेष्टा भी करता है या करना चाहता है।

नैतिक-निर्णय के विषय में ही एक दूसरी समस्या है कि क्या लक्ष्य के नैतिक गुणों पर ही साधन का गुण निर्भर है ? दूसरे शब्दों में, यदि लक्ष्य पवित्र हो तो साधन चाहे जैसा भी हो ग्राह्य है,

अर्थात् साधन की पवित्रता या अपवित्रता का किसी कर्म के नैतिक-निर्णय में क्या स्थान है ? (Does the end justify the means ?)

आदर्शवादी या प्रचलित विचार के अनुसार किसी कर्म का लक्ष्य ही उसके नैतिक गुणों का निर्णायक है। जैसा लक्ष्य वैसा कर्म। यदि अच्छे लक्ष्य की सिद्धि में अनुचित साधन प्रयोग किया गया तो भी कर्म उचित ही कहा जायगा। देश की स्वतंत्रता के लिए यदि किसी की हत्या भी करनी पड़े तो वह क्षम्य है और कर्म उचित ही होगा। लक्ष्य ही साधन को उचित या अनुचित बनाता है। वह साधन पवित्र है जिसका लक्ष्य पवित्र है। यदि हमें कोई नैतिक दोष निकालना है तो लक्ष्य में ही निकालना चाहिए। इसी सिद्धान्त के अनुसार ऐसा प्रचलित है कि युद्ध के समाप्त करने के लिए, युद्ध करना उचित है। यह उचित इसलिए है कि लक्ष्य 'युद्ध समाप्त करना' पवित्र है।

पर यह मत आपत्तिजनक है। पहले ही यह विचारा गया है कि यदि कर्म के नैतिक मूल्यांकन में साधन के औचित्य-अनौचित्य का कोई महत्व नहीं तब चोरी करके परीक्षा पास करने की इच्छा और परिश्रम करके पास करने की इच्छा में कोई अन्तर नहीं होगा। दूसरी बात यह है कि साधन का दोष लक्ष्य की पवित्रता को अपवित्र बना देता है। अतः लक्ष्य साधन को पवित्र या अपवित्र नहीं बना सकता। कोई कर्म पूर्णरूपेण तभी पवित्र होगा जब पवित्र लक्ष्य के साथ-साथ उचित साधन का प्रयोग किया गया हो। इसलिए किसी पवित्र लक्ष्य को अपवित्र साधनों के द्वारा प्राप्त करने का प्रयत्न नहीं करना चाहिए। खराब साधनों द्वारा प्राप्त किए गए अच्छे लक्ष्य भी अन्त में दोष ही उत्पन्न करते हैं।

पर क्या लक्ष्य कभी भी साधन के नैतिक गुणों को निर्धारित नहीं करता ? Does the end never justify the means or does the end ever justify the means ?

यह पहले बतलाया जा चुका है कि सामान्यतः लक्ष्य की अच्छाई या बुराई साधन के नैतिक गुणों को निर्धारित नहीं करता। पर जीवन में ऐसी घटनाएं

भी मिलती हैं जो उपर्युक्त मत के अपवाद स्वरूप प्रतीत होती हैं। जैसे, यदि पिता अपने पुत्र के हित के लिए उसे दण्ड देता है तो यहाँ लक्ष्य उत्तम है, पुत्र का हित, पर साधन, दण्ड देना या कष्ट देना, स्वयं खराब है। क्या इस कर्म को उचित कर्म नहीं विचारा जाता? तब तो यहाँ लक्ष्य की पवित्रता साधन के दोषों को भी पवित्र बना देती है। एक दूसरा उदाहरण लें। डाकुओं का एक दल किसी परिवार में जा घुसता है जो किसी निर्जन स्थान में रहते हैं। उस परिवार में एक ही पुरुष है और एक महिला। लुटेरे रात्रि में उनके घर में घुसकर पिस्तौल से उस महिला की हत्या कर उसके गले का चैन लेना चाहते हैं। वैसे मौके पर कोई उपाय न देख कर वह पुरुष अपने पिस्तौल से एक लुटेरे की हत्या कर देता है और बाकी लुटेरे भाग जाते हैं। क्या हम उसके कर्म को अनुचित कहते हैं? यहाँ लक्ष्य तो पवित्र है, एक निर्दोष महिला की जान बचाना पर साधन, एक डाकू की हत्या, अवश्य ही खराब है। पर लक्ष्य की पवित्रता साधन के दोषों को हटा देता है। इन उदाहरणों से ऐसा प्रतीत होता है कि कभी-कभी लक्ष्य साधन के नैतिक गुणों का निर्णायक है।

वास्तव में—ऐसे उदाहरण जो अपवाद स्वरूप प्रतीत होते हैं उनका विश्लेषण करने पर यह सिद्ध होता है कि लक्ष्य की पवित्रता के कारण दोषपूर्ण साधन क्षम्य नहीं अपितु, उन्हें पवित्र मानने का कारण दूसरा है। पिता अपने पुत्र के हित के लिए उसे दंड देता है। यहां लक्ष्य है उसीका हित करना जिसे दंड दिया जा रहा है, ऐसा नहीं कि अन्य के हित के लिए किसी को दंड दिया गया हो। जिसे कष्ट होगा उसी के हित के लिए ऐसा किया जा रहा है। दूसरी बात यह है कि जितना कष्ट होगा उससे अधिक हित की आकांक्षा से ही ऐसा साधन प्रयोग किया गया है। इसलिए उपर्युक्त उदाहरण में लक्ष्य की पवित्रता के कारण साधन का दोष दूर नहीं होता बल्कि इसलिए कि नहीं चाहते हुए भी पुत्र ही के भविष्य हित के लिए उसे दंड दिया जाता है।

दूसरे उदाहरण में भी लक्ष्य की पवित्रता के कारण दोषपूर्ण साधन पवित्र नहीं हो जाता। जैसी परिस्थिति में महिला की जान बचाने के लिए डाकू की

हत्या की गई उसके सिवा दूसरा कोई उपाय न था। लक्ष्य भी साधारण नहीं बल्कि बहुत ही पवित्र है। अत कभी-कभी बहुत ही पवित्र लक्ष्य को प्राप्त करने का जब एक ही साधन रहता है तो साधन की पवित्रता या अपवित्रता का विचार नहीं किया जा सकता। जब एक ही रास्ता है तो उपाय क्या है ? यहा भी कर्त्ता अपनी इच्छा के विपरीत वैसे साधन का प्रयोग करता है जिसको छोड वैसे पवित्र लक्ष्य-सिद्धि का उपाय नहीं है। अत लक्ष्य की पवित्रता साधन के दोषो को दूर नही करता बल्कि यहाँ साधन की अपवित्रता का विचार किसी विशेष कारण से नहीं हुआ है।

अत. किसी भी दशा में लक्ष्य के कारण साधन का महत्व कम नहीं माना जा सकता। कर्म के नैतिक मूल्याकन मे साधन के गुणो का विचार आवश्यक है। महात्मा गाधी भी इसी मत के समर्थक हैं। उन्होंने तो इस सिद्धान्त का प्रयोग राजनीति तथा अन्तर्राष्ट्रीय व्यवहार मे विश्व-शान्ति के लिए अनिवार्य बतलाया है। इसीलिए अहिसात्मक मार्ग ही को उन्होने सर्वश्रेष्ठ कहा है।

एक दूसरी दृष्टि से भी यह सिद्धान्त अनिवार्य है। स्वभावत बुरे आचरण का अभ्यास शीघ्र और सदाचार का देर से होता है। शराब पीने की आदत फौरन हो जा सकती है पर पूजा-पाठ में बहुत दिनो के अभ्यास से ही तबियत लगती है। इसीलिए यदि आरम्भ में दूसरो की सहायता के लिए किसी चीज की चोरी की गई तो उस समय तो चोरी अपनी इच्छा के विरुद्ध की जाती है पर पीछे उसी का अभ्यास हो जाता है। उस दशा मे हम उत्तम लक्ष्य को भूल जाते हैं और बुरे साधन ही साध्य हो जाते हैं। इस प्रकार उस बुरे साधन का प्रयोग करते-करते हमारी प्रवृत्ति भी बुरी हो जाती हैं। इसलिए ऐसा सिद्धान्त समाज-कल्याण के लिए हानिकारक है। बर्क ने कहा है कि नैतिकता (पुण्य) के कठिन मार्ग को तय कर लक्ष्य सिद्ध करने की अपेक्षा अनैतिकता (पाप) का सरल मार्ग यदि एक बार भी प्रयोग किया गया तो शीघ्र ही वही मार्ग अपना लिया जाता है।

नैतिक-निर्णय सर्वप्रथम किसका होता है, अपना या दूसरों का? नैतिक-निर्णय की उत्पत्ति स्व-निर्णय से होती है या दूसरो के निरीक्षण से ?

मनुष्य का जो भी ऐच्छिक कर्म होता है उसकी इच्छा से। इसलिए भले ही वह कर्म निर्णय के वाद अनुचित हो पर उसने उसे अच्छा ही समझकर किया है। अतः जब वह अपने ही किए हुए कर्मों का निर्णय करे तो उसका पक्षपातरहित होना बहुत ही कठिन है। अपने कर्मों की निष्पक्ष भाव से आलोचना करना क्या बहुत ही सरल है? दूसरी बात यह है कि जिस प्रकार कोई बालक स्वभावत बाह्य वस्तुओं की ओर पहले आकृष्ट होता है और अन्तर्निरीक्षण आरम्भ होता है पीछे, उसी प्रकार नैतिक निर्णय भी पहले दूसरो का होता है और पीछे जब हमें यह ज्ञात होता है कि अन्य व्यक्ति हमारे कर्मों का भी निरीक्षण करते हैं तब हम अपना विचार करते हैं। अपना निर्णय करने मे मनुष्य अपने को दूसरो की स्थान में कल्पना कर यह विचारता है कि अन्य मनुष्य निष्पक्ष रूप से कैसा उसका निर्णय करेंगे। यह विचार स्मिथ, मिल, बेन्थम, आदि इगलैंड के विचारकों का है।

पर उपर्युक्त मत मे सबसे बडी आपत्ति यह है कि नैतिक-निर्णय का विषय आन्तरिक है। नैतिक-निर्णय मनुष्य के अभिप्राय अर्थात् चरित्र का होता है। अभिप्राय वह तत्व नहीं है जो दूसरो मे प्रत्यक्ष हो। किसी कर्म का अभिप्राय क्या है यह निश्चित रूप से अपने विषय मे ही ज्ञात हो सकता है। कोई कर्म किस अभिप्राय से राम ने किया है यह तो निश्चित रूप से अन्तर्निरीक्षण द्वारा राम ही जानता है। हम या आप तो प्रत्यक्ष रूप से इसे जान नहीं सकते। हम केवल अनुमान कर सकते है। पर अनुमान भी कैसे किया जा सकता है जब तक स्वयं अपने अभिप्रायों की हमे अनुभूति न हो। वह मनुष्य जिसे कभी भूख की ज्वाला से तड़प की अनुभूति न हुई हो वह कैसे किसी तडपते मनुष्य को देख कर अनुमान कर सकता है कि उसकी तड़प भूख की है? बाह्य संकेतों का भी तो अनुभवी ही सही अर्थ लगा सकते है। अत अनुमान के द्वारा दूसरे के अभिप्राय को जानने में भी पहले अपने अभिप्रायों का अन्तर्निरीक्षण आवश्यक है। अत नैतिक-निर्णय सर्वप्रथम अपना ही होता है। जिस प्रकार वास्तविक दान घर से ही आरम्भ होता है, नैतिक-निर्णय भी अपने से ही आरम्भ होता है। पर इसका यह तात्पर्य नहीं है कि दूसरो को निर्णय करने के पहले हम अपना निर्णय करने के लिए ठहर जाते हैं। दोनो के बीच कोई ऐसी भेदक लाइन नहीं खींची जा सकती है।

TYPICAL QUESTIONS

1. Explain the nature of moral judgement. How would you distinguish it from a logical judgement ?

2 'All is well that ends well' Elucidate this maxim from ethical point of view

3. Distinguish between Motive and Intention. Does Motive alone determine the moral quality of an action ?

4 Motive has nothing to do with the morality of an action but much with the worth of the agent ? Elucidate and discuss.

5. 'Moral judgement is passed not upon the action done but upon the person doing' Do you agree ?

6 Is moral judgement passed upon the consequence of an action ? Discuss

7. '. nd justifies the means' Discuss

8 Does the end ever justify the means ? Discuss.

9. On whom the moral judgement is passed first-ourselves or others ?

10. Comment upon the following —

(a) War to end War.

(b) Revolt against colonialism or race prejudice.

सातवाँ परिच्छेद

नैतिकता की आवश्यक मान्यताएँ

(Postulates of Morality)

प्रत्येक शास्त्र मे बहुत सी ऐसी बातें होती हैं जिनको माने बिना कोई भी नियम सम्भव नही होता है। उन्हें ही उस शास्त्र की आवश्यक मान्यताएँ कहा जाता है। आचार-शास्त्र की भी मान्यताएँ हैं। इसका अर्थ है कि यदि इन मान्यताओं को सत्य न माना जाय तो नैतिकता का कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। जब भी कोई नैतिक-निर्णय होता है तो उसका आधार ये मान्यताएँ ही रहती हैं। यदि इन मान्यताओं को असत्य माना जाय तो किसी नैतिक-निर्णय का कोई मूल्य नहीं रहेगा। इसलिए इन मान्यताओं को नैतिक-निर्णय की आवश्यक मान्यताएँ कहा जाता है। ये मान्यताएँ तीन हैं—

(i) व्यक्तित्व (personality)

(ii) विवेक (reason)

(iii) आत्म-नियन्त्रण (self-determination)

अब इन तीनों की अलग-अलग व्याख्या कर हमे यह देखना चाहिए कि उनका अर्थ क्या है और नैतिक-निर्णय के लिए ये क्यो आवश्यक हैं।

(i) व्यक्तित्व (personality)—नैतिकता का क्षेत्र तो वही है जहाँ ऐच्छिक कर्म हो। वैसा कर्म जो कर्ता द्वारा अपनी इच्छा से शुभाशुभ, उचित-अनुचित का विचार कर या हेतु-साधन आदि का संकल्प करके हो, उसे ही ऐच्छिक कर्म कहा जाता है। यो तो क्रियाएँ अनेक प्रकार की और अनेक प्राणियों की होतीं हैं पर उनमे अन्तर है। पेड़-पौधों की क्रियाओ मे चेतना का अभाव है। पशुओं की क्रियाएँ चेतन होती है पर उनमे शुभाशुभ का ज्ञान नही रहता है। यह ज्ञान तो तभी सम्भव है जब किसी नैतिक-सिद्धान्त की

चेतना हो और उसके अनुकूल आचरण करने की शक्ति हो। ऐच्छिक कर्म इसीलिए उसी का होगा जिसमें इस प्रकार का ज्ञान हो। यही तो व्यक्तित्व का लक्षण है। इसीलिए कालडरवुड ने कहा है कि व्यक्तित्व ही नैतिकता का आधार है। जहा इच्छाओं में भेद करने की शक्ति न हो या प्रयोजन और साधन का चुनाव न हो और स्वतंत्र इच्छा न हो अर्थात् व्यक्तित्व न हो तथा केवल प्रवृत्ति द्वारा क्रिया की गई हो वहा नैतिकता का क्षेत्र नहीं है। नैतिक निर्णय का विषय किए गए कर्म नही अपितु कर्ता है—ऐसा कर्त्ता जिसमे किए गए कर्मों का उत्तरदायित्व हो। नैतिकता का निर्णायक भी वही होगा जिसे नैतिक सिद्धांतों का ज्ञान हो, जो स्वतन्त्र हो अर्थात् व्यक्ति हो। इसलिए व्यक्तित्व के बिना नैतिकता का कोई मूल्य नही।

पर अब प्रश्न है कि व्यक्ति कौन है?

संवितवादियों (sensationists) का मत है कि व्यक्ति केवल चेतन प्रक्रियाओं और स्थितियों का समष्टिमात्र है। प्रति क्षण मनुष्य की चेतन क्रियाएं हो रही हैं और फलस्वरूप अनुभव हो रहे हैं। उन्ही की समष्टि को व्यक्ति कहा जाता है। उन प्रक्रियाओं के आधार स्वरूप कोई स्थायी तत्व नहीं हैं जैसा साधारणत विचारा जाता है। पर यह मत आपत्तिजनक है क्योंकि यदि उन प्रक्रियाओं के आधार स्वरूप कोई तत्व ही नहीं है तो क्रिया होती है कहा और किसमे? अनुभव मनुष्य को होता है पर यदि उसमे परिवर्तनों के आधार स्वरूप कोई स्थायी तत्व न हो तो अनुभवकर्त्ता कौन है? यदि अनुभवकर्त्ता भी अनुभव की भाति परिवर्तनशील है तो व्यक्ति मे 'एकता' अर्थात् उसे 'वही' क्यों मानते हैं? क्यों सभी शारीरिक या मानसिक अवस्थाओं के परिवर्तनो के बाद भी किसी व्यक्ति को हम 'दूसरा' नही कहते।

व्यक्तित्व का विचार वास्तव मे आत्म-चेतना और आत्म-नियन्त्रण का संकेत करता है। किसी भी व्यक्ति को इन्ही गुणों के कारण व्यक्तित्व प्रदान किया जाता है। उसे प्राणी को व्यक्ति कहा जाता है जिसकी क्रिया अपनी हो अर्थात् आत्म-नियन्त्रित हो और वह उसके लिए उत्तरदायी हो। दूसरे प्राणी अपनी

प्रवृत्तियो के द्वारा कार्य संपादित करते हैं। अत व्यक्तित्व केवल बुद्धि नही बल्कि शक्ति है। आत्मचेतना, आत्म-नियन्त्रित बुद्धि और आत्म-नियंत्रित क्रिया जिसकी हो वही व्यक्ति है।

मनुष्य को जन्म से ही कुछ प्रवृत्तिया होती हैं। ये प्रवृत्तिया उनके भेदकारक लक्षण हैं। जैसे-जैसे उसका विकास होता है उसकी अन्य शक्तिया प्रस्फुटित होती हैं। वह अपने को समाज का एक सदस्य समझने लगता है। उसे समाज के नियमो का ज्ञान हो जाता है और शुभाशुभ का विचार भी आरम्भ होता है। वह अपने कर्मों को 'अपना' समझता है और उसके उत्तरदायित्व की चेतना उसमे विकसित हो जाती है। इस अवस्था से ही वह नैतिकता के क्षेत्र मे पदार्पण करता है। यही उसके व्यक्तित्व का लक्षण है। जब तक मनुष्य अपने कर्मों के लिए उत्तरदायी नही है अर्थात 'उसके' कर्म उसके नही हैं, तब तक नैतिकता का प्रश्न नही होता है? इसलिए व्यक्तित्व नैतिक-निर्णय की एक आवश्यक मान्यता है।

विवेक (reason)—मनुष्य के दो आवश्यक गुण हैं—पाशविक प्रवृत्ति या कामुकता (sensibility) और विवेकशक्ति (reason)। मानव प्रकृति के ये दो आवश्यक अग हैं। पर इन दोनो में विवेकशक्ति ही उसकी विशेषता है। इसी के कारण वह अन्य प्राणियो से भिन्न है। कामुकता या पाशविक प्रवृत्ति तो पशुओ मे भी होती है। मनुष्य विवेकशक्ति द्वारा ही अपनी संवेदनाओ को अर्थयुक्त करता है और ज्ञानोपार्जन करता है। इसी शक्ति से वह अपनी प्रवृत्तियो को तौलता है, विचार करता है और शुभाशुभ को दृष्टि मे रख संकल्प करता है। इसी के द्वारा उसका ऐच्छिक कर्म होता है। यदि विवेक नही हो तो इच्छाओ का विचारण, चुनाव, साध्य-साधन का विचार और संकल्प कैसे होगा अर्थात् ऐच्छिक कर्म कैसे होगा? यदि मनुष्य मे विवेक न हो तो उसकी क्रियाएँ पशुओ के सदृश होगी अर्थात केवल प्रवृत्तियो से प्रेरित। यदि ऐच्छिक कर्म ही न हो तो फिर नैतिकता कहा? पालन

अविवेकी और बच्चो की क्रियाएं नैतिक क्यो नही है? उनके कर्म ऐच्छिक नही होते। उनमे शुभाशुभ का भेदज्ञान नही होता। नैतिक-निर्णय के लिए भी तो कर्त्ता को नैतिक-सिद्धानो का ज्ञान आवश्यक है। नैतिक-सिद्धातो का ज्ञान तो तभी हो सकता है जब विवेकशक्ति हो। अत नैतिक-निर्णय का विषय ऐच्छिक कर्म, विवेकशक्ति रहने पर ही सम्भव है और साथ-साथ नैतिक-निर्णय के कर्त्ता को भी विवेकयुक्त होना आवश्यक है। अत विवेकशक्ति नैतिकता की दूसरी आवश्यक मान्यता है।

संकल्प-स्वातंत्र्य (Freedom of will)—संकल्प-स्वातंत्र्य भी नैतिकता का एक आवश्यक आधार है। संकल्प-स्वातंत्र्य का अर्थ क्या है? जब मनुष्य को इच्छा-संघर्ष होती है तब वह अपनी स्वतंत्र इच्छा से किसी एक को चुन लेता है। एक उदाहरण लें। किसी निर्धन के सामने ही एक आगे जाते हुए राहगीर का दस रुपये का नोट गिर पडा। समीप मे अन्य कोई नहीं है। उसकी इच्छा होती है उस नोट को उठा कर रख लेने की पर साथ-साथ एक दूसरी इच्छा भी होती है, उस नोट को उठाकर उस राहगीर को दे देने की। विचार करने के बाद वह उसे रख लेने का ही संकल्प करता है। यहा दो विरोधी इच्छाओ के चुनाव मे वह स्वतंत्र है या बाह्य परिस्थितियो द्वारा नियन्त्रित? क्या वह दूसरी इच्छा का संकल्प कर सकता था या जैसा उसने किया वह पूर्व स्थितियो और बाह्य परिस्थितियो से नियत था अर्थात् जैसा उसने संकल्प किया उसके विरुद्ध वह संकल्प नही कर सकता था? तत्त्व-विज्ञान मे इसके सम्बन्ध मे दो मत मिलते हैं। एक के अनुसार मनुष्य अपने संकल्पो में स्वतंत्र है अर्थात यह नही कि वह जो संकल्प करता है वह किसी बाह्य शक्ति या परिस्थिति से निर्धारित है। दूसरे के अनुसार मनुष्य को कर्मों के चुनाव मे (संकल्प मे) स्वतन्त्रता नही है। पहले को नियतिवाद और दूसरे को स्वतंत्रतावाद कहा जाता है उनकी युक्तियो की समीक्षा आचार-शास्त्र का विषय नहीं है। आचार-शास्त्र मे स्वतंत्र संकल्प-शक्ति के अस्तित्व मे विश्वास करना अनिवार्य है। यदि ऐसा सत्य न माना जाय तो नैतिकता का कोई अर्थ ही नही रह जायगा।

यदि मनुष्य कर्मों मे स्वतंत्र नही है अर्थात् उसका संकल्प बाह्य परिस्थितियो से नियत है तब अपने कर्मों के लिए वह उत्तरदायी नही ठहराया जा सकता। यदि किसी मानसिक द्वन्द्व के अवसर पर हम कौनसी इच्छा की पूर्ति करें इसमे स्वतंत्र नही हो अर्थात् वहा वैसा ही होगा जैसी बाह्य परिस्थिति है तब उस कर्म के लिए हमारी जिम्मेदारी नहीं रह जाती है। यदि हमारा संकल्प ही बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर हो तब तो हमारी इच्छा या अनिच्छा का प्रश्न ही नहीं है। हमारे कर्म वैसे ही होगे जैसी बाह्य परिस्थिति है। अत कर्मों का उत्तरदायित्व हम पर कैसा ? मनुष्य के जितने भी ऐच्छिक कर्म होगे वे आत्म-नियंत्रित नहीं अपितु बाह्य नियंत्रित होगे। यदि किसी फेंके हुए पत्थर से कसी को चोट लग जाय तो दोषी कौन है—पत्थर फेंकनेवाला या पत्थर ? क्रिया वास्तव में फेंकनेवाले की है, पत्थर तो केवल साधन है। उत्तरदायी फेंकनेवाला है न कि पत्थर। अत उसकी क्रिया की निन्दा की जाती है। पत्थर की हम न निन्दा और न प्रशसा करते हैं। उसी प्रकार कर्मों की जिम्मेदारी हम पर नहीं होगी। हमारा संकल्प बाह्य परिस्थितियो पर ही निर्भर हो तो यदि हम किसी की हत्या कर दें तो हमे दोषी और हमारे कर्मों की निन्दा और यदि हम किसी पीड़ित को एक सौ रुपया दान दे दें तो हमारी तारीफ और हमारे कर्मों की प्रशंसा करना निरर्थक है इसलिए कि उन कर्मों की जिम्मेवारी हमारी नही थी। वे बाह्य परिस्थितियो के कारण हुए हैं और हमारे नहीं चाहने पर भी वैसा ही होता। डी. आर्की ने ठीक ही कहा है कि नियतिवाद उत्तरदायित्व की भावना को नष्ट कर देता है; इसलिए कर्मों को प्रशंसा-निन्दा या उन्हें उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ निर्णय करना या किसी को पुरस्कार या दंड देना फिजूल है। कुछ विचारकों ने संकल्प-स्वातंत्र्य के विवाद को महत्वपूर्ण नहीं बतलाया है। पर यदि नियतिवाद को सत्य मान लिया जाय तो कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य, नैतिक-मान्यता, पुण्य-पाप, उचित-अनुचित आदि नैतिक गुणों का कोई महत्व ही नहीं रह जाता है। मनुष्य का क्या कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य है अर्थात् क्या करना चाहिए और क्या नहीं, इसका तो तभी कोई अर्थ होता है जब हमे अपने आचरण में स्वतन्त्रता हो। यदि कर्मों का

कर्ता वास्तव मे मनुष्य स्वयं नहीं है तो उसके कर्मो का नैतिक मूल्यॉकन क्या होगा ? अत ये नैतिक गुण महत्वहीन हो जाते हैं।

यदि मनुष्य वाह्य परिस्थितियों और प्राकृतिक प्रवृत्तियो के विरुद्ध कर्म नहीं कर सकता तो वह किसी निर्जीव पदार्थ से उच्च नहीं है। तव तो वह एक जड यंत्र की भाति ही है। वह स्वयं अपनी क्रिया को नियंत्रित नही कर सकता अपितु अपनी प्राकृतिक प्रवृत्तियो और वाह्य परिस्थितितो के अनुसार ही आचरण कर सकता है। अत उसकी क्रिया मे उत्तरदायित्व कहा ? मनुष्य उत्तरदायी तो तभी होता है जब उसका वह उत्तर दे सके। पर जव हमारी क्रियाएँ हमारी स्वतंत्र इच्छा से नहीं हो सकतीं तो उसका उत्तर हम कैसे दे सकते हैं। अत हमारी क्रिया एक प्राकृतिक घटना की भाति हो जाती है। इसीलिए जिस प्रकार किसी प्राकृतिक घटना की सुन्दरता और कुरूपता का निर्णय किया जाता है उसी प्रकार मानव कर्मों को सुन्दर-कुरूप कहा जा सकता है, उचित-अनुचित, धर्म-अधर्म नहीं ? वेदान्त या पाश्चात्य विचारक हेगेल का भी मत है कि 'यंत्रवत् विश्व मे नैतिक भेदो का महत्व नहीं रहता' अर्थात् यदि ऐसे विश्व की कल्पना की जाय जहाँ प्रत्येक घटना नियत रूप से हो रही है, जैसे घडी में चाभी दे देने के वाद घडी नियत रूप से चलती रहती है, तव 'चाहिए' का महत्व नहीं रह जाता है। स्वतंत्रता ही नही तव 'चाहिए' क्या ?

यदि मनुष्य कर्मों मे स्वतंत्र नहीं है अर्थात् वाह्य परिस्थितियो और प्राकृतिक प्रवृत्तियो के विरुद्ध कर्म नहीं कर सकता तो किसी आचरण के सुधार या विधिपूर्वक नियन्त्रण का अर्थ क्या है ? यदि किसी ने दो तीन मनुष्यो की हत्या कर दी है तो कहा जाता है कि उसके आचरण को सुधारना चाहिए। पर यह तो तभी सम्भव है जव यह माना जाय कि वह यदि चाहता तो वैसा कर्म नहीं भी कर सकता था अर्थात् जो उसने किया उसमे वह स्वतन्त्र था। ऐसा यदि न माना जाय तो फिर आचरण मे सुधार आदि का विचार ही गलत है।

कभी-कभी कोई कर्म करने के वाद हमे पश्चाताप होता है। पर यदि मनुष्य का संकल्प स्वतंत्र नहीं अर्थात् उसका कर्म नियत है तो पश्चात्ताप की भावना

भी निरर्थक है। पाश्चात्ताप तो इसीलिए होता है कि हमारे अधिकार की बात थी कि जैसा किया वैसा नहीं भी किया जा सकता था अर्थात् हम स्वतंत्र थे।

काण्ट ने कहा है कि 'चाहिए' के साथ 'योग्यता' छिपी हुई है। जब हम 'चाहिए' कहते हैं तो यह स्पष्ट है कि वैसा किया भी जा सकता है या नहीं भी। दोनो की स्वतंत्रता हमें है। यदि यह निश्चित और अटल हो कि यही करना है तो फिर ऐसा चाहिए या ऐसा नही चाहिए दोनों निरर्थक हैं। वैसा होगा ही, चाहिए या नही चाहिए।

इसीलिए मार्टिनू ने ठीक कहा है कि 'या तो संकल्प-स्वातंत्र्य सत्य है या नैतिक निर्णय एक भ्रम' (Either freedom of will is a fact or moral judgment a delusion)। इसका तात्पर्य यह है कि या तो संकल्प-स्वातंत्र्य को सत्य माना जाय या यदि ऐसा नही विचार किया जाता तो कर्मों की अच्छाई-बुराई, कर्त्तव्याकर्त्तव्य आदि का विचार करना बिल्कुल फिजूल है।

पर संकल्प-स्वातंत्र्य का यह अर्थ नही है कि मनुष्य जब चाहे तब और जैसा चाहे वैसा कर सकता है। इच्छाओ के चुनाव मे मनुष्य अपने चरित्र से नियंत्रित होता है। वाह्य परिस्थितिया मनुष्य में अभाव और इच्छाए उत्पन्न करती हैं पर उन इच्छाओं मे चुनने की स्वतन्त्रता मनुष्य को है। पर उस चुनाव में सभी चीजों से हम स्वतंत्र नहीं हैं। नियन्त्रण रहता है पर चरित्र का। मनुष्य का चरित्र तो उसका स्व है। अत संकल्प-स्वातन्त्र्य को आत्म-नियंत्रण भी कहा जा सकता है। आत्म नियन्त्रण मनुष्य के नैतिक जीवन का आधार है।

संकल्प-स्वातंत्र्य का अर्थ

संकल्प-स्वातन्त्र्य नैतिक आचरण के लिए आवश्यक है। इस स्वतंत्रता का अर्थ क्या है? एक मत के अनुसार संकल्प की स्वतन्त्रता का यह अर्थ है कि किसी परिस्थिति मे मनुष्य क्या संकल्प करेगा यह नहीं कहा जा सकता। वह पूर्ण रूप से स्वतन्त्र है। वह अकारण वैकल्पिक प्रेरणाओं में से किसी एक को स्वच्छन्दतापूर्वक चुन लेता है। उसे अनियंत्रित चुनाव की शक्ति है। यदि किसी ने मुझे गाली दे दी तो उसका बदला लिया जाय

या नहीं इन दो इच्छाओं में यदि गाली देने का संकल्प हमने किया तो हमारा संकल्प क्यों ऐसा हुआ, क्यों हमने गाली नहीं देने का संकल्प किया, इनका उत्तर नहीं दिया जा सकता है। इनका उत्तर इसलिए नहीं होगा कि हमारा संकल्प स्वतंत्र हैं। उसका कोई कारण नहीं होता। उसका भूत से कोई कार्य-कारण सम्बन्ध नहीं है। वह न वाह्य परिस्थिति पर, न हमारी प्राकृतिक प्रवृति पर और न हमारे चरित्र ही पर निर्भर है। पर स्वतंत्रता का यह अर्थ आपत्तिजनक है। यह सत्य है कि वाह्य परिस्थितियों और प्राकृतिक प्रवृत्तियों के विरुद्ध हमारा संकल्प हो सकता है। उनसे हमारा संकल्प या कर्म नियंत्रित नहीं होता है पर इसका यह भी अर्थ नहीं कि हमारा संकल्प विल्कुल अनियंत्रित है। इस प्रकार की स्वतंत्राता स्वच्छन्दता (licence) है, स्वतंत्रता (freedom) नहीं। इसे उदासीनता की स्वतत्रता (liberty of indifference) कहा जा सकता है। यह मत मनोवैज्ञानिक और नैतिक दृष्टि से भी मान्य नहीं है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से हमारी प्रत्येक मानसिक प्रक्रिया का कारण होता है। यदि हमने किसी परिस्थिति में कुछ संकल्प किया तो उसका भी कोई कारण अवश्य होगा। वाह्य परिस्थितिया या प्राकृतिक प्रवृत्तिया तो कारण नहीं हो सकती हैं; वे आंशिक रूप से हमें प्रभावित करती हैं, पर हम संकल्प वैसा ही करते हैं जैसा अभ्यास है अर्थात् जैसा हम संकल्प या आचरण करते आए हैं। दूसरे के गिरे हुए रुपये को उठा कर रख लिया जाय या दे दिया जाय इसका निर्णय हमारे पूर्व आचरण या अभ्यास पर निर्भर है। यदि किसी ने भी किसी का रुपया यों उठाकर रख लिया हो और ऐसा अभ्यास हो गया हो तो इस परिस्थिति में भी वह वैसा ही करेगा। अत. हमारा संकल्प हमारे चरित्र से नियन्त्रित होता है, पर यह वन्धन वाह्य नहीं है। संकल्प यहा स्व के द्वारा ही नियंत्रित होता है, यह है आत्म-नियंत्रण (self-determination)।

नैतिक दृष्टि से भी यदि कर्म (संकल्प) मेरे वर्तमान स्वभाव से नियमित नहीं होते तो उनके लिए मैं क्यों उत्तरदायी वनूं? किसी कर्म का

उत्तरदायी हम किसे ठहराते हैं ? हमें या तुम्हे। 'हम' या 'तुम' कौन हैं ? हमारा या तुम्हारा स्व (Self)। हमारे या तुम्हारे स्व का अर्थ है हमारा या तुम्हारा चरित्र या स्वभाव। तब यदि हमारा संकल्प हमारे पूर्व स्वभाव या चरित्र से नियंत्रित नही होता अर्थात् उससे वह यदि बिल्कुल स्वतंत्र हो तब उसका दायित्व हम पर या तुम पर नहीं है। यदि मेरी अच्छाई या बुराई किसी कर्म को चुनने से रोक नहीं सकती तो उस कर्म में हमारे स्व (चरित्र) का प्रतिबिम्ब नही मिलता है। इसलिए हम अपने कर्मों के लिए दोषी नहीं हैं। नैतिक दायित्व तो तभी हो सकता है जब हमारा संकल्प हमारे चरित्र द्वारा नियंत्रित हो। मेरे कर्म मेरे द्वारा नियंत्रित होते हैं। वे मेरे स्वभाव से निःसृत होते है। इसलिए मै उनके लिए उत्तरदायी हूँ। पर अपने स्वभाव या चरित्र के द्वारा नियंत्रित होना बाह्य बन्धन नही है। इसे आत्म-नियंत्रण कहा जा सकता है। वास्तविक स्वतंत्रता आत्म-नियंत्रण है। नियतवाद की तरह अनियतवाद भी उत्तरदायित्व की भावना को नष्ट कर देता है।

पशुओ और पेड-पौधो की भी क्रिया अपने स्वभाव से ही नियंत्रित होती है। उनकी वैसी ही क्रिया होती है जैसी उनकी प्रकृति है। इसलिए एक तरह से उन्हें भी स्वतंत्र कहा जा सकता है। पर नैतिक स्वतंत्रता उससे भिन्न है। यहा चुनाव विवेक-बुद्धि के द्वारा होता है। पशुओ और पेड़-पौधो की भाति नैतिक कर्मों का यंत्रवत नियमन नही होता है। मनुष्य के ऐच्छिक कर्मों मे विवेकयुक्त चुनाव होता है। उनकी क्रियाएँ आदर्श और शुभाशुभ के विचार से होती हैं। अत सर्वोच्च स्वतंत्रता विवेकयुक्त अर्थात् अपने चरित्रानुकूल संकल्प मे ही है।

ऊपर की विवेचना से यह स्पष्ट है कि नैतिकता के लिए स्वतंत्रता और अवश्यभाविता दोना आवश्यक है। स्वतंत्रता इस अर्थ मे है कि बाह्य परिस्थितियों और वंशानुक्रम-प्राप्त शारीरिक और मानसिक प्रवृत्तियो के विरुद्ध कार्य करने की शक्ति होना आवश्यक है। यदि मनुष्य इन तत्त्वो के विरुद्ध कार्य

नहीं कर सकता और वह इन्हीं से जकड़ा हुआ हो तो कर्मों का दायित्व उस से हट जाता है। उस दशा में कोई भी नैतिक आदर्श व्यर्थ हो जाता है और नैतिकता ही निरर्थक हो जाती है। यदि नैतिक आदर्श या नैतिकता का कुछ भी अर्थ है तो व्यक्ति को इन तत्त्वों में स्वतन्त्र संकल्प की शक्ति चाहिए अर्थात् मनुष्य का कर्म अपना कर्म होना चाहिए। ऐसा तभी हो सकता है जब कर्मों का कर्ता स्वयं हो अर्थात् उसका व्यक्तित्व हो और उसे कर्तृत्व चेतना हो। इस अर्थ में स्वतंत्रता आवश्यक है।

पर दूसरी दृष्टि से अवश्यंभाविता भी नैतिकता के लिए आवश्यक है। मनुष्य के आचरण से ही उसका चरित्र बनता है। चरित्र मनुष्य का स्थायी व्यवहार है। जैसा चरित्र बनता है उसीके अनुकूल उसका भविष्य आचरण होता है। अत किसी अवसर पर वह क्या करेगा, यह उसके चरित्र पर ही निर्भर है। विरोधी इच्छाओं के चुनाव में वह बिलकुल स्वतंत्र नहीं है तथापि यह उसके चरित्र पर ही निर्भर है। अत उसके कर्मों की भविष्यवाणी की जा सकती है। उसका कर्म आवश्यक रूप से वैसा ही होगा जैसा उस अवसर पर उसकी इच्छा-चेत्र होगी, जो चरित्र पर निर्भर है। अत हमारे कर्म बाह्य परिस्थितियों और प्रवृत्तियों के द्वारा तो नहीं पर चरित्र के द्वारा नियंत्रित रहते हैं। इस अर्थ में अवश्यंभाविता भी नैतिकता के लिए आवश्यक है। हम स्वतत्र हैं का अर्थ है हम स्वाधीन है अर्थात् अपने अधीन हैं।

संकल्प-स्वातंत्र्य विवाद

संकल्प-स्वातंत्र्य एक नैतिक मान्यता है। इसके अनुसार मनुष्य अपने कर्मों में स्वतंत्र है। वह स्वयं अपने कर्मों का निर्णय करता है। कर्मों के निर्णय में वह बाह्य परिस्थितियों तथा अपनी नैसर्गिक, मानसिक या शारीरिक प्रवृत्तियों से प्रभावित अवश्य होता है पर अन्तिम चुनाव में उसे उनके प्रतिकूल संकल्प की स्वतन्त्रता है। इसीलिए अपने कर्मों का दायित्व उस पर होता है। पर इस मत को सभी स्वीकार नहीं करते हैं।

संकल्प स्वातंत्र्य का साधारण अर्थ है कि जो हम करने का संकल्प करते हैं उसका हमारी स्वतंत्र इच्छा से, बिना किसी बाह्य बाध्यता या प्रतिरोध के, चुनाव हुआ है। पर प्रश्न यह उठता है कि क्या हम अपने संकल्पों को बिना किसी अन्य बाध्यता या दबाव के स्वयं निर्धारित करते हैं अर्थात् विरोधी इच्छाओं मे जो किसी एक का जो हम चुनाव करते हैं, उसमे अपने अतिरिक्त किसी अन्य शक्ति ने उस चुनाव मे हमें बाध्य किया है? यदि अपने सिवा किसी अन्य पदार्थ द्वारा हम अपने चुनावो या निर्णयो में बाध्य नही हैं तब तो हमारा संकल्प स्वतंत्र है। पर क्या हमारे संकल्प बाह्य परिस्थिति या लक्ष्य के विचार से ही निर्धारित नही होते अर्थात् क्या कोई बाह्य शक्ति ही हमे किसी विशेष संकल्प के लिए बाध्य नही कर देती जिसमे जो हमने संकल्प किया है उसके विरुद्ध हमे संकल्प करने की स्वतंत्रता ही नही रहती? क्या हमारे संकल्प पूर्व परिस्थितियो पर निर्भर नही है। यदि यह सत्य है तब मनुष्य अपने संकल्पों में स्वतन्त्र नहीं है। दर्शन के इतिहास मे इन दोनो विचारों के समर्थक मिलते हैं। वे जो संकल्प-स्वातंत्र्य को स्वीकार करते है उनका मत अनियतवाद या स्वतंत्रतावाद (Libertarianism) कहलाता है। वे जो संकल्प-स्वातंत्र्य का निषेध करते हैं उनका मत नियतिवाद (Determinism or Necessitarianism) कहा जाता है। सोपेनहॉर का मत है कि मनुष्य को पूर्ण स्वतंत्रता नही है। इनलोगो के अनुसार आचार-शास्त्र एक आदर्श निर्देशक विज्ञान नही अपितु प्राकृतिक या ऐतिहासिक विज्ञान है जिसका लक्ष्य केवल यह जानना है कि मनुष्य का अभिप्राय क्या है, न कि क्या होना चाहिए।

नियतिवाद (Determinism)–नियतिवादी संकल्प-स्वातंत्र्य का निषेध करते हैं। उनके अनुसार मनुष्य अपने संकल्पो मे बाह्य परिस्थितियो से ही बाध्य है और जैसा वह संकल्प करता है उसके विरुद्ध संकल्प करने की स्वतन्त्रता उसमें नही है। इसके लिए उन्होने निम्नलिखित युक्तिया दी है।

(क) मनोवैज्ञानिक युक्ति—(1) ऐच्छिक कर्मों का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण—मनुष्य अनायास ही किसी कर्म का संकल्प नही कर लेता। उसे किसी

अभाव की अनुभूति होती है, उसकी पूर्ति की इच्छा होती है, तब वह कोई प्रयोजन चुन कर संकल्प करता है। अत संकल्पो के भी कारण हैं और वे है पूर्व मानसिक प्रक्रियायें। ये पूर्व मानसिक प्रक्रियायें मनुष्य की इच्छा, आवेग, प्रवृत्ति तथा प्रयोजन हैं। जैसी प्रवृत्ति, आवेग, इच्छा तथा प्रयोजन होना है वैसा ही संकल्प होना अनिवार्य है। मनुष्य की ये मानसिक प्रक्रियायें भी पूर्व परिस्थितियो पर ही निर्भर हैं। यदि एक ही इच्छा या प्रयोजन हो तब तो उसी के अनुसार कार्य होता है, पर हमारी इच्छाएँ और प्रयोजन वाह्य परिस्थितियो पर निर्भर हैं। जैसी परिस्थिति वैसी ही इच्छा। पर जहाँ विविध इच्छाएँ होती हैं वहाँ किसी एक का चुनाव कर उसी का संकल्प किया जाता है। इस चुनाव में वैसी ही इच्छा चुनी जाती है जो सबसे अधिक वलवती हो। पर इच्छाओं का वल दो वातो पर निर्भर है—(i) अशत वाहर से व्यक्ति को प्रभावित करनेवाली परिस्थिति तथा व्यक्ति की भावना—जैसी वाह्य परिस्थिति होती है और जैसी अभाव की भावना होती है वैसी ही प्रवल इच्छा होती है और (ii) अशत स्वयं व्यक्ति की प्रकृति—जैसी मानसिक रचना मनुष्य की होती है वैसी ही प्रबल इच्छा होती है। पर व्यक्ति की मानसिक रचना स्वयं दो वातों पर निर्भर है—(i) आनुवंशिकता (heredity) (ii) वातावरण (environment)। किसी भी व्यक्ति की मानसिक वनावट पूर्व पुरषो से वशक्रमानुगत प्रवृत्तियो पर और जिस वातावरण मे उसका पालन-पोषण हुआ उस पर निर्भर है। ये दोनो वातें मनुष्य के अपने वश मे नही है। संक्षेप मे, सकल्प इच्छाओ तथा प्रयोजनों पर; इच्छाएँ वाह्य परिस्थितियो पर या यदि किसी एक इच्छा का चुनाव हुआ तो वलवती इच्छा (i) अशत वाह्य परिस्थितियो और अभाव की भावना तथा (ii) अशत मानसिक रचना पर; मानसिक रचना (i) आनुवंशिक्ता तथा (ii) वातावरण पर ही निर्भर हैं—ये दोनो वातें हम पर निर्भर नही है। अत संकल्पो मे मनुष्य ऐसी शक्ति के द्वारा वाध्य हो जाता है कि उसके प्रतिकूल उसे संकल्प करने की स्वतंत्रता नही रहती है। इस प्रकार यदि उपर्युक्त 'सभी वातों का मनुष्य को ज्ञान हो जाय तो किसी परिस्थिति मे हम क्या करेंगे यह निश्चयपूर्वक कहा जा सकता है;' ठीक वैसे ही जैसे ग्रहो के स्थान या ज्वारभाटो

के समय की भविष्यवाणी की जाती है। मनुष्य प्रकृति का दास है। उसके कर्म भी नियत हैं।

(ii) मानव आचरण के पूर्व ज्ञान की सम्भावना—मनुष्य केवल प्राकृतिक घटनाओं की ही भविष्यवाणी नहीं कर सकता अपितु मानव आचरण का भी। मानव आचरण भी अपनी पूर्वगामी परिस्थितियों के द्वारा निर्धारित होता है। यदि इन पूर्वगामी परिस्थितियों का ज्ञान हो जाय तो मानव आचरण का पूर्व ज्ञान सम्भव है। यह संख्यात-विधि के द्वारा भी सिद्ध होता है। विवाह, अपराध, आत्महत्या आदि ऐच्छिक कर्मों के विषय मे सही गणनाएँ होती हैं। मानव आचरण के पूर्वज्ञान से यह सिद्ध होता है कि उसका आचरण नियत है। अत संकल्प-स्वातंत्र्य सिद्धान्त मान्य नही है।

(ख) दार्शनिक युक्तियाँ (Philosophical arguments)—(i) कार्य-कारण नियम द्वारा नियति का प्रमाण—कार्य-कारण नियम से स्वतन्त्रता के सिद्धान्त की असगति है। प्रत्येक घटना का कारण होता है। अकारण कोई भी घटना नहीं घटती, चाहे वह भौतिक हो या मानसिक। पर यदि स्वतंत्र संकल्प-शक्ति की कल्पना की जाय तब हमारा संकल्प करना एक कारणहीन घटना होगी। इसलिए संकल्प-स्वातंत्र्य कार्य-कारण नियम का अपवाद होगा। पर नियतिवाद की इस नियम से संगति है। संकल्पित क्रिया भी अन्य घटनाओ की तरह कार्य-कारण शृंखला में आवद्ध है।

(ii) जडवादी तथा प्रकृतिवादी सिद्धान्तो का भी संकल्प-स्वातंत्र्य से विरोध है। उनके अनुसार विश्व का मूलतत्व जडात्मक है। मानसिक पदार्थ भी जड़ द्रव्य के उपविकार हैं। मन या संकल्प का भी नियम वही है जो जड पदार्थों का नियम है। इसलिए वाह्य जड वातावरण मे स्वतंत्र संकल्प की कल्पना निर्मूल है।

(iii) अमर्त अद्वैतवाद (Abstract Monism) तथा सर्वेश्वरवाद (Pantheism) से भी नियतवाद ही सिद्ध होता है। यदि केवल ईश्वर ही सत्य है और जगत मिथ्या या माया है तो व्यक्ति का स्वतत्र अस्तित्व ही

नहीं रह जाता। व्यक्ति तो केवल ईश्वर का माया रूप है। अतः स्वतंत्रता की बात तो भ्रान्तियुक्त है। स्पीनोजा ने कहा है कि हम अपने संकल्पों को इसलिए स्वतंत्र मानते हैं कि संकल्पों के नियंत्रण करनेवाले कारण का हमें अज्ञान है। इसी प्रकार वेदान्त मत है कि मनुष्य अपने अज्ञान के कारण ही अपने को और विश्व को सत्य मानता है।

(ग) धार्मिक युक्ति (Theological basis)--ईश्वर का मानव आचरण का पूर्व ज्ञान (Fore-knowledge of human actions in God)—धार्मिक सिद्धान्त यह है कि ईश्वर सर्वज्ञानी है और सभी वस्तुओं और घटनाओं का सृजनकर्त्ता है। अत उसे मनुष्य के भावी आचरण का भी पूर्वज्ञान रहता है। वही उन्हें निर्धारित भी करता है। इससे यह सिद्ध होता है कि मानव-आचरण मनुष्य द्वारा निर्धारित नहीं होता है।

(घ) वैज्ञानिक युक्ति (Scientific ground)--शक्ति नित्यता नियम (Law of Conservation of Energy) का संकल्प-स्वातंत्र्य से विरोध है। इस नियम के अनुसार विश्व की सम्पूर्ण शक्ति में न वृद्धि होती है और न क्षय। शक्ति का स्वरूप बदल सकता है पर परिमाण नहीं। पर यदि हमारा संकल्प स्वतंत्र है तो उससे यह सिद्ध होता है कि बिना कारण हम कोई संकल्प करते हैं। संकल्प के द्वारा ही शारीरिक क्रिया आरम्भ होती है। हमारा संकल्प ही शारीरिक शक्ति मे परिणत हो जाता है और उसी का कुछ परिणाम अर्थात् बाह्य जगत मे परिवर्तन होता है। इस प्रकार मनुष्य अपने स्वतंत्र संकल्प के द्वारा विश्व मे शक्ति की वृद्धि कर रहा है। पर इस निष्कर्ष का उपर्युक्त नियम से संगति नहीं है। अत स्वतंत्र संकल्प की कल्पना में वैज्ञानिक विचार से दोष है।

सभी युक्तियों से यह सिद्ध होता है कि व्यक्ति का संकल्प स्वतंत्र नहीं है।

संकल्प-स्वातंत्र्य का सिद्धान्त—स्वतंत्रतावाद (Libertarianism)

नियतिवाद की आलोचना—

(क) (१) मनोवैज्ञानिक युक्तियाँ—संकल्प का मनोवैज्ञानिक विश्लेषण भ्रातिपूर्ण है। यह सत्य है कि व्यक्ति प्रबलतम इच्छाओं और परिस्थितियों के

अनुसार ही संकल्प करता है, पर इच्छाओं का बल और बाह्य परिस्थितियों की शक्ति तो स्वयं पर निर्भर है। किसी भी वातावरण को शक्तिशाली मान लेना या कोई भी इच्छा तभी प्रबल होती है जब मनुष्य का चरित्र वैसा होता है। इच्छाएँ और प्रयोजन स्व के बाहर नहीं हैं और वे बाह्य परिस्थितियों पर ही निर्भर नहीं है। अत संकल्प स्व से ही निर्धारित होता है।

(ii) व्यक्ति के आचरण के पूर्वज्ञान की सम्भावना से यह नहीं सिद्ध होता है कि मनुष्य की संकल्प-शक्ति स्वतंत्र नही है। ऊपर बतलाया जा चुका है कि संकल्प मनुष्य के चरित्र पर निर्भर है। संकल्प अकारण नहीं होता। चरित्र में जितनी समता होगी उतनी ही समता संकल्प मे होगी। एक ही परिस्थिति मे यदि समान प्रकृतिवाले व्यक्तियों को रखा जाय तो उनकी आवश्यकताएँ बहुत कुछ समान होंगी और समान चरित्र का निर्माण होगा। उनके चरित्र को जान कर उनके संकल्पों या कर्मों की भविष्यवाणी की जा सकती है। इस प्रकार मानव-आचरण का पूर्व ज्ञान संभव है पर तोभी संकल्प शक्ति स्वतंत्र है।

(ख) (i) दार्शनिक युक्तियाँ—संकल्प-स्वातंत्र्य कार्य-कारण नियम का विरोध नहीं करता है। संकल्प की स्वतंत्रता का यह अर्थ नही है कि संकल्प एक कारणहीन घटना है। प्रत्येक संकल्प का कारण होता है और वह है मनुष्य का व्यक्तिगत चरित्र। अत. स्व ही संकल्प का कारण है।

(ii) जड़वाद या प्रकृतिवाद भी संकल्प-स्वातंत्र्य का विरोध करता है। जड़वाद या प्रकृतिवाद का मौलिक सिद्धान्त कि विश्व का मूलतत्व जड़ है विवाद-स्पद है। ये मत विश्व की संतोषजनक व्याख्या नहीं कर सके हैं। अतः संकल्प के विषय मे उनके निष्कर्ष अकाट्य नही हैं।

(iii) अमूर्त अद्वैतवाद या सर्वेश्वरवाद पर भी नियतिवाद आश्रित है। पर उन मतों से भी एक और अनेक मे एक की व्याख्या तो होती है पर अनेक को सन्तोषजनक स्थान नहीं मिलता। विश्व को माया या भ्रम मात्र मान लेने

से विश्व की व्याख्या सम्भव नहीं है। यदि अनेक मिथ्या है तो ऐसा क्यों है, इसका उत्तर नही मिलता है। अत इन मतो पर आश्रित नियतिवाद भी युक्ति-संगत नहीं प्रतीत होता।

(ग) धार्मिक युक्ति—ईश्वर का पूर्वज्ञान भी संकल्प-स्वातंत्र्य का विरोधी नहीं है। पूर्वज्ञान का यह अर्थ नही है कि ईश्वर हमारे कर्मों को निर्धारित भी करता है। वास्तव मे जिस प्रकार हम भूत, वर्त्तमान और भविष्य मे भेद करते हैं उस प्रकार का भेद ईश्वर में नही है। वहाँ तो भूत, वर्तमान और भविष्य सभी वर्तमान है। अत: हमारे भविष्य मे होनेवाले संकल्प तो ईश्वर के लिए वर्तमान मे ही हुए। इसलिए संकल्प-स्वातंत्र्य होते हुए भी उसे उसका पूर्व ज्ञान सम्भव है।

(घ) वैज्ञानिक युक्ति—शक्ति-नित्यता नियम का भी संकल्प-स्वातंत्र्य से असंगति नहीं है यदि शक्ति का अर्थ केवल भौतिक शक्ति ही नही बल्कि मानसिक शक्ति भी माना जाय। स्व मे जो मानसिक शक्ति है उसका आकार संकल्प करने पर शारीरिक शक्ति मे परिवर्तित हो जाता है और वही शारीरिक शक्ति वाह्य जगत मे परिवर्तन लाती है। अत शक्ति का एक रूप दूसरे मे परिवर्तित हो जाता है, वढ़ता नहीं।

विध्यात्मक युक्तियाँ (positive arguments)—(I) नैतिक चेतना—मनुष्य की नैतिक चेतना संकल्प-स्वातंत्र्य का साक्षी है। नैतिक निर्णयों में 'चाहिए' की चेतना होती है। 'चाहिये' की चेतना ही स्वतंत्रता का संकेत करता है। यदि संकल्प स्वतंत्र नही है तो ऐसा करना चाहिए या नही, यह अर्थहीन है।

(II) आत्म-चेतना (self-consciousness)—मनुष्य की आत्म-चेतना भी संकल्प की स्वतंत्रता सिद्ध करती है। जब हम कोई संकल्प करते हैं तो हमें बराबर इस बात की चेतना रहती है कि हम स्वाधीनता पूर्वक अर्थात् बिना, किसी वाह्य स्थिति से बाध्य हुए, अपने द्वारा अपने मंगल के लिए कर्म मे प्रवृत्त हो रहे हैं।

पर यहाँ याद रखना चाहिए कि संकल्प-स्वातंत्र्य का अर्थ अनियति (in-determination) नही अपितु आत्म-नियति (self-determination) है।

TYPICAL QUESTIONS

1. What are the postulates of moral judgement? Explain

2 'Either freedom of will is a fact or moral judgement a delusion' Explain

3 'Thou ought, therefore thou canst'. Explain this dictum

4. 'Freedom does not mean freedom from everything, it means self-determination'. Explain this statement

5. 'In willing I am both free, and determined'. Explain and show that freedom is essential for morals.

आठवाँ परिच्छेद

मौलिक नैतिक प्रत्यय

(Fundamental ethical concepts)

किसी भी व्यक्ति के आचरण के नैतिक मूल्यांकन में उचित-अनुचित (right-wrong), शुभ-अशुभ (good-evil) आदि प्रत्ययों का ही व्यवहार होता है। यदि किसी व्यक्ति का ऐच्छिक कर्म नैतिक आदर्श के अनुकूल हो, तो उसे उचित (right) या शुभ (good) कहा जाता है और यदि विपरीत तो उसे अनुचित (wrong) या अशुभ (evil)। हर प्रकार के निर्णय में विशेष प्रत्ययों का व्यवहार होता है—सौन्दर्य-निर्णय में सुन्दरता-कुरूपता का, बौद्धिक-निर्णय में शुद्ध-अशुद्ध आदि का। इसी तरह नैतिक-निर्णय के, उचित-अनुचित (right-wrong), शुभ-अशुभ (good-evil), सर्वोच्च शुभ (Highest good), अधिकार-कर्त्तव्य (rights and duties), virtue-vice, merit-demerit आदि मौलिक प्रत्यय हैं। किसी भी नैतिक-निर्णय में इन्हीं का प्रयोग होता है। अत. पहले इनका अर्थ निर्धारित कर लेना चाहिये तभी इनका सही व्यवहार सम्भव है।

उचित और अनुचित (Right and Wrong)

'Right' शब्द की व्युत्पत्ति ग्रीक शब्द 'rectus' से हुई है जिसका अर्थ है सीधा या नियमानुसार। अत. वह जो किसी नियम के अनुकूल हो उसे right कहा जायगा। wrong शब्द की व्युत्पत्ति 'wring' से हुई है जिसका अर्थ है 'ऐंठा हुआ, टेढ़ा या जो नियमानुसार न हो। अतः वह जो किसी नियम के अनुकूल न हो अर्थात् जिसकी किसी नियम से असंगति हो उसे wrong कहा जायगा। Right और Wrong दोनों ही नियम का संकेत करते हैं। नियम से संगति या असंगति रहने के कारण ही right और wrong का व्यवहार होता है। यदि कोई नियम या मापदंड ही न हो तो संगति या असंगति किससे होगी ?

नियम भी अनेक प्रकार के होते हैं, आर्थिक, तार्किक, वैज्ञानिक, नैतिक इत्यादि। आर्थिक नियम से किसी पदार्थ की संगति या असंगति हो तो वह आर्थिक दृष्टि से right या wrong है। यदि तार्किक नियम से संगति या असंगति हो तो वह तार्किक दृष्टि से right या wrong है। इस प्रकार यदि मानव आचरण नैतिक मापदंड या नियम के अनुकूल हुआ तो वह नैतिक दृष्टि से उचित (right) और यदि नैतिक नियम के विरुद्ध हुआ ती नैतिक दृष्टि से अनुचित (wrong) होगा। अत. नैतिक उचितता (rightness) या अनुचितता (wrongness) से कोई नैतिक नियम का संकेत मिलता है। नैतिक नियम ही right या wrong आचरण का मापदंड या निर्णायक है। उसीसे तुलना करके यह निर्णय किया जाता है कि आचरण उचित (right) है या अनुचित (wrong)।

नैतिक नियमों के ज्ञान की सदा चेतना नही रहती। किसी व्यक्ति को इसका स्पष्ट ज्ञान रहता है और किसी को अस्पष्ट। साधारणत मानव-आचरण का निर्णय कर लेने पर भी किस नैतिक नियम को दृष्टिकोण मे रखकर निर्णय किया गया है, यह स्पष्ट नही रहता। इसका स्पष्ट ज्ञान ही आचार-शास्त्र का मुख्य विषय है।

नैतिक-नियम की चेतना अपरिवर्तनशील नहीं है। काल और देश के परिवर्तन से नैतिक-नियम भी परिवर्तित होते रहे हैं। अत. उचित या अनुचित कर्मों का विचार भी बदलता रहता है क्योंकि नियमो पर ही वे आश्रित हैं।

कोई भी नियम किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही बनाए जाते है। उद्देश्यहीन नियम कोई नियम नही होता। नैतिक नियम भी, इसीलिए, मनुष्य के परम-शुभ (Highest good) की प्राप्ति के साधन है। उन नियमो के पालन से परमशुभ या जीवन के चरमलक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है। अत उचित आचरण वही है जो नियम के अनुकूल हो, जिससे परमशुभ की प्राप्ति होती है और अनुचित आचरण वह, जो नियम के विरुद्ध हो और जिससे परमशुभ की प्राप्ति सम्भव नहीं हैं। उचित (right) और अनुचित

(wrong) का, इसलिए, सम्बन्ध शुभ (good) और अशुभ (evil) कर्मों से है। इन प्रत्ययों का भी अर्थ जान लेना चाहिए। *

---

* कुछ विचारकों ने उचितता मे आकारिक (Formal) और वास्तविक (Material) उचितता का भेद किया है। यदि कोई कर्म शुद्ध प्रयोजन से प्रेरित होकर किया जाता है तो वह आकारिक दृष्टि से उचित है। यदि किसी कर्म का फल उपयोगी है, भले ही शुद्ध प्रयोजन से प्रेरित न हुआ हो तो उसे वास्तविक दृष्टि से उचित कहा जाता है। अत आकारिक उचितता का आधार शुद्ध प्रयोजन (Good motive) है पर वास्तविक उचितता का अच्छा कर्म-फल। जो कर्म आकारिक दृष्टि से उचित है, वह वास्तविक दृष्टी से नहीं भी हो सकता है और जो वास्तविक दृष्टि से उचित है वह आकारिक दृष्टि से नहीं भी हो सकता है। मध्यकालीन विचारकों ने उचितता में ऐसा भेद किया है। नैतिक दृष्टि से यह भेद मान्य नहीं है, क्योंकि कर्मों के वाह्य परिणाम के आधार पर उनका नैतिक मूल्याकन नहीं होता।

कुछ विचारको ने आत्मगत (Subjective) और विषयगत (Objective) उचितता में विभेद किया है। उनके अनुसार वह जो अपनी व्यक्तिगत दृष्टि से उचित प्रतीत हो, उसे आत्मगत उचितता और जिस कर्म का फल वास्तव मे अच्छा हो उसे विषयगत उचितता कहा जाता है। वह जो आत्मगत दृष्टि से उचित है, यथार्थ मे अनुचित भी हो सकता है। यह विचार सीजवीक आदि विचारकों का है। ग्रीन के अनुसार जिस कर्म मे आत्मगत उचितता है उसमे विषयगत उचितता भी है। उनके अनुसार प्रयोजन की अच्छाई और बुराई कार्य के परिणाम की अच्छाई और बुराई पर निर्भर है। यदि कार्य का फल उचित है तो इसका अर्थ यह है कि प्रयोजन भी अच्छा है और यदि कार्य का फल खराब है तो इसका यह अर्थ है कि कार्य का प्रयोजन भी खराब है। इसलिए जिसमें आत्मगत उचितता है, उसमे विषयगत उचितता भी है। पर ग्रीन का विचार अमान्य है क्योंकि कार्य का परिणाम सदा प्रयोजन के अनुसार नही होता। कभी-कभी हम

शुभ और अशुभ
(GOOD AND EVIL)

'Good' शब्द की व्युत्पत्ति जर्मन-शब्द 'gut' से हुइ है जिसका अर्थ है 'किसी लक्ष्य की प्राप्ति मे सहायक'। अत जो भी किसी उद्देश्य या लक्ष्य की प्राप्ति में सहायक हो वह good हुआ।

इसके विपरीत जो किसी लक्ष्य की प्राप्ति मे बाधक हो, वह Bad या Evil हुआ। यह इन प्रत्ययों का व्यापक अर्थ है। किसी भी लक्ष्य की प्राप्ति में जो भी सहायक हो, वह शुभ है; जैसे, शरीर सम्बन्धी आवश्यकताओं की पूर्त्ति मे जो सहायक हो वह शारीरिक शुभ है, वे जो आर्थिक आवश्यकताओं की ही पूर्त्ति करते हैं, वे आर्थिक शुभ हैं तथा वे जो सामाजिक आवश्यकताओं की पूर्त्ति करते हैं, वे सामाजिक शुभ हैं। अतः नैतिक उद्देश्य या आदर्श की प्राप्ति मे जो सहायक हो, वह नैतिक दृष्टि से शुभ और जो बाधक हो वह नैतिक दृष्टि से अशुभ कहा जाता है।

चाहते हैं अच्छा पर परिणाम बुरा होता है। इसलिए ग्रीन का विचार अमान्य है।

कुछ विचारको ने सभी कर्मों मे विषयगत उचितता माना है। उनके अनुसार ईश्वर और विश्व मे कोई अन्तर नहीं है। विश्व ईश्वर का ही रूपान्तर है। ईश्वर शुभ है। अत विश्व में भी यथार्थत कोई बुराई नहीं है। सभी वस्तु के कार्य शुभ के लिए ही होते हैं। अत सभी कर्म वस्तुत उचित हैं। यह दृष्टिकोण भी नैतिक दृष्टि से मान्य नही हैं। ऐसा सम्भव है कि सभी कर्म व्यापक दृष्टि से शुभ हों पर जहा तक मानव ज्ञान का प्रश्न है इसके अनुसार कुछ कर्मों से अहित होता है और वे अशुभ या अनुचित हैं।

वास्तव मे आत्मगत और विषयगत उचितता मे भेद करना अनावश्यक है। नैतिक निर्णय मनुष्य के चरित्र अर्थात् उसके प्रयोजन तथा लक्ष्य के विचार का

Good और evil शब्दों का व्यवहार विशेषण (adjective) और संज्ञा (noun) दोनों रूपों में होता है। भौतिक या आध्यात्मिक good या सापेक्ष या निरपेक्ष good आदि में good शब्द का व्यवहार संज्ञा के रूप में हुआ है। यहाँ इसका अर्थ है वह पदार्थ जिसकी इच्छा की गई है अर्थात् वह पदार्थ जो हम चाहते हैं। जिस पदार्थ को पाने की इच्छा की जाय वही शुभ हुआ, जैसे स्वास्थ्य, सम्पत्ति आदि। इसी प्रकार वह जिसे नहीं ग्रहण करने की इच्छा हो वह अशुभ है, जैसे निर्धनता, बीमारी इत्यादि। पर विशेषण के रूप मे वह साधन शुभ है जिससे किसी उद्देश्य की प्राप्ति होती है। इसलिए संज्ञा रूप मे लक्ष्य स्वयं शुभ है और विशेषण रूप से उस लक्ष्य की प्राप्ति का साधन शुभ है।

इसी आधार पर शुभ के लक्ष्य रूप (good as an end) और शुभ के साधन रूप (good as a means) मे भेद माना गया है। मनुष्य सुख चाहता है, अत सुख शुभ है; पर सुख प्राप्त करने में धन एक

होता है। परिणाम के आधार पर कर्मों का नैतिक मूल्याकन नहीं होता।

इसलिए यदि किसी कर्म के वस्तुगत अच्छाइयों का बिना मानव लक्ष्य या प्रयोजन के, जिसके द्वारा कर्म होता है, विचार किया जाय तो उसका कोई नैतिक मूल्य ही नही होगा। अतः विषयगत उचितता बिना आत्मगत विचारों के नैतिक दृष्टि से महत्वहीन है। इसके अतिरिक्त उचित या अनुचित कभी भी बिल्कुल आत्मगत नहीं हो सकता। मनमानी जिसे कोई व्यक्ति उचित विचार ले वही उचित नही है। उचित-अनुचित का संकेत किसी आदर्श अथवा नियम से मिलता है जो विषयगत होते हैं। अतः आत्मगत उचितता का बिना विषयगत तथ्य के भी कोई महत्व नही है। इसलिए उचित-अनुचित कर्मों मे आत्मगत और विषयगत दोनों तथ्य आवश्यक हैं। आत्मगत नैतिकता (Subjective Morality) में विषयगत तथ्य और विषयगत नैतिकता में आत्मगन तथ्य आवश्यक हैं। इसलिए उपरोक्त भेद अमान्य तथा अनावश्यक है।

साधन है अतः धन भी शुभ हुआ। यहाँ सुख शुभ है लक्ष्य के रूप में और धन शुभ है साधन के रूप मे। इसी प्रकार मनुष्य धन चाहता है, अतः यह शुभ है पर धन प्राप्त करने का स्वास्थ्य एक साधन है। अत: स्वास्थ्य साधन के रूप में शुभ हुआ।

इस प्रकार शुभ सापेक्ष (relative) और निरपेक्ष या सर्वोच्च (absolute or highest) दोनों होता है। परिश्रम करना, बी० ए० पास करना, नौकरी आदि सभी सापेक्ष शुभ हैं। सापेक्ष शुभ साधन रूप होता है। इन्हें मनुष्य प्राप्त करना चाहता है, अन्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए। स्वत. उनका मूल्य नहीं है। उनका मूल्य इसीलिए है कि उनसे किसी लक्ष्य की प्राप्ति होती है। परिश्रम करना यदि बी० ए० पास करने में या बी० ए० पास करना नौकरी मे, नौकरी धन प्राप्त करने मे सहायक नहीं होते तो वे वाञ्छनीय नहीं होते। अत वे अपनेतयी शुभ नही अपितु दूसरे लक्ष्य के कारण शुभ हैं। निरपेक्ष या सर्वोच्च शुभ अन्तिम लक्ष्य है। वह कभी दूसरे लक्ष्य की प्राप्ति के लिए साधन नही होता। उसका मूल्य अपने मे है और उसकी इच्छा स्वयं उसके लिए की जाती है। सुख प्राप्त करना मनुष्य का एक लक्ष्य है पर यह किसी अन्य उच्च लक्ष्य की प्राप्ति का साधन नहीं है। यह अन्तिम लक्ष्य की प्राप्ति का साधन नहीं है। यह अन्तिम लक्ष्य है। यह स्वतः मूल्यवान है। सर्वोच्च शुभ मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य होता है।

इस प्रकार प्रत्येक ऐच्छिक कर्म का कोई उद्देश्य होता है और उस उद्देश्य की प्राप्ति का कोई साधन। पर वही लक्ष्य अन्तिम नही होता। वह स्वत. एक साधन होता है अन्य उच्च लक्ष्यों की प्राप्ति मे। इस प्रकार मनुष्य के सम्पूर्ण जीवन मे लक्ष्य और साधनों का तारतम्य है जिसका अंत किसी चरम लक्ष्य मे होता है। यही चरम लक्ष्य ही सर्वोच्च शुभ है। मनुष्य के जीवन का कोई चरम लक्ष्य होना आवश्यक है जिसकी प्राप्ति में मनुष्य के भिन्न ऐच्छिक कर्म साधन होते हैं और जिसके अन्तर्गत अन्य लक्ष्य रहते हैं; अन्यथा यदि इसी प्रकार बिना अन्तिम लक्ष्य के हम बढते जायें

तो फिर अन्त कहा होगा ? आप परिश्रम करते हैं बी० ए० पास करने के लिए तो परिश्रम करना साधन है और लक्ष्य है बी० ए० पास करना। पर बी० ए० पास करना स्वयं साधन है नौकरी प्राप्त करने के लिए और नौकरी धन के लिए, धन आराम के लिए, और आराम सुख प्राप्त करने के लिए। सुख क्यो चाहते हैं इसका उत्तर कठिन है। यह स्वत वाञ्छनीय है। यह अन्तिम लक्ष्य है। इस प्रकार लक्ष्य और साधन का तारतम्य है, जिसमें सुख प्राप्त करना चरम लक्ष्य है और सभी लक्ष्य इसी के अन्तर्गत हैं। यदि कोई अन्तिम लक्ष्य नही हो तो शृंखला का अन्त नही होगा और फिर हमारे सभी कर्म लक्ष्यहीन हो जायेंगे। मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य अर्थात् सर्वोच्च शुभ क्या होना चाहिए इसके सम्बन्ध मे भिन्न मत हैं। कोई सुख, कोई आत्मपूर्णता, कोई आत्म-प्रसाद ही जीवन का चरम लक्ष्य बतलाते हैं।

कभी-कभी आत्मगत (personal) और अनात्मगत (impersonal) शुभ मे भेद बतलाया जाता है। आत्मगत शुभ वह है जिसे कोई व्यक्ति अपने लिए इच्छा करता है। अनात्मगत शुभ वह है जो कोई व्यक्ति अन्य व्यक्तियों या समाज के लिए इच्छा करता है। दोनो मे विरोध तो अवश्य प्रतीत होता है पर यह विरोध वास्तविक नही है। व्यक्ति और समाज मे वास्तविक विरोध नहीं है। अत. जो व्यक्ति के लिए शुभ है वह समाज के लिए भी होगा। इसलिए सर्वोच्च शुभ के अन्तर्गत दोनो हैं।

सर्वोच्च शुभ (The Highest Good)

(i) सर्वोच्च शुभ वह है जो स्वत वाञ्छनीय हो। इसकी कामना किसी अन्य लक्ष्य की पूर्ति के लिए नहीं की जाती। यह कभी भी साधन नही हो सकता। यह मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य है। इससे कोई अन्य उच्चतर लक्ष्य नहीं होता।

(ii) अन्य पदार्थ जो शुभ हैं उनका मूल्य बाह्य (extrinsic) होता है। वे मूल्यवान् इसलिए हैं कि उनसे किसी उद्देश्य की सिद्धि होती है। वे स्वतः

मूल्यवान् नहीं होते। सर्वोच्च शुभ का कोई लक्ष्य नहीं होता, अत वह स्वतः मूल्यवान् होता है। उसका आन्तरिक मूल्य है।

(iii) मनुष्य अर्थ, स्वास्थ्य, घर इत्यादि पदार्थ किसी लक्ष्य की पूर्ति के लिए ही चाहता है। वे सभी शुभ हैं। इस प्रकार शुभ पदार्थों की एक क्रमिक श्रेणी है जिसके शिखर पर सर्वोच्च शुभ है। सभी अन्य शुभ सर्वोच्च शुभ के ही अन्तर्गत हैं।

(iv) विश्व के सभी पदार्थ किसी लक्ष्य की पूर्ति के मात्र साधन हैं और सर्वोच्च शुभ साधन नहीं अपितु चरम लक्ष्य है। सर्वोच्च शुभ नैतिक शुभ है इसलिए कि विवेकयुक्त प्राणियो के द्वारा वह लक्ष्य के रूप मे चुना जाता है और उसके स्वतन्त्र प्रयत्नो से क्रमश उसकी प्राप्ति होती है। यदि विवेक-युक्त प्राणियो के विना ही एक पूर्णतया व्यवस्थित विश्व की कल्पना कर ली जाय तो वह सर्वोच्च नैतिक शुभ नही माना जा सकता।

(v) शुभ है वह जो वाञ्छनीय हो। अत शुभ की सिद्धि से मनुष्य को सन्तोष होता है। कोई व्यक्ति सुख चाहता है; सुख शुभ है। सुख की प्राप्ति से उसकी इच्छा की पूर्ति होती है, अत उसे सन्तोष होता है। इच्छा मनुष्य के चरित्र पर निर्भर है। चरित्र स्व है, अत, उससे उसे आत्म-प्राप्ति होती है। चूकि सभी शुभ का अन्तिम लक्ष्य सर्वोच्च शुभ है, अत सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति मे मनुष्य को पूर्ण सन्तोष होता है। इससे पूर्ण आत्म-प्राप्ति होती है।

(vi) मनुष्य अपना चरम उद्देश्य अन्य उद्देश्यों की सिद्धि से ही प्राप्त कर सकता है अत सर्वोच्च शुभ कोई एक पदार्थ नही है। यह स्वत मूल्यवान् पदार्थों की एक व्यवस्था है।

(vii) सर्वोच्च शुभ का विवेकयुक्त प्राणियो के द्वारा लक्ष्य के रूप मे चुनाव होता है, अत इस आदर्श की प्राप्ति सम्भव है। पर चूकि यह कोई पदार्थ-विशेष

नहीं, इसलिए किसी प्रयत्न-विशेष से इसकी सिद्धि नहीं सम्भव है। कोई भी व्यक्ति उत्तरोत्तर प्रगति करते हुए उसको प्राप्त कर सकता है।

(viii) सर्वोच्च शुभ की पूर्ण सिद्धि असाध्य (unrealisable) है। यदि इसे पूर्ण रूप से हम प्राप्त ही कर लें तो फिर यह आदर्श कैसे रहेगा ? आदर्श तो वह है जिसे हम चाहते हैं, जो यथार्थ नहीं हुआ है। आदर्श को पूर्णरूप से प्राप्त ही कर लें तो वह यथार्थ हो जायगा, आदर्श नहीं रहेगा। चूंकि यह सम्पूर्ण मानव आचरण का चरम लक्ष्य है अतः यदि किसी चेष्टा-विशेष से इसे प्राप्त कर लिया जाय तो अन्य कर्मों का चरम लक्ष्य क्या रह जायगा ? पर इसका यह अर्थ नहीं है कि पूर्ण सिद्धि असाध्य होने के कारण इसे त्याग दिया जाय। यदि व्यक्ति के अपूर्ण और परिमित जीवन मे इसकी पूर्ण-सिद्धि असाध्य हो तो भी इसकी ओर वह इसे करीब-करीब पूर्णतया सिद्ध किया जा सकता है। यह मानव चेष्टाओं के द्वारा अधिकाधिक साध्य है। अतः इसकी पूर्ण सिद्धि को लक्ष्य बनाना मनुष्य का कर्त्तव्य है।

(ix) सर्वोच्च शुभ व्यक्ति की मनमानी इच्छा या अनिच्छा पर निर्भर नहीं है। यह एक विषयगत तथ्य है।

(x) सर्वोच्च शुभ व्यक्तिगत है और सामान्य या सामाजिक भी। यह व्यक्ति के चरम श्रेय से अभिन्न है। इससे व्यक्ति की सभी आध्यात्मिक आकांक्षाओं की पूर्ति होती है। इसके साथ-साथ इससे मानव-जाति का कल्याण होता है। अतः यह सामाजिक और सामान्य है।

सर्वोच्च शुभ क्या है, इसके विषय में भिन्न मत हैं। सुखवादी सुख को और कोई वाह्य या आन्तरिक नियमों को ही सर्वोच्च शुभ बतलाते हैं। उनके मतों की विवेचना वाद मे होगी।

उचित और शुभ (Right and Good)

मानव-आचरण के नैतिक-निर्णय मे उचित और शुभ दोनो ही प्रत्यय व्यवहृत होते हैं, अतः वे परस्पर सम्बन्धी है। उचित कर्म वह है जो नैतिक नियमों के अनुकूल हो। अनुचित कर्म वह है जिसका नैतिक नियमों

से संगति न हो। दोनो ही से नैतिक नियमों का संकेत मिलता है पर नैतिक नियमों का उद्देश्य है सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति। उचित कर्मों से नैतिक नियमों की सिद्धि होती है और नैतिक नियमो से सर्वोच्च शुभ की। अत उचित शुभ की प्राप्ति का साधन है। उचित कर्म वह है जो शुभ की प्राप्ति मे सहायक हो। अनुचित कर्म वह है जो अशुभ का कारण हो। शुभ लक्ष्य है और उसकी प्राप्ति का साधन उचित हुआ। उचित कर्मों से ही शुभ की प्राप्ति होती है।

उचित शब्द सदा साधन के लिए प्रयोग किया जाता है पर शुभ लक्ष्य और साधन दोनों के लिए। प्रत्येक सापेक्षिक शुभ किसी लक्ष्य की प्राप्ति का साधन होता है, अत उसे उचित भी कहा जा सकता है। इस अर्थ में जो शुभ है वह उचित भी है और जो उचित है वह शुभ भी है। पर सर्वोच्च शुभ के लिए, जो किसी अन्य आदर्श की प्राप्ति का साधन नहीं होता, उचित प्रत्यय का प्रयोग नहीं होता है।

औचित्य का सम्बन्ध कर्त्तव्य से है और शुभ का धर्म से। वैसे कर्म जो नैतिक विधि के द्वारा मान्य हों, हमारे कर्त्तव्य हैं और वे उचित हैं। वैसे लक्ष्य जिन्हें सिद्ध करने के लिए मनुष्य को अनवरत चेष्टा करनी चाहिए, वे ही धर्म हैं और वे शुभ हैं। अत. शुभ शब्द कर्त्तव्य और धर्म दोनो के लिए व्यवहृत हुआ।

शुभ और उचित प्रत्ययों मे शुभ ही मौलिक है। यह उचित से अधिक व्यापक है क्योंकि यह कर्त्तव्य और धर्म दोनो के लिए व्यवहृत हुआ पर उचित तो केवल कर्त्तव्य के लिए ही। मानव कर्मों को ही उचित कहा जा सकता है, पर उसके चरित्र को नहीं। शुभ मनुष्य का कर्म और चरित्र दोनों हो सकता है। व्यक्ति का कर्म नही वल्कि चरित्र ही नैतिक निर्णय का वास्तविक विषय है। अत. शुभ ही मौलिक और दोनो मे अधिक उपयुक्त है।

उचित कर्मों का आधार शुभ ही है। औचित्य-अनौचित्य नैतिक नियमो के सम्बन्ध में ही निर्णय किया जाता है, पर प्रत्येक नियम का कोई लक्ष्य या

आदर्श होना है। इसी आदर्श की सिद्धि का नियम साधन होता है। अत: शुभ के ही कारण कोई कर्म उचित होता है। नैतिक चेतना के विकास का इतिहास से यह स्पष्ट हो जाता है। केवल किसी नैतिक नियम का पालन ही नैतिक आचरण नहीं जब तक उससे सर्वोच्च शुभ की सिद्धि नहीं हो। सर्वोच्च शुभ ही मनुष्य के कर्मों का अन्तिम उद्देश्य है।

वैसे विद्वान् जो उचित प्रत्यय की प्रधानता मानते हैं उनके लिए कोई नैतिक नियम ही मानव आचरण का मापदंड होता है। नैतिक नियमों को स्थिर करना ही उनका लक्ष्य है। वैसे आचरण जो उन नियमों के अनुकूल होंगे वे उचित और अन्य अनुचित कहलाएँगे। कुछ लोगों ने राज्य के नियमों को, कुछ ने सामाजिक नियमों को, कुछ ने धार्मिक नियमों को और कुछ ने अन्त:करणजन्य नियमों को ही नैतिक नियम माना है। उनके मत को वैधानिक मत या अन्त अनुभूतिवाद कहा जाता है।

वैसे लोग जो शुभ को ही आधारभूत प्रत्यय बतलाते हैं उनका लक्ष्य मानव-जीवन का परम लक्ष्य विचारना है। कुछ लोगों ने सुख को, कुछ ने आत्म-पूर्णता इत्यादि को जीवन का परम लक्ष्य बतलाया है। वैसे कर्म जो उन आदर्शों की सिद्धि में सहायक होते हैं उन्हें शुभ और वे जो बाधक होते हैं, उन्हें अशुभ कहा जाता है। उनके मत को प्रयोजनवाद कहा जाता है। हमलोगों को यह विचार आगे स्पष्ट हो जायगा कि दोनों में प्रयोजनवाद ही अधिक व्यापक और आधारभूत है। इसमें उचित और शुभ दोनों प्रत्ययों का स्थान है। पर वैधानिक मत में केवल औचित्य का ही स्थान है।

कर्त्तव्य और दायित्व (Duty and Obligation)

कर्त्तव्य और दायित्व सापेक्ष हैं। कर्त्तव्य अर्थात् वैसा कर्म जो करना चाहिए, मनुष्य के नैतिक जीवन का तत्त्व है। मनुष्य को क्या करना चाहिए, इसी का ज्ञान ही नैतिक ज्ञान का सार है। कर्त्तव्य मनुष्य के विवेक और वासनाओं के द्वन्द्व का संकेत करता है। यदि यह द्वन्द्व नहीं होता और जैसा चाहिए वैसा ही कर्म

मनुष्य करता तो फिर कर्त्तव्य की आवश्यकता ही नहीं होती। विवेक और वासना में द्वन्द्व होने के कारण ही ये दोनो, व्यक्ति को अपनी ओर खीचते हैं। इनमें वह, जो नैतिक नियम के अनुसार है, उचित है और ऐसे ही कर्मों को बाध्यता व्यक्ति महसूस करता है। यही उसका कर्त्तव्य है। दूसरे शब्दों मे, वैसे कर्म जो नैतिक नियम या आदर्श के अनुकूल हों, उन्हें करना चाहिए। वे ही मनुष्य के कर्त्तव्य हैं। वैसे कर्म जिनकी संगति नैतिक आदर्श से हो, वे उसके कर्त्तव्य हैं और वह उन्हें करने के लिए बाध्य होता है। अत जो उचित है वही कर्त्तव्य है। यह नैतिक बाध्यता क्यों और कैसे है, इसके सम्बन्ध मे विविध मत हैं। कर्त्तव्य एक प्रकार का नैतिक ऋण है जो मनुष्य को चुकाना चाहिए।

कुछ विचारको का मत है कि कर्त्तव्य का दायित्व बाह्य है अर्थात् किसी बाह्य शक्ति के भय से ही उचित कर्मों की प्रेरणा मिलती है। पर यह मत गलत है। कर्त्तव्य के साथ ही दायित्व लगा रहता है। जब हम जान जाते है कि यही कर्त्तव्य है तो 'ऐसा ही करना चाहिये' की भावना तो इसी मे छिपी हुई है। इसी भावना को दायित्व कहा जाता है।

कभी-कभी विशेष कर्त्तव्यों मे विरोध जान पडता है। सत्य बोलना और किसी की जान बचाना दोनो ही कर्त्तव्य हैं। पर ऐसी परिस्थिति भी आ जाती जब दोनों मे द्वन्द्व हो जाता है। एक निर्दोष महिला आपके-यहाँ शरण लेती है। कुछ बदमाश आप से उसके विषय मे पूछते है। अब यहा उपर्युक्त दोनो सिद्धान्तों मे विरोध मालूम पडता है। इसे ही कुछ लोगों ने कर्त्तव्यों का विरोध (conflict of duties) कहा है। पर कर्त्तव्यों का विरोध अवास्तविक (unreal) है। किसी विशेष परिस्थिति मे मनुष्य का एक ही कर्त्तव्य होता है। हमे विरोध इसलिए मालूम होता है कि उस परिस्थिति के समझने मे हम असफल रहते हैं। हमें जो करना चाहिए वह रास्ता तो एक ही होगा भले ही उसके निर्णय मे हमे कठिनाई हो। कभी-कभी कर्त्तव्य का बहुत ही संकीर्ण अर्थ लिया जाता है। जो बाह्य सत्ता द्वारा नियमों के द्वारा लागू किया जाय उसे ही

कर्त्तव्य विचारा जाता है। यदि कोई ऐसा कर्म किया जाय जो नियमों से परे हो (विरुद्ध नहीं) तो यह विचारा जाता है कि कर्त्तव्य से अधिक किया गया। यदि किसी नौकर ने तय किए हुए समय से एक घंटा अधिक काम कर दिया तो उसने कर्त्तव्य से अधिक किया। पर नैतिक दृष्टि से यह मत मान्य नहीं है। यह ठीक है कि एक घंटा जो अधिक काम किया गया उसके लिए कोई वैधानिक बाध्यता नहीं है। पर वैधानिक बाध्यता और नैतिक बाध्यता में अन्तर है। जो वैधानिक दृष्टि से कर्त्तव्य से अधिक है वह नैतिक दृष्टि से कर्त्तव्य हो सकता है। इसलिए यह भी कहना कि हमने अपने कर्त्तव्य से अधिक कर दिया (doing more than one's duty) भूल है। यदि आपने अधिक किया तो वह कर्त्तव्य के बाहर है अर्थात् कर्त्तव्य नहीं है। जो कर्त्तव्य नहीं है उसे नहीं करना चाहिए। वास्तव में जो करना चाहिए उसका ठीक-ठीक निर्णय हम नहीं करते इसलिए अपने निर्मित कर्म से यदि अधिक करते हैं तो कहते हैं कि हमने कर्त्तव्य से अधिक किया है।

कान्ट ने पूर्ण-बाध्यतामूलक और अपूर्ण-बाध्यतामूलक कर्त्तव्यों में भेद किया है। पूर्ण-बाध्यतामूलक कर्त्तव्य निश्चित और भ्रमरहित होते हैं। उनका कोई अपवाद नहीं है। उनका पालन करना ही पड़ता है। हत्या न करने के, मिथ्या-भाषण न करने के कर्त्तव्य पूर्ण-बाध्यतामूलक हैं। अपूर्ण-बाध्यतामूलक कर्त्तव्य अनिश्चित होते हैं और उन्हें पालन करने के लिए किसी को बाध्य नहीं किया जा सकता है, जैसे, दया, दान, आदि। ये हमारी इच्छा, देश और काल पर निर्भर हैं। कान्ट का यह वर्गीकरण दोषपूर्ण है। यह विभाग नैतिक नहीं वैधानिक (Legal) है। विशेष परिस्थितियों में हमारे कर्त्तव्य निश्चित होते हैं। बलप्रयोग का कर्त्तव्य में कोई प्रश्न ही नहीं उठता। यदि बलप्रयोग से किसी कर्त्तव्य का पालन करवाया गया तो वह नैतिक नहीं हुआ।

इसी प्रकार से निश्चित और अनिश्चित कर्त्तव्यों का भी भेद किया गया है। जैसे कर्त्तव्य जो वैधानिक होते हैं निश्चित हैं और वे जो अन्तःकरण के आदेशों पर निर्भर हैं, अनिश्चित होते हैं। वैधानिक नियम निश्चित रूप में दिए रहते

हैं और किसी परिस्थिति में क्या करना चाहिए इसका संकेत रहता है। पर अन्तःकरण इस प्रकार निश्चित मार्ग नहीं दिखलाती। यह मत भी अमान्य है, क्योंकि किसी विशेष परिस्थिति में मनुष्य को क्या करना चाहिए यह निश्चित है। कर्त्तव्यों के विषय में हमारा ज्ञान अनिश्चित हो सकता है पर कर्त्तव्य स्वयं सदा निश्चित होते हैं।

कुछ विचारकों ने प्राकृतिक और बनावटी कर्त्तव्यों का भेद बतलाया है। वैसे कर्त्तव्य जो प्राकृतिक सम्बन्धों से अर्थात् मनुष्य के स्वभाव के कारण हैं, उन्हें प्राकृतिक कर्त्तव्य कहा जाता है। पिता-पुत्र का सम्बन्ध प्राकृतिक है, अतः पिता का अपने पुत्र की ओर जो कर्त्तव्य है, वह प्राकृतिक कर्त्तव्य हुआ। वैसे कर्त्तव्य जो बनावटी सम्बन्धों से निकलते हैं, बनावटी कहे गए हैं। पर यहाँ भी हमें ध्यान रखना चाहिए कि सभी कर्त्तव्य मनुष्य की नैतिक प्रकृति से ही निकलते हैं। अतः सभी कर्त्तव्य प्राकृतिक हैं।

सामान्य और विशेष कर्त्तव्यों का भेद भी विरोधक नहीं है। वैसे कर्त्तव्य जो सभी के लिए हैं, सामान्य कहे जाते हैं और जो विशेष व्यक्तियों या परिस्थि-

---

* कुछ विचारकों ने पूर्ण-बाध्यता मूलक कर्त्तव्यों को दायित्व और अपूर्ण-बाध्यता मूलक कर्मों को कर्त्तव्य कहा है। पर यह भेद अमान्य है। बेन ने इसी आधार पर आवश्यक और वैकल्पिक नैतिकता (Obligatory and Optional Morality) में भेद बतलाया है। वह कर्त्तव्य जिसका पालन अनिवार्य है तथा जिसके नहीं पालन करने से दण्ड का विधान है, आवश्यक नैतिकता है पर जिसका पालन हमारी इच्छा पर निर्भर है, वह वैकल्पिक नैतिकता है। बेन का विचार अमान्य है। नैतिकता में इस प्रकार का भेद नहीं किया जा सकता। सभी कर्त्तव्य अनिवार्य हैं और उनका पालन आवश्यक है। इसके अतिरिक्त दण्ड के डर से यदि किसी कर्त्तव्य का पालन किया गया तो इसमें नैतिकता नहीं है। इसलिए नैतिकता का एक ही लक्षण है, अनिवार्यता।

तियों के लिए हैं, उन्हें विशेष कर्त्तव्य कहा जाता है। पर जिन्हें विशेष कर्त्तव्य कहा जाता है वे भी इस अर्थ में, कि उस परिस्थिति मे सभी को वैसा ही करना चाहिए, सामान्य कहा जा सकता है।

ब्राडले ने 'मेरा स्थान और उसके सम्बन्धी कर्त्तव्य' (My Station and its duties) का उल्लेख किया है। हर मनुष्य किसी विशेष परिस्थिति में कुछ विशेष योग्यताओं को लेकर जन्म लेता है। उसके कर्त्तव्य भी उसी स्थान पर ही निर्भर हैं। इसलिए पिता के, माता के, पुत्र के, पड़ोसी के कर्त्तव्य अलग-अलग हैं।

वास्तव में हमारा एक ही सर्वोच्च कर्त्तव्य (One Supreme Duty) है। 'बुद्धिमय आत्मा की पूर्त्ति और उसके अन्तर्गत सभी कर्त्तव्यों का पालन' ही सर्वोच्च कर्त्तव्य है।

अधिकार और कर्त्तव्य (Rights and Duties)

कर्त्तव्य का अर्थ है 'जो करना चाहिए', जो हमारा दायित्व है। नैतिक प्राणी होने के कारण जो हमें करना चाहिए वही कर्त्तव्य है। मनुष्य का कर्त्तव्य अपने प्रति, अन्य व्यक्तियों या प्राणियों के प्रति होता है। जो हमारा अन्य के प्रति कर्त्तव्य है वही उनके लिए उनका अधिकार होता है और जो अन्य का हमारे प्रति कर्त्तव्य है वही मेरा अधिकार है।

कर्त्तव्य और अधिकार सापेक्ष (relative) हैं। जो हमारे लिए कर्त्तव्य है वह अन्य का अधिकार है। यदि पिता का कर्त्तव्य है, पुत्र का भरण-पोषण तो पुत्र का अधिकार, है पिता से भरण-पोषण की व्यवस्था पाना। इसी प्रकार यदि हमारा अपने प्रति कुछ कर्त्तव्य है तो हमारा अपने प्रति अधिकार भी हैं। आत्मरक्षा और आत्मविकास का अधिकार ही सबसे सामान्य और मौलिक अधिकार है। प्रत्येक व्यक्ति का अधिकार है कि वह अपनी रक्षा करे और अपने विकास के लिए अपने को शिक्षित बनाए। दूसरे शब्दों मे आत्मसिद्धि मनुष्य का जन्मसिद्ध अधिकार है। प्रत्येक मनुष्य एक व्यक्ति है। अत यह उसका अधिकार है कि उसे साधन रूप न व्यवहार किया जाय बल्कि लक्ष्य रूप मे।

अधिकार और कर्तव्य की उत्पत्ति मनुष्य के व्यक्तित्व तथा मानव समाज के स्वरूप से ही उत्पन्न होते हैं। प्रत्येक मनुष्य एक व्यक्ति है अर्थात् आत्म-चेतन तथा आत्म-संचालित प्राणी है। वह स्वतन्त्र है। अत उसका अस्तित्व अपने लिए है, अन्य के साधन स्वरूप नही। इसलिए उसके कुछ मौलिक अधिकार हैं। पर कोई व्यक्ति पूर्ण रूपेण स्वतन्त्र नहीं होता। वह समाज का एक अग होता है। समाज के व्यक्तियों से उसका भिन्न प्रकार के सम्बन्ध होते हैं—पिता-पुत्र का सम्बन्ध, भाइ-भाई, पति-पत्नी, राजा-प्रजा, शिक्षक-विद्यार्थी, विक्रेता-खरीददार आदि के सम्बन्ध। अत समाज के अग होने के कारण अपने लिए ही नहीं उनके लिए भी उसका अस्तित्व है। अत उनके प्रति उसका कर्त्तव्य भी है। ये कर्त्तव्य भिन्न सम्बन्धो से निकलते हैं। अधिकार और कर्त्तव्य एक ही नैतिक नियम और सम्बन्ध पर निर्भर है। कर्त्तव्य की भाति अधिकार भी उचित है। व्यक्ति के कुछ अधिकार राज्य के द्वारा सुरक्षित हैं, कुछ समाज के द्वारा और कुछ धर्म के द्वारा, पर वास्तव मे अधिकार और कर्त्तव्य दोनो के लिए आन्तरिक बाध्यता है।

कोई भी व्यक्ति अपने अधिकारो की सुरक्षा का तभी हकदार होता है जब वह अपने कर्त्तव्यो का पालन करे। यदि सभी अपने कर्त्तव्य का उल्लंघन करें तो अधिकार की रक्षा कैसे होगी? यह ठीक कहा गया है कि 'पहले अपने को योग्य बनाओ, तब इच्छा करो' (first deserve then desire)।

कर्त्तव्य और अधिकार पर ही समाज की नींव खडी है। समाज ने इसीलिए मनुष्य का कर्त्तव्य और अधिकार निर्धारित कर दिया है। मनुष्य के जितने कर्त्तव्य हे उनसे सम्बद्ध उतने ही अधिकार भी हैं।

सद्गुण और कर्त्तव्य (Virtue and Duty)

जो कर्म उचित है उसका पालन हमारा कर्त्तव्य है। जो अनुचित है उसे नहीं करना भी कर्त्तव्य हो जाता है। उचित कर्म करना कर्त्तव्य

और अनुचित अकर्त्तव्य है। जब हम अभ्यासपूर्वक कर्त्तव्यों का पालन करते हैं तो हममें जो नैतिक गुण उत्पन्न हो जाता है उसे ही सद्गुण (virtue) कहा जाता है। उसी प्रकार जब हमें अकर्त्तव्यो अर्थात् अनुचित कर्मों का अभ्यास हो जाता है तो हम दुर्गुण अर्जन करते हैं। उचित कर्म कर्त्तव्य हैं और उचित कर्मों के अभ्यासपूर्वक करने से मनुष्य जिस गुण का अर्जन करता है—वह सद्गुण (virtue) है। इसलिए सद्गुण अर्जित अभ्यास है। अच्छे कर्मों के अभ्यास से अच्छे चरित्र का निर्माण होता है। अत: चरित्र की उत्कृष्टता सद्गुण है। चरित्र-दोष दुर्गुण है। कर्त्तव्य बाह्य कर्म का संकेत करता है और सद्गुण आन्तरिक चरित्र की ओर। +

सद्गुण अशुभ क्रियाओ से मनुष्य को रोकता है। सद्गुण तो मनुष्य में तब होता है जब वह कर्त्तव्यों का अभ्यासपूर्वक पालन करता है और उसीसे अच्छे चरित्र का निर्माण हो जाता है। अत जब अच्छे कर्मों का अभ्यास हो गया तो बुरे कर्म आकर्षित नही करते। इसलिए सद्गुण मनुष्य को उचित कर्मों के लिए प्रेरणा देता है।

सद्गुण जन्मजात नही है। यह प्राकृतिक प्रवृत्तियो से भिन्न है। अभ्यास-पूर्वक उचित कर्म के करने से सद्गुण होता है। इसलिए ये अर्जित प्रवृत्ति हैं। यह प्राकृतिक प्रवृत्तियो के अपेक्षाकृत स्थायी होता है। प्राकृतिक प्रवृत्तिया चंचल और अस्थायी होती हैं।

सद्गुण से मनुष्य को आनन्द की अनुभूति होती है। किसी कर्म से यदि इन्द्रिया तृप्त होती हैं तो क्षणिक सुख की अनुभूति होती है। पर अच्छे कर्मों

+ कभी-कभी निश्चित कर्मों को कर्त्तव्य और अनिश्चित कर्त्तव्यों को सद्गुण कहा जाता है। पर यह भेद अमान्य है।

सद्गुण व्यक्ति के नैतिक विकास का चिह्न है। इसमें तीन क्रम हैं, (i) कर्त्तव्य-ज्ञान, (ii) इनका स्वेच्छा से पालन (obedience) और (iii) सद्गुणों का अर्जना। धर्म से अवकाश नहीं है (No holiday from virtue)।

से चिरस्थायी आनन्द होता है। आनन्द सद्‌गुण का संकेत है। सद्‌गुण की प्राप्ति सद्‌गुण और दुर्गुण के भेद या उचित और अनुचित के भेद की चेतना होने ही पर होती है। पर यह भेद जान लेने के बाद उचित कर्मों को, बाधाओं को हटा कर, अभ्यासपूर्वक करने से ही सद्‌गुण प्राप्त होता है। ये ही सद्‌गुण की शर्तें हैं।

सभी सद्‌गुण एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। वे पृथक् नहीं हैं। सर्वोच्च शुभ की प्राप्ति से ही सर्वोच्च सद्‌गुण प्राप्त होता है। उसी सर्वोच्च सद्‌गुण के अन्तर्गत सभी सद्‌गुण देश, काल और व्यक्ति के द्वारा सम्पादित कार्यों पर निर्भर है।

अभ्यासपूर्वक कर्त्तव्य के पालन से जो स्थायी प्रवृत्ति में श्रेष्ठता उत्पन्न हो जाती है उसे ही सद्‌गुण या धर्म कहते हैं। वैसे व्यक्ति को धार्मिक कहा जाता है। धार्मिक व्यक्तियों के कर्मों को धार्मिक आचरण भी कहा जाता है। धार्मिक प्रवृत्ति या चरित्र कभी-कभी कर्त्तव्य के पालन से नहीं बल्कि अभ्यास से होता है।

धार्मिक व्यक्ति कर्त्तव्य-परायण होता है। वह केवल धार्मिक ही नहीं धार्मिक आचरण करता है। उसमें आत्म-संयम, दृढता तथा चरित्रबल होता है। वह समाज को छोड़ता नहीं बल्कि सभी के प्रति जो उसका कर्त्तव्य है उसे यथासम्भव पूरा करता है। वह अपने जीवन का प्रत्येक क्षण अपने कर्त्तव्य की पूर्ति के हित ही व्यतीत करता है।

धर्म की उपरोक्त विशेषताओं से यह स्पष्ट है कि धर्म से अवकाश नहीं है। धार्मिक व्यक्ति न अपने जीवन को यूं ही वासनाओं की पूर्ति में ही व्यतीत कर सकता है और न कभी अधार्मिक आचरण को ही अपनाकर धार्मिक कहा जा सकता है। यह धारणा कि धार्मिक जीवन युवा अवस्था के बाद आता है, भ्रान्तियुक्त है। नैतिकता का क्षेत्र जीवन के किसी विशेष काल में सीमित नहीं है। वास्तविक आनन्द धर्म के आचरण करने से ही प्राप्त होता है। अतः धर्म से अवकाश नहीं है।

योग्यता, पुण्य और पाप(Desert, Merit and Demerit)

कर्त्तव्य या अकर्त्तव्य के आचरण से चरित्र जिस गुण को अर्जता है उसे ही योग्यता (Desert) कहा जाता है। योग्यता दो प्रकार की हो सकती है, पुण्य (Merit) या पाप (Demerit)। पुण्य भावात्मक योग्यता है और पाप निषेधात्मक, पर दोनो ही योग्यता के ही द्योतक है। पुण्य चरित्र की श्रेष्ठता का चिह्न है, पाप चरित्र के नैतिक पतन का। उचित कर्मों के करने से व्यक्ति के चरित्र के उत्कर्ष या अच्छाई मे जो वृद्धि हो जाती है, वही पुण्य है। अनुचित कर्म के करने से व्यक्ति के चरित्र के नैतिक मूल्य मे जो क्षय होता है, वही पाप है। जब कोई व्यक्ति कर्त्तव्य का पालन करता है तो वह नैतिक योग्यता कमाता है। इसीको पुण्य कहा जाता है। जब वह अनुचित कर्म करता है तो नैतिक पूर्णता की विरुद्ध दिशा मे बढता है अर्थात् उसकी नैतिक योग्यता घट जाती है। इसी को पाप कहा जाता है। पॉलसन ने बतलाया है कि इच्छा-पूर्वक अपने आन्तरिक उत्कर्ष (excellence) की वृद्धि का नाम पुण्य है और इच्छापूर्वक अपने आन्तरिक उत्कर्ष के घटाने या क्षय का नाम पाप। ये एक प्रकार से मूलधन (stock) मे वृद्धि और क्षय के सूचक हैं। किसी मनुष्य का नैतिक-मूल्य उसके इच्छित कर्म से घट-बढ सकता है। जिसने उचित कर्म किया उसे लाभ हुआ। उसने पुण्य कमाया। वह जो अनुचित कर्म करता है, उसका नैतिक-मूल्य घट जाता है। उसने पाप किया। पुण्य भावात्मक योग्यता है। पाप अभावात्मक योग्यता है। पाप पुण्य का अभाव नही है। पुण्य के अभाव का अर्थ है कि हमने न उचित किया, न अनुचित। जब हमने कोई कर्म किया और वह अनुचित है तब पाप होता है। पुण्य और पाप चरित्र से सम्बद्ध हैं।

कुछ विचारकों के अनुसार निश्चित कर्मों के किए जाने पर अच्छी योग्यता (good desert) प्राप्त होती है पर साधारणत जहा कोई कर्म आवश्यक नहीं है, जैसे डूबते को बचाना, वैसे कर्मों के करने से पुण्य होता है। पुण्य तथा धर्म सर्वोच्च गुणो को विचारा जाता है। पर ऐसा

पुण्य और पाप की मात्राएँ होती हैं। यदि नैतिक योग्यता की वृद्धि अधिक तो हम अधिक पुण्य का अर्जन करते हैं और कम वृद्धि हुई तो कम पुण्य का। साधारणत ऐसा विचार जाता है कि प्रबल स्वार्थ की भावना पर जितना विजय प्राप्त किया जाय उतना अधिक पुण्य होता है। पुण्य की मात्रा उतनी ही अधिक होगी जितनी मात्रा मे दोषों पर विजय प्राप्त किया जाय।

क्रान्ट और मार्टीनू का भी मत है कि जो जितना अधिक प्रलोभनों का मुकाबला करता है उतना ही अधिक पुण्य कमाता है। इसका यह अर्थ हुआ कि इच्छा पर जितना अधिक जोर पड़ता है, उतना ही अधिक पुण्य का विकास होता है। यह विचार अमान्य है। इस विचार के अनुसार पुण्य कमाने के लिए प्रलोभनो का या कुत्सित विचारों का उदय होना आवश्यक है। तब हम वैसे धर्मात्मा पुरुषों के विषय में क्या कहेंगे जिन्हें इस प्रकार के विचार होते ही नहीं और वे स्वत अच्छे कर्म करते रहते हैं? उनकी इच्छाओं पर कोई जोर नहीं पड़ता इसलिए उपरोक्त विचार के अनुसार उन्हें पुण्य नही होता। सच्ची बात तो यह है कि जो व्यक्ति प्रलोभनो का मुकाबला करता है वह तो अवश्य ही पुण्य कमाता है, पर उससे भी अधिक पुण्य उसे होता है जिसने प्रलोभनो पर विजय प्राप्त कर लिया है और उसे कभी प्रलोभन होते ही नही। इसलिए पुण्य और पाप का उपरोक्त मापदंड अमान्य है।

क्रान्ट ने अपने उपरोक्त विचार के आधार पर बतलाया है कि पूर्ण-बाध्यतामूलक कर्मों अर्थात् जहा दण्ड का भी भय है वैसे कर्मों की अपेक्षा अपूर्ण-बाध्यतामूलक कर्मों से अर्थात् जहा दण्ड का भय नहीं है, अधिक पुण्य अर्जित किया जाता है। पर दण्ड के भय से ही यदि कर्म किया जाय तो उसमे कितना पुण्य होगा?

विभेद अमान्य है। किसी भी परिस्थिति मे मनुष्य का कर्त्तव्य निश्चित होता है। अतः कभी भी कर्त्तव्य से अधिक नहीं किया जाता।

इसलिए इच्छापूर्वक किए गए अच्छे कर्मों से अवश्य ही अधिक पुण्य होगा। पर कान्ट का पूर्ण-बाध्यतामूलक कर्मों में और अपूर्ण-बाध्यतामूलक कर्मों में भेद बतलाना वैधानिक विचार है। नैतिक दृष्टिकोण से यह विचार अमान्य है।

वास्तव मे जितने अच्छे संकल्प से कर्म किए जायं उनसे उतनी ही मात्रा में पुण्य होता है। कर्मों में जितने स्वार्थ का बलिदान हो उतना ही अधिक पुण्य उन कर्मों से होता है। जितना कम स्वार्थ का बलिदान हो उतना ही कम पुण्य होता है। जितने कम स्वार्थ की पूर्ति के लिए बुरे कर्म किए जायं उतना अधिक पाप होता है पर यदि अधिक स्वार्थ की पूर्ति के लिए बुरे कर्म किए जायं तो उनसे उतना पाप नहीं होता।

पुण्य-पाप और उचित-अनुचित (Merit-Demerit and Right-wrong)—नियमों के अनुसार कर्म उचित हैं, नियमों के विपरीत अनुचित। अतः उचित-अनुचित कर्मों के विशेषण हैं, पर पुण्य-पाप चरित्र के विशेषण हैं। उचित कर्मों के द्वारा जो योग्यता प्राप्त होती है उसे पुण्य और अनुचित कर्मों से पाप होता है। पर कभी-कभी पुण्य और पाप कर्मों के विषय मे भी लागू होते हैं।

उचित-अनुचित मे मात्राएँ नही होती। कोई कर्म कम उचित या अधिक उचित नहीं होता, पर पुण्य-पाप मे मात्राएँ हैं। उचित-अनुचित कर्मों के मूल्य हैं; पाप-पुण्य योग्यता के परिमाण के सूचक हैं।

सद्गुण और पुण्य (Virtue and Merit)

अभ्यासपूर्वक कर्त्तव्य के पालन से जो स्थायी आन्तरिक प्रवृत्ति हो जाती है उसे ही सद्गुण कहा जाता है। कर्त्तव्य के पालन से जो योग्यता होती है उसे पुण्य कहते हैं। पुण्य अच्छे कर्मों द्वारा प्राप्त किया जाता है और पुण्य के द्वारा ही अच्छी प्रवृत्ति का स्थायी रूप होता जाता है अर्थात् सद्गुण प्राप्त किया जाता है। दोनों एक दूसरे से सम्बद्ध हैं। जितना अधिक पुण्य उतना ही अधिक सद्गुण होता है।

कर्त्तव्यपरायणता और अतिकर्त्तव्य-परायणता (Conscientiousness and Over Conscientiousness)—कर्त्तव्यपरायणता का अर्थ

है अपने अन्त करण के आदेशो के पालन का अभ्यास । अन्त करण से मनुष्य को अपने कर्त्तव्यों का बोध होता है । अत कर्त्तव्यपरायण व्यक्ति सदा अपने कर्त्तव्य का पालन करता है । वह न्यायशील, धार्मिक तथा नैतिक दायित्व का पालन करता है । वह अपनी इच्छाओं, प्रयोजनों तथा साधनो पर विचार करता है । वह स्वयं अपने चरित्र की भी मीमासा करता है । वह आत्म विश्लेषण करता है और किसी परिस्थिति मे उसका क्या कर्त्तव्य है इसका विचार कर कर्त्तव्य का ही आचरण करता है । पर कर्त्तव्य के विचार मे वह अति विचार नही करने लग जाता । अति कर्त्तव्यपरायण वह कहा जाता है जो अपने कर्त्तव्य का अति विचार करने लगता है । कभी-कभी इसी उधेड-बुन मे कर्त्तव्य का वह पालन भी नहीं कर सकता, छान-बीन में ही लगा रह जाता है । अति कर्त्तव्यपरायणता मानसिक आलस्य और अनिश्चय का द्योतक है । अतः अति कर्त्तव्यपरायणता धार्मिक जीवन के लिए कोई बचावा नही है । यह अच्छी मानसिक अवस्था या अच्छे गुण का द्योतक नहीं है ।

TYPICAL QUESTIONS

1. Distinguish between Duty, Merit and Virtue. Are they connected in any way ?

2 Distinguish between Duty and Merit How are degrees of merit to be estimated ?

3 Distinguish between Duty and Virtue. Does virtue lie in doing more than one's duty ?

4. Analyse the concepts of Good and Right Which of them is more fundamental ?

5. Analyse the concept of the Highest Good Has the Highest Good the Highest Value ?

6 Explain clearly the meaning of the terms Good, Duty, Right, Virtue and illustrate them in concrete life of a moral individual ?

7 What do you mean by the conflict of duties ? How can we solve them ?

नवाँ परिच्छेद

नैतिक आदर्श या मापदंड (Moral Ideal or Standard)

विषय-प्रवेश—नैतिक आदर्श या मापदंड ही आचार-शास्त्र का मुख्य विषय है। यो तो विना इस शास्त्र के अध्ययन किए भी मनुष्य कर्मों का नैतिक-निर्णय करता है अर्थात् मानव-आचरण की अच्छाई-बुराई परखता है पर कहा तक वे ठीक हे और किन आदर्शो को दृष्टिकोण मे रखकर निर्णय किया गया है वह साधारणत नहीं जानता। प्रत्येक निर्णय के लिए एक आदर्श या मापदड की आवश्यकता होती है। कोई अनुमान ठीक है या गलत यह अनुमान के नियमो के द्वारा ही पता चलता है। वहाँ भी नियम की आवश्यकता होती है। उसी प्रकार कोई मानव-आचरण नैतिक दृष्टिकोण से अच्छा है या बुरा यह नैतिक नियमो के द्वारा ही जाना जा सकता है। कैसे आचरण को आदर्श मानना चाहिए यह जान लेने पर ही मनुष्य के कर्मों का नैतिक निर्णय ठीक हो सकता है।

हालाकि हर निर्णय मे एक नियम की आवश्यकता होती है पर नैतिक आदर्श दूसरे नियमो से भिन्न होता है। साधारणत दूसरे नियम यथार्थ होते हैं। जिस रीति से किसी वस्तु का व्यापार होता है वही उसका नियम है। पर नैतिक नियम आदर्श-निर्देशक होता है। मानव-आचरण का क्या नियम है इससे हमारा सम्बन्ध नहीं अपितु मानव-आचरण कैसा होना चाहिए यही नैतिक नियम है। अत बटलर ने ठीक ही कहा है कि मानव जीवन मे नैतिक नियम का अत्यधिक मूल्य है। जो वस्तु जिस रीति से चल रही है वह तो चल ही रही है, कैसे उसे चलना चाहिए यह जानना अत्यावश्यक है।

नैतिक आदर्श का साधारणत अस्पष्ट रूप से सभी को ज्ञान रहता है क्योकि सभी मनुष्य दूसरे के और स्वयंकृत कर्मों को अच्छा या बुरा कहते हैं।

हमें उन नैतिक नियमों को स्पष्टतया जानना है और भिन्न-भिन्न प्रचलित नियमों की मीमांसा करनी है।

नैतिक नियम-सम्बन्धी समस्या को दो रूप में व्यक्त किया जा सकता है—(i) क्या उचित (right) है और (ii) क्या अच्छा या आदर्श (good) है। यदि कौन-सा आचरण उचित है, यह प्रश्न किया जाता है तो इसका संकेत किसी नियम से है क्योंकि वैसे ही कर्म उचित हैं जो, नियमानुकूल हों। नियम से तुलना करके ही यह जाना जा सकता है कि कौन-सा आचरण उचित है और कौन-सा अनुचित। आधुनिक दृष्टिकोण यही है। पर, नियम स्वयं किसी लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए होते हैं, अत वास्तविक समस्या यह है कि जीवन का सर्वोच्च आदर्श क्या होना चाहिए। इसी समस्या से सम्बन्धित प्रश्न है कि क्या शुभ है?

इस प्रकार नैतिक नियमों के सम्बन्ध में भिन्न विचार हैं।*

(१) किसी बाह्य नियम को नैतिक मापदंड मानना—बाह्य नियमवाद बहिर्गत नियमों को नैतिक मापदंड मानना—कानूनी या वैधानिक मत (Legal or Jural theory)।

(२) आन्तरिक नियम को नैतिक मापदंड मानना—अन्त अनुभूतिवाद अपरोक्ष ज्ञानवाद या सहज ज्ञानवाद (Intuitionism)।

(३) जीवन के सर्वोच्च लक्ष्य को नैतिक मापदंड मानना—हेतुवाद (Teleological theory)

---

* मूईरहेड नैतिक-चेतना के विकास की तीन अवस्थायें बतलाते हैं।

(१) पहली अवस्था में मानव व्यवहार का नियंत्रण बहिर्गत नियमों के द्वारा होता है। इस अवस्था में किसी बाह्य सत्ता को ही सर्वशक्तिमान और आचरण-सम्बन्धी बातों में सर्वोच्च मान लिया जाता है। यह मानव जाति की विचारहीन अवस्था है। अत बाह्य नियम ही सर्वोच्च माना गया।

(२) जब मनुष्य की विचार-शक्ति विकसित हो जाती है और उसे अपनी शक्तियों का भान होता है तब वह नैतिक निर्णय में अपने को ही सर्वाधिकारी मानने लगता है। अत आन्तरिक नियम ही सर्वोच्च माना गया।
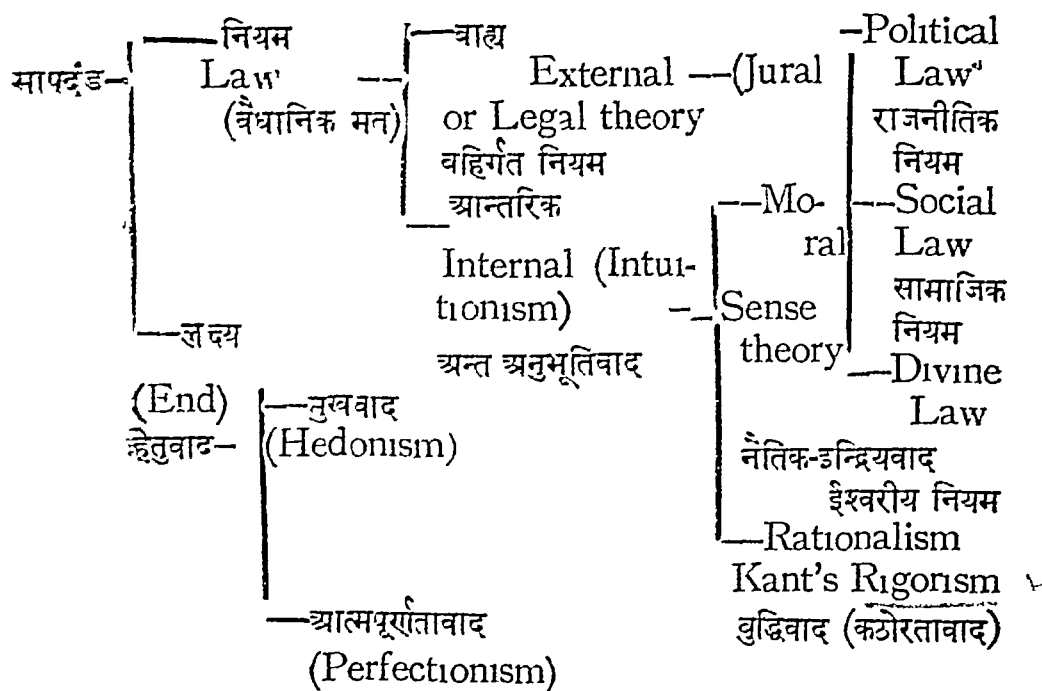
मूल्य का विचार (Value as standard)

कुछ विद्वानों के अनुसार आचरण-सम्बन्धी आदर्श किसी वाह्य सत्ता (authority) द्वारा ही निर्धारित किया जा सकता है और उसे मनुष्य को अन्तिम नियम मान लेना चाहिए। उन्ही नियमो के अनुसार ही मानव आचरण होना चाहिए। यह वाह्य सत्ता समाज, राज्य, प्रकृति या ईश्वर हो सकता है। इस प्रकार किसी ने समाज के नियमों को, किसी ने राज्य के नियमो को, किसी ने ईश्वरीय नियमो को ही नैतिक नियम वतलाया है। यह मत वाह्य नियमवाद या वैधानिक या कानूनी कहा जाता है।

पर जब मनुष्य की विचारशक्ति विकसित हो जाती है, वह अन्त करण द्वारा प्रस्फुटित विचार को ही नैतिकता के सम्बन्ध मे आखरी मानता है। अन्त करण

---

(३) इसके वाद जब नियमो की उपकारिता अर्थात् लक्ष्य विचार किया जाता है तब किसी आदर्श को ही नैतिक-आदर्श माना जाता है। अत. लक्ष्य ही सर्वोच्च नियम माना गया।

कौन-सी शक्ति है? इसके विषय में दो मत है—एक तो इसे इन्द्रिय-विशेष बतलाता है और दूसरा इसे विवेक-शक्ति मानते हैं।

प्रत्येक नियम का कोई लक्ष्य होता है। अत कुछ विद्वानों ने लक्ष्य का विचार ही मुख्य बतलाया है। यह हेतुवादी मत है। पर जीवन का लक्ष्य क्या होना चाहिए इसके सम्बन्ध में दो मत है, एक सुखवादी जो सुख को ही जीवन का चरम लक्ष्य विचारते हैं और दूसरा जो आत्मपूर्णता को। आत्मपूर्णता कौन से कर्मों का आचरण करने से सिद्ध होगा यह मूल्य के सिद्धान्त से स्पष्ट होता है।

———

दसवाँ परिच्छेद

बाह्य-नियमवाद या वैधानिक मत

External Law as the standard of morality

Legal or Jural theory

परिचय—यह साधारण धारणा है कि मनुष्य सुख-प्राप्ति और दुखों से निवृत्त होने के लिए ही कर्म करता है। कभी-कभी अपने सुख के लिए वह दूसरों को कष्ट भी देता है। इसलिए यदि मनुष्य का अनियंत्रित कर्म हो तो समाज का टिका रहना दुभर हो जाय। अत उसके कर्मों पर वाह्य नियंत्रण आवश्यक है। इसी दृष्टि से प्राचीनकाल मे ही यूनानियों ने वाह्य नियमों को ही अच्छे आचरण अर्थात् नैतिकता का मापदण्ड बतलाया था। तत्पश्चात् अन्य विद्वानों ने भी इस मत का समर्थन किया है। उनके अनुसार बहिर्गत-नियम अथवा किसी वाह्य सत्ता द्वारा निर्धारित नियम ही नैतिकता का चरम मापदंड है।

वैसे आदेश या आदेशों की व्यवस्था जो हम पर किसी वाह्य सत्ता की (ईश्वर, समाज या राज्य की) इच्छा या आज्ञाओं द्वारा वाहर से आरोपित किये जाते हैं बहिर्गत नियम है। एक साधारण उदाहरण लें। जब किसी व्यक्ति को बाल अवस्था मे अपने माता-पिता द्वारा यह आदेश मिलता है कि सबेरे ५ बजे उठना चाहिए और शाम को ७ बजे घूमकर वापस चला आना चाहिए तो यह आदेश बहिर्गत है। इसी प्रकार मानव-समुदाय के लिए किसी वाह्य सत्ता की इच्छा या आज्ञा से जिन नियमों को उन पर बाहर से आरोपित किया जाता है वही उनके आचरण का मापदंड है।

यह वाह्य सत्ता की इच्छा या आज्ञा किसी अन्य सत्ता पर निर्भर नहीं है। यदि इनकी इच्छा किसी अन्य सत्ता पर निर्भर मान लिया जाय तो फिर इनके आदेश का पालन आवश्यक नहीं माना जा सकता।

इनके आदेश हमें लिखित रूप में या भाषणों द्वारा या प्रचलित व्यवहारों के रूप में ज्ञात होता है। समाज के नियम लिखे हुए नहीं होते, वे प्रचलित व्यवहार के रूप में व्यक्त रहते हैं। पर राज्य के नियम अधिकतर लिखित रूप में रहते हैं।

बाह्य नियम ही मानव-आचरण के मापदंड हैं। यदि इन नियमों से आचरण की संगति हो तो वे नैतिक दृष्टि से उचित और यदि असंगति है तो अनुचित हैं।

इन नियमों का पालन करने के लिये हमें पुरस्कार और दंड के द्वारा बाध्य किया जाता है। यदि इन नियमों का पालन किया गया तो हमें पुरस्कार दिया जाता है। पुरस्कार की विधि भिन्न होती है। यदि किसी ने नियमों का उल्लंघन किया तो उसके लिए दंड विधान है। अत पुरस्कार के प्रलोभन और दंड के भय से ही इन नियमों का पालन करने के लिए हम बाध्य होते हैं। पुरस्कार का प्रलोभन और दंड का भय ही नैतिक अनुमोदन (moral sanction) है।

अत इन विद्वानों के अनुसार कोई कर्म स्वत. उचित या अनुचित नहीं है अर्थात् किसी भी कर्म में औचित्य और अनौचित्य अपने आप से नहीं हैं। कोई कर्म उचित या अनुचित किसी उच्चतर शक्ति की इच्छा से होता है। कोई कर्म इसलिए उचित है कि किसी उच्चतर शक्ति ने उसे पालन करने का आदेश दिया है और अनुचित भी इसीलिए कि उसका बहिष्कार करना ही आदिष्ट है। अत. नैतिक गुण, right-wrong, आदि, विषयगत (objective) नहीं है जैसे उजलापन किसी वस्तु में हो।

अब प्रश्न है कि कौन सी बाह्य शक्ति के आदेश नैतिक मापदंड है? इसके सम्बन्ध में विचारकों में मतभेद है। कुछ विद्वानों ने समाज को, अन्य ने राज्य को और कुछ ने ईश्वर को वह बाह्य शक्ति विचारा है जिनके आदेश नैतिक मापदंड हैं। अत नैतिक मापदंड सामाजिक नियम, राजकीय नियम या ईश्वरीय नियम विचारा गया है।

इन मतो की अलग-अलग विवेचना करने के पहले वाह्य नियमवाद की कठिनाइयों को समझ लेना चाहिए।

आपत्तियां

(i) वहिर्गत नियम किसी वाह्य सत्ता द्वारा निर्मित नियम है जो हम पर ऊपर से लादे जाते है। यदि हमारे कर्म उनके अनुकूल होते भी हैं तो उनमें नैतिकता का अभाव रहता है। वैसे ही कर्म नैतिक होते हैं जो हमारी स्वतन्त्र इच्छा से हुए हो और जिसको हमने स्वत यह समझ कर किया है कि ऐसा हमें करना चाहिए। पर वहिर्गत नियम के साथ 'करना पड़ेगा' का भाव है। नैतिकता मे 'करना चाहिए' का विचार होता है।

(ii) वहिर्गत नियम सदैव पुरस्कार के प्रलोभन और दंड के भय से लागू होता है। पर यदि हमने पुरस्कार के प्रलोभन और दंड के भय से कोई काम किया तो उसमे हमारा अभिप्राय व्यक्त नहीं होता और हमारा चरित्र प्रकाशित नहीं होता है। मान लें हमारा अभिप्राय खराव हो पर दड के भय से हमारा कर्म उसके विपरीत हुआ तो उससे हमारा चरित्र तो व्यक्त नहीं होता। इसलिए इस प्रकार किए गए कर्मों की नैतिक महत्ता नहीं रह जाती। ऐसे कर्मों को स्वार्थपरता या दूरदर्शिता कहा जा सकता है, नैतिक या धार्मिक नहीं। इसलिए नैतिकता के स्थान पर स्वार्थपरता और धर्म के स्थान पर दूरदर्शिता का विचार आ जाता है।

(iii) वहिर्गत-नियम वाह्य सत्ता की मनमानी इच्छा या संकल्प पर निर्भर है, अत यह विवेकपूर्ण नहीं है। कोई भी कर्म इस कारण से उचित या अनुचित है कि किसी वाह्य सत्ता ने इच्छा की है। इसमें क्यो का विवेकयुक्त उत्तर नहीं है। पर वास्तविक नैतिक मापदड विवेकयुक्त होना चाहिए। यदि मनमानी किसी कर्म को उचित या अनुचित मान लिया जाय तो वैसे सभी व्यक्ति अपनी समझ से नैतिक कर्मों का पालन करते ही हैं। नैतिक नियम बुद्धिसम्मत होना चाहिए।

(iv) वहिर्गत नियम नैतिकता का चरम मापदंड नहीं है। प्रत्येक नियम किसी लक्ष्य की पूर्ति का साधन होता है। अतः नियमों से उच्चतर वह लक्ष्य या साध्य है जिसके लिए नियम बना है। इसीलिए वहिर्गत नियमों को भी नैतिकता की कसौटी पर कसा जाता है।

(क) राजकीय नियम

(Political Law as the standard of morality)

हौब्स और बेन आदि विचारक राज्य के आदेश या राजनैतिक नियम को ही नैतिक नियम मानते है। साधारणतः ऐसा विचारा जाता है कि मनुष्य के व्यक्तिगत समस्याओं से राज्य का कोई सम्बन्ध नहीं है। राज्य केवल अत्याचार या कुरीतियों को रोकने और अन्य देशो से क्या सम्बन्ध हो इसके विषय में ही नियम बनाती है। पर इन विचारकों के अनुसार मनुष्य के कर्त्तव्य या अकर्त्तव्य को राज्य ही निर्धारित करती है। अतः मनुष्य को क्या करना चाहिए और कैसे कर्म उचित या अनुचित है इनका उन्ही नियमो से प्रकाश मिलता है।

यह विचार इस मत पर आश्रित है कि राज्य निरपेक्ष सत्ता है। राज्य किसी अन्य सत्ता पर निर्भर नहीं है। अतः राज्य आचरण-सम्बन्धी नियम भी निर्माण करता है। इन नियमों को पुरस्कार का प्रलोभन और दंड का भय देकर ही व्यक्तियों पर लागू किया जाता है। वैसे व्यक्ति जो राज्य के आदेशों के अनुकूल आचरण करते हैं उनके लिए पुरस्कार और जो उनका उल्लंघन करते है उनके लिए दंड का विधान किया जाता है।

अतः इन विचारकों के अनुसार राज्य का नियम ही मनुष्य की नैतिकता की कसौटी है। वह जो राज्य द्वारा आदिष्ट है उचित है और राज्य द्वारा निषिद्ध अनुचित। हौब्स ने कहा है कि औचित्य-अनौचित्य सम्बन्धी किसी भी बात में राज्य का नियम ही सर्वोच्च न्यायालय है। उन नियमों के विपरीत विचार करना भूल है।

आलोचना :—

(i) राज्य के नियम बाहर से हम पर लादे जाते हैं। अत उनसे 'चाहिए' की भावना का उदय नहीं होता।

(ii) नैतिक नियम को बुद्धिसम्मत होना चाहिए। राज्य के नियम मनमानी होते हैं। अत वे नैतिक नियम नहीं हो सकते। आलोचको का मत है कि राज्य के नियम वैसे लोगो द्वारा निर्मित हैं, जो राजनैतिक कल-पुर्जो को चलाना जानते है।

(iii) राज्य के नियम पुरस्कार के प्रलोभन और दंड के भय से पालन करवाए जाते हैं। अत नैतिकता के स्थान पर स्वार्थपरता और धर्म के स्थान पर दूरदर्शिता आ जाती है।

(iv) राज्य के नियम सभी काल और देश में समरूप नही होते। कम्यूनिस्ट और पूँजीपतियो के राज्यो के विरोधात्मक नियम हैं। राज्य के अलग-अलग रूप होते हैं और उनके नियम भिन्न हैं। नैतिक मापदंड समरूप और संवादयुक्त होना चाहिए। अत राज्य के नियम अन्तिम नैतिक मापदंड नहीं हो सकते।

(v) जितने भी राज्य के नियम होते हैं वे किसी आदर्श की पूर्त्ति के लिए। अत वे लोक-हित के साधन हैं। उन्हे अन्तिम नैतिक मापदंड कैसे माना जा सकता है?

(vi) जीवन की सभी परिस्थितियो के लिए राज्य के नियम नहीं बनाए जा सकते। वे केवल मनुष्य के व्यवहार के एक अश से ही सम्बन्धित होते हैं। उनसे हमारे सभी कर्मों की परीक्षा सम्भव नही हैं। हमारे विचारों की दुनिया या हमारी प्रवृत्तियो या अभिप्रायों तक उनकी पहुच नहीं है। पर मनुष्य के अभिप्रायों के आधार पर ही नैतिक-निर्णय होता है। अत राज्य के नियम नैतिक मापदंड कैसे होगे?

(vii) राज्य के नियमो का स्वयं नैतिक दृष्टि से मूल्याकन होता है। राज्य का जब भी कोई नियम बनता है तो वह कहाँ तक उचित या अनुचित है

इसका विचार किया जाता है। अत वे अन्तिम नैतिक नियम कैसे होंगे ? क्या राज्य के नियमों को नैतिक दृष्टि से अनुचित मानकर राज्य के विरुद्ध क्रान्तियाँ नहीं होती और वे नियम बदल नहीं दिए जाते ? तो अन्तिम कसौटी राज्य का नियम कैसे होगा ?

हौब्स का मत मानने का अर्थ है सूफीवाद (Sophism) का पुनरुत्थान, जिसका सिद्धात है 'जिसकी लाठी उसकी भैंस'।

राज्य निरपेक्ष सत्ता क्यों है ?

Why State is absolute ?

राज्य के नियम को हौब्स ने चरम नैतिक मापदंड वतलाया है। ऐसा इसी कारण से विचार किया गया है कि राज्य एक निरपेक्ष सत्ता है। पर राज्य निरपेक्ष सत्ता क्यों है ?

प्रत्येक व्यक्ति शुभ चाहता है। व्यक्ति का स्वार्थ-सुख ही शुभ है। अतः मनुष्य का प्रत्येक कर्म स्वार्थ-सुख के उद्देश्य से ही होता है। वैसे कर्म जो परार्थ-मूलक है या सामाजिक उपयोगिता के लिए किए जाते हैं वे भी वास्तव मे स्वार्थ-मूलक ही हैं। मनुष्य की प्रकृति ही ऐसी है। अत सभ्यता और समाज के निर्माण के पहले मनुष्य स्वार्थप्राप्ति के लिए ही लड़-झगड़ कर जीवन व्यतीत करता था। वह जगलो मे रहता था। पशुओं को मार कर खाना, दूसरे व्यक्ति से उसका आहार छीन लेना, कमजोरों को मार देना यही अवस्था थी उस समय की। इसी को हौब्स आदि ने प्राकृतिक अवस्था कहा है। उस समय उचित-अनुचित का भेद-भाव नहीं था। 'जिसकी लाठी उसकी भैंस' यही आचरण का आदर्श था। पाशविक शक्ति ही धर्म माना जाता था। पर ऐसी अवस्था सब के लिए असह्य थी। वैसे जो शक्तिहीन थे उनकी हालत दुभर थी। अत विवेक ने पाशविक शक्ति का स्थान ग्रहण किया। लोगों ने इस अवस्था से उठने का विचार किया। विवेक ने युद्ध के स्थान पर शान्ति मार्ग ग्रहण किया। इस प्रकार आपस मे समझौता कर, पारस्परिक लाभ के लिए समाज की सृष्टि की गई। इसे सामाजिक-

समझौता-सिद्धान्त (Social contract theory) कहा जाता है। समाज का ही विकास राज्य में होता है। इसमे यह स्पष्ट है कि राज्य या समाज की उत्पत्ति व्यक्ति को वाह्य आक्रमणों या खतरो से बचाने के लिए ही हुई है। अतः वैसा ही राज्य अत्युत्तम है जो सर्वशक्तिशाली है। ऐसा होने से ही राज्य अपने उद्देश्य की पूर्ति कर सकता है। इसीलिए राज्य को हौब्स ने निरपेक्ष सत्ता कहा है। राज्य के नियम को भी, इसीलिए, उसने चरम नैतिक मापदंड माना है।

आपत्तियाँ :—

(1) यह मत ऐतिहासिक नही है। इतिहास से इस बात को कोई प्रमाण नहीं मिलता कि मनुष्य कभी भी बिना समाज के रहा हो। समाज का रूप भले ही भिन्न रहा हो पर वह अन्य पुरुषो से सर्वथा विच्छिन्न नहीं रह सकता। इसलिए मनुष्य की 'प्राकृतिक अवस्था' कोरी कल्पना है।

(ii) समाज की इकाई परिवार है। मेन, कॉमटे आदि समाजवेत्ताओं ने बतलाया है कि समाज परिवार का समूह है न कि व्यक्तियों का। इसलिए यह विचार कि स्वतन्त्र व्यक्तियो ने समझौता द्वारा समाज का निर्माण किया गलत प्रतीत होता है।

(iii) हौब्स ने प्राकृतिक अवस्था मे भी उचित-अनुचित, नियम आदि की चर्चा की है, पर उचित-अनुचित, नियम, समझौता आदि तो तभी सम्भव है जब मनुष्य मे इतनी जागृति हो। जैसी प्राकृतिक अवस्था की कल्पना की गई है उसमें जागृति सम्भव नही है। इसलिए समझौते की कल्पना भी निर्मूल है।

(iv) हौब्स ने मनुष्य को केवल स्वार्थी माना है और उसकी स्वार्थ-विहीन, लोक कल्याणजन्य उच्च भावनाओ को भी जड़ मे स्वार्थमूलक ही कहा है। पर वास्तव मे मनुष्य स्वार्थी और परार्थी दोनों है। उसमें आत्म-समर्पण की भी उतनी ही भावना है जितनी स्वार्थ-पूर्ति की।

(v) अन्त में, हौव्स के सिद्धान्त से भी स्वयं यही निष्कर्ष निकलता है कि समाज या नैतिकता मानव-विवेक के फल हैं ।

सामाजिक नियम

(Social law as the standard of morality)

कुछ विद्वानो का विचार है कि समाज का नियम ही नैतिक मापदण्ड है । मनुष्य सामाजिक प्राणी है । वह समाज में रहता है और उसी पर इसका अस्तित्व निर्भर है । अत समाज का आदेश ही आचरण-सम्बन्धी आदर्श है ।

समाज द्वारा आदिष्ट उचित और जो निषिद्ध है वही अनुचित है । इसलिए किसी व्यक्ति के वैसे कर्म जो सामाजिक नियमो के अनुकूल हैं वे उचित और जिनसे उन आदेशो का उल्लघंन होता है वे अनुचित हैं ।

समाज के नियम किसी संसद या व्यक्ति-विशेष द्वारा निर्मित नहीं होते । वे प्रचलन और रीतियो मे ही व्यक्त रहते हैं । इसलिए उन्हें जानने का तरीका है सामाजिक रीतियों का जानना ।

समाज अपने आदेशो को पुरस्कार के प्रलोभन और दण्ड के भय से ही पालन कराती है । समाज द्वारा जाति वहिष्कार या वायकाट आदि, दंड के रूप हैं । वेन ने कहा है कि नैतिकता एक सामाजिक संस्था (social institution) है, जिसका संरक्षण समाज की शक्ति और दण्ड के द्वारा होता है । वही कर्म, जो समाज से आदिष्ट है, नैतिक है । प्रत्येक नागरिक का कर्त्तव्य है कि वह उसका पालन करे ।

आलोचना.—

(1) वेन का विचार हौव्स के मत का समर्थन है । अत जो उसके विरुद्ध पहली तीन आपत्तियां थीं वे यहाँ भी लागू हैं । (i) सामाजिक नियम हम पर लादा जाता है (ii) यह बुद्धिसम्मत नहीं है और (iii) नैतिकता और धर्म के स्थान पर स्वार्थपरता और दूरदर्शिता आ जाती है ।

(iv) समाज के नियम समरूपी नही होते हैं। भिन्न समाज के भिन्न नियम है। जिस नियम की किसी समाज मे पूजा होती है उसीकी दूसरे स्थान मे आलोचना। एक ही समाज मे समय के परिवर्तन से नियम भी बदल जाता है। जिस प्रचलन की अभी तक हम प्रशंसा करते रहे थे उसे ही अब दूषित माना जाता है (सती प्रथा आदि)। पर नैतिक मापदंड समरूपी और आत्मसंगत होना चाहिए। सामाजिक नियम समरूपी नहीं होते और उनमें आत्म-संगति भी नही अर्थात् आपसी विरोध भी होता है अत वे वास्तविक मापदंड नहीं हो सकते हैं।

(v) समाज भी राज्य की भाति ही व्यक्ति के व्यवहार के एक अश को ही जान सकता है। किसी भी व्यक्ति के अभिप्रायो को केवल निश्चित रूप से वही जान सकता है, समाज नहीं। अभिप्राय ही नैतिक-निर्णय के विषय हैं। अत समाज इस क्रिया का भली-भाति सम्पादन नहीं कर सकता।

(vi) सामाजिक नियमों को नैतिकता का चरम मापदन्ड मान लेने से सामाजिक उत्थान सम्भव नहीं होगा। समाज, अधिकतर, रुढीवादी होता है। जो प्रचलन रहती है उसके विरुद्ध आरम्भ मे कर्म करने से समाज की यातनाएँ सहनी पडती हैं। समाज स्वत पुरानी रीतियो को सरलता से छोड़ने के लिए तैयार नहीं होता है। यदि उन्ही नियमो को मनुष्य अपने जीवन का चरम लक्ष्य मान ले तो उनके आगे वह जा ही नही सकता। इसलिए समाज की गति रुक जायगी।

(vii) समाज के नियम तो खुद ही नैतिक आलोचना के विषय हैं। समाज का कौन सा नियम नीति-संगत है और कौन नही इसकी हर काल में विवेचना होती है। अत उन्हें नैतिकता का चरम मापदंड कैसे माना जाय? सेद ने ठीक ही कहा है कि प्राचीन युग का नैतिक आदर्श सामाजिक या राजनैतिक आदर्श था, पर वर्तमान युग का व्यक्तिवादी आदर्श है।

ईश्वरीय-नियम

(Divine Law as the standard of morality)

नियम राज्य के द्वारा निर्मित हो या समाज के द्वारा, मनुष्य ही उनका निर्माण करता है। मनुष्य अपूर्ण है। अत वे नियम भी पूर्ण नही होते। इसीलिए, वे वास्तविक और चरम नैतिक आदर्श नही हो सकते। केवल ईश्वर ही पूर्ण है। वह स्वयंभू (uncreated) और सर्वव्यापक है। उसकी स्वच्छन्द इच्छा पर सभी सत्य आश्रित हैं। इसलिए लॉक, डेकार्त आदि विद्वानो ने ईश्वरीय नियम को ही नैतिकता का चरम मापदंड बतलाया है। ईश्वर की स्वतन्त्र इच्छा ही नैतिकता की कसौटी है इसलिए कि उसकी स्वतन्त्र इच्छा से नैतिक नियमों का निर्माण होता है। वैसे कर्म जो उसके द्वारा आदिष्ट हैं उचित हैं और वे जो निषिद्ध हैं अनुचित। वह इसलिए किसी कर्म का आदेश या निषेध नही करता कि वैसा उचित या अनुचित है अपितु वह आदेश देता है और निषेध करता है इसलिए वे कर्म उचित या अनुचित हैं। उसका आदेश उचित-अनुचित पर निर्भर नही अपितु उचित-अनुचित ही उसके आदेशो पर निर्भर है। वह उचित को अनुचित और अनुचित को उचित बना दे सकता है।

उसके आदेश पुरस्कार के प्रलोभन और दंड के भय से ही हम पालन करते हैं। यदि ईश्वर के आदेशो के अनुकूल कर्म हुए तो स्वर्ग और यदि विपरीत तो नरक का कष्ट भोगना पडता है।

ईश्वर अपने आदेशो और इच्छाओ को पैगम्बरो या अनुप्रेरित ऋषियों को व्यक्त करता है जो उन्हे 'धर्म-ग्रंथो में अंकित कर या अपने वक्तव्यो के द्वारा हमें ज्ञात कराते हैं।

आलोचना:—

(1) ईश्वरीय-नियम भी अन्य वहिर्गत नियमो की भांति हम पर बाहर से लादे जाते हैं अत. उनका पालन 'चाहिए' की भावना से नहीं अपितु 'पालन

करना होगा' की भावना से ही होता है। इस भावना में स्वतन्त्रता नही, अतः नैतिकता का लोप हो जाता है।

(ii) नैतिक मापदन्ड बुद्धिसम्मत होना चाहिए पर ईश्वरीय नियम ईश्वर की स्वच्छन्द इच्छा पर निर्भर है।

(iii) पुरस्कार के प्रलोभन और दंड के भय से किए गए कर्म स्वार्थ मूलक या दूरदर्शितापूर्ण माने जा सकते हैं, नैतिक या धार्मिक नही।

(iv) इस मत के अनुसार नैतिक गुण अर्थात् औचित्य-अनौचित्य, शुभ-अशुभ आदि ईश्वर की इच्छा पर निर्भर है। वह शुभ को अशुभ और अशुभ को शुभ कर दे सकता है। नैतिक गुणो की सृष्टि उसीने की, अतः वह स्वयं इन नैतिक भेदो के परे हैं। इसका तात्पर्य यह हुआ कि ईश्वर नीति-शून्य है। अच्छाई आदि नैतिक गुण उसके आवश्यक गुण नही है। अतः इस मत के अनुसार ईश्वर की पूर्णता लुप्त हो जाती है। वह डर का विषय हो जाता है, श्रद्धा का नही।

(v) वास्तव में ईश्वर नैतिक-पूर्णता की शाश्वत-मूर्त्ति है। वह पूर्ण है। शुभ और धर्म उसकी आवश्यक प्रकृति है। यह कहना कि वह शुभ को अशुभ या अशुभ को शुभ कर दे सकता है युक्तिपूर्ण नही है, क्योंकि वह अपने स्वभाव या प्रकृति को कैसे बदल सकता है। जो उचित है उसका उसके स्वभाव से सामञ्जस्य है और जो अनुचित उसका वैमनस्य। इसलिए उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ आदि नैतिक गुण उसके स्वभाव पर निर्भर हैं न कि उसकी इच्छा पर। कोई कर्म इसलिए शुभ या अशुभ नहीं है कि वह ऐसा आदेश देता या निषेध करता है बल्कि वह ऐसा आदेश या निषेध इसलिए करता है कि वे शुभ या अशुभ हैं।

(vi) यह विचार कि नैतिक गुण (शुभ-अशुभ, उचित-अनुचित) ईश्वर की इच्छा पर नहीं बल्कि उसकी प्रकृति पर आश्रित हैं, देकार्त ने स्वयं कई स्थानो पर व्यक्त किया है।

(vii) धर्म अनेक हैं। उनमें अधिकांश तत्त्वों में मौलिक समरूपता नहीं है। अतः उन्हें वास्तविक नैतिक मापदण्ड मानने में अड़चन आ जाती है।

(viii) ईश्वरीय-नियम भी किसी उद्देश्य के साधन ही हैं। अतः उन्हें चरम नैतिक मापदण्ड नहीं माना जा सकता है।

सारांश

वस्तुतः नीति का स्थान मनुष्य के अभिप्राय में है। वैसे कर्म जो स्वतन्त्र इच्छा से होते हैं वही उचित या अनुचित हो सकते हैं। इसलिए वैसे नियमों का पालन करने में जो किसी वाह्य सत्ता द्वारा निर्मित हो, नैतिकता नहीं है। वास्तविक नैतिक नियम तो वही होगा जो वाह्य नहीं अपितु आन्तरिक हो। इसलिए मनुष्य वाह्य मापदण्डों को छोड़ किसी आन्तरिक अर्थात् स्वतः-निर्मित मापदण्ड की खोज करने का प्रयत्न करता है।

TYPICAL QUESTIONS

1 Explain the significance of Law in ethics and consider the different forms in which it has been conceived as a standard of conduct

2 'Legal theory substitutes self-interest for morality and prudence for virtue Explain this statement with reference to the theory of External law as the standard of morality

3 'Civil law alone is the supreme court of appeal in all matters of right and wrong' Explain and comment

4 How far Divine law can be considered as the ultimate standard of morality ? Discuss

5 Man being a social animal, his only guide in matters of morality is society Explain and comment.

ग्यारहवाँ परिच्छेद

अन्तःअनुभूतिवाद (Intuitionism)

विषय-प्रवेश—मनुष्य को बाल अवस्था मे बाह्य आदेशो की जरूरत होती है। उस समय स्वयं, सत्य-असत्य, उचित-अनुचित, शुभ-अशुभ को पहचानने की शक्ति विकसित नहीं रहती है। उस समय बाह्य आदेशो को ही बालक ग्रहण करता है। पर जब उसकी चेतना विकसित होती है तो वह उन आदेशो की स्वयं भी मीमांसा करना आरम्भ करता है। वैसे जो उसे बुद्धिसम्मत प्रतीत होते हैं उन्हें अपना लेता है और कुछ नए विचारो का स्वत निर्माण करता है। वैसे ही विचार उसके जीवन के पथ प्रदर्शक होते है। नैतिक चेतना के विकास का भी मनुष्य के जीवन मे समान इतिहास है। पहले-पहल आचरण के नियामक बाह्य होते हैं। नैतिक चेतना विकसित हो जाने पर मनुष्य उन नियामको की परीक्षा कर स्वत. नैतिक मापदण्ड का निर्माण करता है। इस प्रकार अन्त-अनुभूति-वाद का जन्म होता है जिसके अनुसार वास्तविक नैतिक मापदण्ड आन्तरिक है, बाह्य नही।

अन्तःअनुभूतिवाद (Intuitionism) के सामान्य सिद्धान्त

इस सिद्धान्त को अच्छी तरह समझने के लिए दो बातो को अलग-अलग समझ लेना चाहिए। (1) नैतिक गुण के विषय मे उनका क्या मत है? (ii) उनका ज्ञान मनुष्य को कैसे होता है अर्थात् नैतिकता का मापदण्ड क्या है ?

(क) किसी भी कर्म को साधारणत इसलिए उचित या अनुचित विचार किया जाता है कि उसका फल वैसा है या जिस उद्देश्य से वह कर्म किया गया है वह वैसा है। अन्त अनुभूतिवाद के अनुसार नैतिक गुण अर्थात औचित्य-

अनौचित्य कर्मों मे अन्तर्भूत (intrinsic) हैं। कोई कर्म स्वत (per se) अपने स्वभाव के अनुसार उचित या अनुचित होता है। उनका नैतिक गुण उनके फल या जिन उद्देश्यों से कर्म किए जाते हैं उन पर निर्भर नही है। जिस प्रकार किसी भौतिक पदार्थ का रंग किसी अन्य तत्त्व पर निर्भर नही रहता ठीक उसी प्रकार किसी कर्म का नैतिक गुण कर्म-फल या उद्देश्य पर आश्रित नहीं है। यदि खल्ली मे उजलापन है तो उजलापन क्यों है इसका उत्तर होगा, वही उसकी प्रकृति है, उसी तरह यदि कोई कर्म उचित है तो वह क्यो उचित कहा गया इसका उत्तर होगा, वही उसकी प्रकृति है। उसे उचित या अनुचित किसी अन्य कारण से नही कहा जाता। यह मत नैतिक गुणो को स्वतन्त्र बतलाता है, फल या उद्देश्य या और किसी बात पर निर्भर नहीं।

नैतिक गुण अव्युत्पन्न (underived) होता है। यह किसी अन्य बात से निकाला नहीं जाता। ऐसा मानना कि हम अपनी बुद्धि या विवेक से इसे निकालते हैं या कल्पना करते है, भ्रातिमूलक है। कोई भी बुद्धि उचित को अनुचित या अनुचित को उचित नहीं बना सकती। उचित, उचित है और अनुचित, अनुचित; वे बदले नहीं जा सकते।

नैतिक गुण या नियम मौलिक (fundamental) और अनुपम (unique) हैं। कर्म इसलिए उचित या अनुचित नही होते कि वे किसी सामान्य नियम के अनुकूल या विपरीत हैं अपितु इसलिए कि वही उनका स्वभाव है। अत किसी कर्म को इसलिए उचित या अनुचित मानना कि उससे स्वार्थ-पूर्त्ति या सुख या कोई अन्य प्रयोजन सिद्ध होता है, भूल है। यह मत नैतिकता मे कोई प्रयोजन नहीं मानता।

नैतिक गुण विषयगत (objective) होता है। जिस प्रकार रंग किसी वस्तु में है और हमारे विचारों पर निर्भर नही उसी प्रकार नैतिक गुण कर्म में हैं, हमारे विचारने पर निर्भर नही।

सुखवादियों का विचार कि कोई कर्म तभी उचित या शुभ है जब उससे सुख मिले, गलत है। किसी कर्म के सुख उत्पन्न करने की शक्ति पर उसका

नैतिक गुण निर्भर नहीं है। सुख या आनन्द धर्म का मापदण्ड नहीं है। कर्म स्वत: अच्छे या बुरे होते हैं। इसका यह अर्थ नहीं होता कि अच्छे कर्म के आचरण से अच्छा फल और बुरे कर्म से बुरा परिणाम नही होता पर अच्छे परिणाम के कारण किसी कर्म को अच्छा या बुरे परिणाम के कारण बुरा मानना भूल है। 'धर्म से सुख प्राप्ति होगी' ऐसा कहना ठीक होगा न कि 'सुख मिलेगा तब धर्म होगा' जैसा सुखवादी मानते हैं। 'तुम अच्छे बनो तुम्हें आनन्द होगा' न कि 'तुम्हें आनन्द हुआ है इसलिए तुम अच्छे हो'।

नैतिक गुण अनुभव-जन्य नहीं है (apriori)। उनका हमें अनुभव द्वारा ज्ञान हो सकता है, जैसे, रंग आदि का होता है पर वे स्वयं अनुभव पर आश्रित नहीं रहते।

(ख) नैतिक गुण कर्म में ही अभ्यन्तर हैं, इसलिए उनका ज्ञान मनुष्य को अन्त:करण (Intuition) के द्वारा होता है। कोई कर्म उचित है या अनुचित यह अन्त:करण को बिना लक्ष्य और कर्म-फल का विचार किए ही अपरोक्ष (direct) ज्ञान हो जाता है। इसलिए कर्त्तव्य-अकर्त्तव्य के निर्णय के लिए किसी बाह्य सत्ता के आदेशों पर निर्भर नही रहना चाहिए अपितु अपने अन्दर ही उसे ढूंढ़ना चाहिए। अन्त:करण ही यह सही-सही बतला सकता है कि कौन से कर्म उचित है और कौन अनुचित।

इस मत के अनुसार, अन्त:करण ही नैतिकता का मापदण्ड है। उसीके आदेश नैतिक नियम हैं। वह जो आदेश देता है, उचित और जो निषेध करता है, अनुचित है।

अन्तःकरण शुद्ध और अव्युत्पन्न है। यह किसी दोष से दूषित नहीं होता और न किसी अन्य शक्ति से व्युत्पन्न किया जाता है।

इसके निर्णय अपरोक्ष हैं। दूसरे निर्णयो मे किसी आधार की आवश्यकता होती है पर इसके निर्णयों मे नहीं। इसलिए नैतिक निर्णय की क्रिया सहज होती है।

अन्त:करण किसी खास व्यक्ति की सम्पत्ति नहीं है। यह सामान्य रूप से सबके अन्दर है। जिस प्रकार विवेक-शक्ति (rationality) सभी मनुष्य

मे होती है पर किसी में कम विकसित और किसी मे अधिक, उसी प्रकार यह भी सबके अन्दर है किसी मे कम विकसित और किसी मे अधिक।

अन्त:करण से कभी भूल नही होती है। जिस प्रकार आँखो से, यदि कोई रोगग्रस्त नहीं हो, रंग पहचानने मे भूल नही होती और कभी भूल होने पर आँखें ही उसे पहचानती हैं, उसी प्रकार अन्त करण कर्मो में नैतिक गुणो को पहचानने में गलती नहीं करता। वैसा अन्त करण जो भूल करता हो भ्राति मूलक है (Erring conscience is a chimera)। इसलिए नैतिक-निर्णय के लिए कर्मों को अन्त करण के न्यायालय में उपस्थित कर देना चाहिए जो किसी विरोध और अपील को नहीं सुनता।

अन्त करण प्रभुत्वसम्पन्न (authoritative) होता है। इसके द्वारा मनुष्य अपने कर्म पर और इस प्रकार कुछ अशो में प्रकृति पर भी अधिकार प्राप्त कर सकता है। यह प्रकृति की भाति यान्त्रिक नियमों के द्वारा संचालित नहीं होता, यह मनुष्य की कर्त्तव्य-चेतना को प्रभावित करता है।

प्राचीन काल मे सुकरात, प्लेटो आदि इस मत के प्रवर्त्तक माने जा सकते हैं। इनका विचार है कि नैतिक गुण अपरिवर्तनशील, सनातन तथा प्रकृत है। संदेहवादी सूफियों (sophists) का भी मत है कि नैतिकता प्रकृति मे ही निहीत है। इनके अतिरिक्त रीड, मार्टीनू, सेफ्टस्वरी, कडवर्थ, बटलर, काट आदि भी इस मत के समर्थक हैं। वर्त्तमान काल में अन्त अनुभूतिवाद हौब्स के सिद्धान्तों की आलोचना के रूप मे आता है।

सारांश--

(1) नैतिक गुण, न कर्म-फल, न उद्देश्य, न मानव विचारो पर निर्भर है अपितु कर्म में ही निहीत है। कोई कर्म स्वत: ही उचित या अनुचित होता है (Moral quality is intrinsic in actions)

(ii) नैतिक गुण अव्युत्पन्न हैं (Moral quality is underived)

(iii) वे मौलिक और अनुपम हैं (Moral qual. are fundamental & unique)

(iv) वे विषयगत हैं (Moral qual are objective)

(v) वे अनुभव-जन्य नहीं हैं (Moral qual. are apriori)

(vi) नैतिक गुणों का ज्ञान अन्त:करण के द्वारा होता है (We know the moral qual by Intuition)

(vii) अन्त:करण ही इसलिए नैतिक मापदंड है। उसी को नैतिक गुणों की पहचान है। अतः अन्त:करण से आदिष्ट उचित और निषिद्ध अनुचित है [Intuition is the moral standard]

(viii) अन्त:करण से कभी भूल नहीं होती [Erring conscience is a chimera]

(ix) यह शुद्ध और अव्युत्पन्न है [It is pure and underived]

(x) इसका निर्णय अपरोक्ष या सहज है [It knows the moral quality directly]

(xi) यह सामान्य रूप से सबके अन्दर है [It is universal]

(xii) यह प्रभुत्वसंपन्न है [It is authoritative]

अन्त:अनुभूतिवाद के विरुद्ध आपत्तियाँ—

(1) निर्णय-शक्ति या विचार-शक्ति और भावना-शक्ति व्यक्ति के अन्त करण के ही तत्त्व हैं। कभी-कभी दोनों मे विरोध हो जाता है। उदाहरणार्थ, अन्तर-जातीय विवाह बुद्धि के अनुसार उचित है पर वैसे लोग जो इसे उचित भी मानते हैं वे सभी स्वयं ऐसा करने मे हिचकते हैं। उनकी भावनाएं इसके लिए स्वीकृति नहीं देती। विचार कभी एक ओर खींचता है और भावनाएँ दूसरी ओर। इस अवस्था में कर्मों का निर्णायक कौन होगा? निर्णय-शक्ति और भावना-शक्ति दोनों ही तो अन्त करण के ही तत्त्व हैं।

(ii) अन्त.अनुभूतिवादियों का मत है कि नैतिकता के सिद्धान्त सभी व्यक्तियो को सामान्य रूप से अन्त करण के द्वारा ज्ञात हो जाते है। पर वस्तुनः हम नैतिक निममो को जाति, युग और व्यक्तियो के साथ वदलते हुए पाते हैं। ऐसा कोई भी नैतिक नियम नही मिलता जो हर युग मे एक रहा हो। यदि इसके उत्तर में यह कहा जाय कि नियम भले ही युग-युग मे वदलते हो पर उचित-अनुचित का विचार सदा वर्त्तमान रहा है तो यह उत्तर सन्तोपजनक नहीं हुआ क्योकि उचित-अनुचित क्या है इससे स्पष्ट नहीं होता।

(iii) ऊपर की आलोचना से यह सिद्ध होता है कि अन्तःअनुभूतिवाद से नैतिकता का समरूपी मापदंड नही मिलता। भिन्न व्यक्तियो का अन्त.करण एक ही परिस्थिति मे भिन्न आदेश देता है। जिस वात की हमारे अन्त - करण से स्वीकृति मिलती है उसीको दूसरे के अन्त करण से अस्वीकृति। तव क्या आचरण-सम्वन्धी नियम भी हर व्यक्ति के लिए भिन्न होंगे?

(iv) वाह्य नियमवाद की कठिनाइयो को दूर करने के लिए ही अन्त - करणवाद की सहायता ली गई थी। पर क्या अन्त.करण के आदेश, वास्तव मे, अपने हैं? आन्तरिक नियम तो वास्तविक रूप से आन्तरिक तव होंगे जव वे हमारे अपने हों अर्थात् स्वत. निर्मित हो, न कि अपने अर्थात् स्व के किसी एक अंश के द्वारा। पर अन्त.करण व्यक्ति का केवल एक अश है। अन्त करण ही मनुष्य का सम्पूर्ण व्यक्तित्व नहीं होता। इसके अतिरिक्त वुद्धि, विवेक, भावनाएं आदि व्यक्ति की अन्य शक्तियाँ भी हैं। इसलिए अन्त करण के आदेश व्यक्ति के एक अश के आदेश हैं। अत' उसके द्वारा निर्मित नियम वास्तव में वाह्य ही हुआ, आन्तरिक नहीं। अन्त.करण एक ऐसी जन्मजात नैतिक शक्ति है जो हमें अपने आदेशो को पालन करने के लिए वाध्य करती है, पर स्वत निर्मित नियमो को स्वच्छन्द रूप से पालन करने में नैतिकता है।

(v) अन्त अनुभूतिवाद नैतिक भेदो का कोई कारण नहीं मानता। क्यों कोई कर्म उचित है या अनुचित है इसका उत्तर इस मत में नहीं मिलता।

इसलिए यह मत रूढीवादी (dogmatic) है। कर्म-फल का इस मत में कोई महत्व नहीं है। कोई कर्म स्वतः उचित है या अनुचित है। अत अन्तःकरण के आदेशों को बिना कर्म के परिणाम आदि का विचार किए ही पालन करना चाहिए। पर यह मत मनुष्य के विवेक को सन्तोषजनक प्रतीत नहीं होता। 'कूदने के पहले देख लो' न कि 'देखने के पहले ही कूद जाओ'।

(vi) प्रत्येक नियम का अपवाद होता है। नैतिक नियमों के लिए भी यह सत्य है। कोई भी नियम हर परिस्थिति में एक ही प्रकार से लागू नहीं किया जा सकता। हत्या वर्जित है पर न्यायालयों में मृत्युदण्ड दिया जाता है और उसे पाप नहीं कहा जा सकता। किसी विशेष परिस्थिति में किसी नियम को लागू करने से क्या परिणाम होगा इसी पर उसका लागू करना या नहीं करना निर्भर है। अतः अपवाद को जानने के लिए परिणाम का विचार आवश्यक है। पर अन्तःअनुभूतिवादियों के अनुसार नैतिक नियमों में परिणाम का विचार नहीं होता। उनके अनुसार, इसलिए, नैतिक नियमों में कोई अपवाद नहीं हो सकता। पर यह मत अत्यधिक कठोरवादी है। मनुष्य के लिए नैतिकता है न कि नैतिकता के लिए मनुष्य। यह मत मनुष्य में नैतिक अन्धविश्वास उत्पन्न करता है।

(vii) यदि अन्तःअनुभूतिवादियों के मतानुसार परिणाम का नैतिक निर्णय में कोई महत्व ही नहीं है तो बुरे और अच्छे कर्मों का भेद ही मिट जायगा। यदि परिणाम का कोई नैतिक महत्व नहीं है तो शराब पीने में क्या बुराई है? उसके परिणाम के कारण ही तो उसे खराब कहा जाता है। इसलिए किसी कर्म के निर्णय में परिणाम का भी विचार आवश्यक है।

(viii) कभी-कभी नैतिक नियमों में ही आपसी विरोध हो जाता है। 'दूसरे को कष्ट न दो' यह एक सिद्धान्त है 'अन्यायी को दंड दो' यह दूसरा। क्या दंड देने में कष्ट नहीं होगा? इस विरोध का समाधान बिना परिस्थिति या लक्ष्य का विचार किए कैसे होगा? अत उचित-अनुचित आदि का निर्णय, बिना यह विचार किए हुए कि उससे किस उद्देश्य की पूर्ति होती है, गलत

है। विना यह विचार किये हुए कि किसी कर्म से कहा तक मानव-कल्याण होगा उस कर्म की नैतिकता अर्थात् औचित्य-अनौचित्य निर्णय करना विवेकपूर्ण नहीं कहा जा सकता।

अन्त:अनुभूतिवाद के गुण (merits)--इन दोषो के अतिरिक्त इस मत के कुछ गुण भी हैं। (1) इस मत से स्पष्ट हो जाता है कि उचित कर्म ऐसे नहीं हैं जिनसे मनुष्य का स्वार्थ सधे। (11) नैतिक गुण भी वैज्ञानिक सत्यों के तरह विषयगत हैं। वे व्यक्तिगत इच्छा या विचार पर निर्भर नही हैं।

अन्तःअनुभूतिवाद के प्रकार (Forms)

इस मत के अनुसार अन्त'करण ही के द्वारा कर्मो के नैतिक गुणो का ज्ञान होता है। इसीलिए अन्त करण को नैतिक मापदंड वतलाया गया है। पर यहाँ दो प्रश्न उपस्थित होते हैं—

(1) क्या अन्त करण के द्वारा विना किसी युक्ति (reason) के ही कर्मो के नैतिक गुणो का वोध हो जाता है, जैसे आखों के द्वारा भौतिक पदार्थो के रंग का विना किसी युक्ति के वोध होता है या अन्त करण से सामान्य नियमों का वोध होता है जिसे वुद्धि विशेष कर्मो पर लागू करके उनके नैतिक गुणों का निर्णय करती है ? एक उदाहरण के द्वारा यह प्रश्न स्पष्ट हो जायगा। मान लें कि राम ने अपने किसी मित्र की कलम चुरा ली। अव क्या अन्त करण इस कर्म को देखते ही, विना किसी युक्ति के, इसे अनुचित निर्णय कर देगा या अन्त करण से हम जानते हैं कि 'चोरी करना पाप है' और जव राम के आचरण को देखते हैं तव इस सामान्य नियम को लागू करके यह कहते हैं कि राम ने भी चोरी की है, अत यह पाप या अनुचित है ? कुछ विचारको ने वतलाया है कि अन्त करण के द्वारा विशेष-कर्मो के नैतिक गुण का विना किसी युक्ति के ही सहजवोध हो जाता है। इस हालत मे अन्त करण एक वैसे शासक की भाति है जो प्रत्येक दशा मे अपना आदेश देता है। यह मत अदार्शनिक अन्त अनुभूतिवाद (Unphilosophical Intuitionism) कहा जाता है।

पर कुछ विद्वानों ने अन्तःकरण को बुद्धिमूलक बतलाया है। उनके अनुसार अन्तःकरण के द्वारा सामान्य नैतिक नियमों का बोध होता है जिसे बुद्धि द्वारा विशेष कर्मों पर लागू किया जाता है। इस हालत में अन्तःकरण एक विधान-निर्माता की भांति है जो नियम बना देता है और उसे ही अन्य लोग विशेष परिस्थितियों में लागू करते हैं। यह मत दार्शनिक अन्त अनुभूतिवाद (Philosophical Intuitionism) कहा जाता है।

(ii) दूसरा प्रश्न है कि अन्तःकरण कौन सी मानसिक शक्ति है? कुछ विचारकों ने इसे एक विशेष इन्द्रिय बतलाया है। जैसे रंग के लिए आंख, ध्वनि के लिए कान, विशेष इन्द्रिया हैं उसी प्रकार नैतिक गुणों के लिए एक विशेष नैतिक इन्द्रिय है उसे ही अन्तःकरण कहा जाता है। यह मत नैतिक-इन्द्रियवाद (Moral Sense theory) कहा जाता है। अब इस नैतिक इन्द्रिय के विषय में भी भिन्न मत हैं। इसे किसी ने रसेन्द्रिय (Taste Sense) और किसी ने सौन्दर्येन्द्रिय (Aesthetic Sense) कहा है।

नैतिक-इन्द्रियवाद अदार्शनिक मत का ही रूप है क्योंकि इसके अनुसार विशेष कर्मों के नैतिक गुण का ही नैतिक-इन्द्रिय के द्वारा सहज ज्ञान होता है।

कुछ विचारकों ने विवेक-शक्ति (Reason) को ही अन्तःकरण माना है। यह कोई इन्द्रिय नहीं अपितु मनुष्य की वैसी विवेकशक्ति (Resson) है जिससे नैतिक गुणों का सहज ज्ञान हो जाता है। यह मत बुद्धिवादी अन्त-अनुभूतिवाद (Rational Intuitionism) कहा जाता है। यह दार्शनिक मत का रूप हुआ क्योंकि इसके अनुसार विवेक-शक्ति के द्वारा नैतिक नियमों का सहज ज्ञान होता है जिसे हम विशेष कर्मों में लागू करते हैं।*

---

* विवेक-शक्ति भी दो प्रकार से कार्य करती है—एक तो तार्किक रूप मे और दूसरे, सहज ज्ञान मे। दोनों ही मत के समर्थक अन्त.-अनुभूतिवाद मे मिलते हैं। एक के विचार को तर्कवाद और दूसरे को सहजज्ञानवाद कहा जाता है।

इन मतो के अतिरिक्त धार्मिक अन्त अनुभूतिवाद और अन्य मिले-जुले मत हैं।
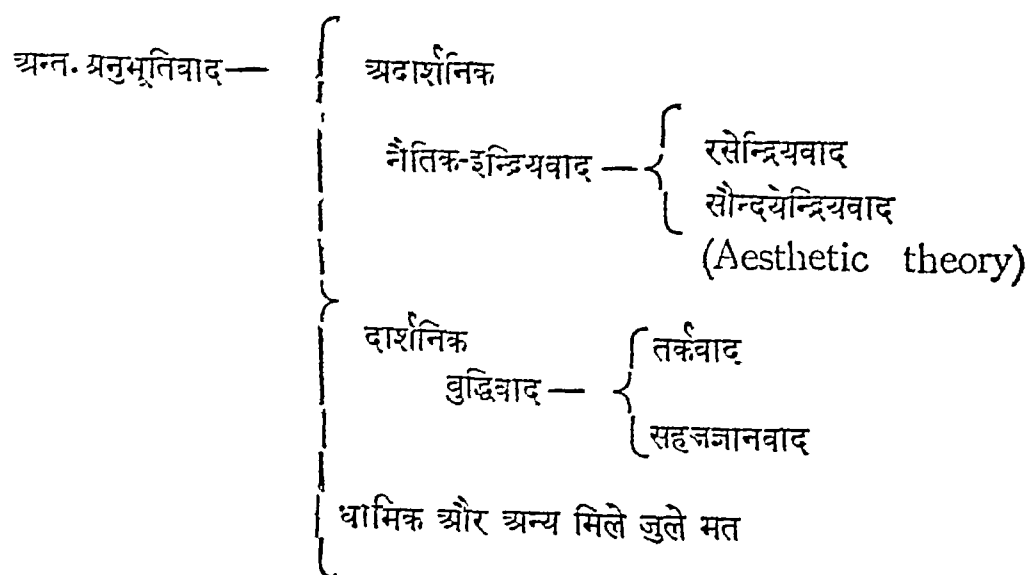
अदार्शनिक अन्तःअनुभूतिवाद
(Unphilosophical Intuitionism)

नैतिक-इन्द्रियवाद
(Moral Sense Theory)

इस मत के अनुसार नैतिक गुण (औचित्य-अनौचित्य, आदि) अन्य गुणों की भाति हैं। जिस प्रकार रंग एक गुण है, रूप, आकार आदि गुण हैं उसी प्रकार नैतिक गुण भी हैं। नैतिक कर्म अन्य वस्तु या घटना की भाति है और नैतिक गुण उसमे वैसे ही निहीत है जैसे रंग, रूप आदि वस्तुओ या घटनाओं मे। जिस प्रकार वाह्य वस्तुओ के गुणो के लिए विशेष इन्द्रिया हैं, जैसे, आख कान, आदि, उसी प्रकार किसी कर्म के नैतिक गुणो का वोध एक विशेष इन्द्रिय के द्वारा होता है। यही नैतिक इन्द्रिय (Moral Sense) है। यह एक आन्तरिक

इन्द्रिय है जिसके द्वारा कर्मों के नैतिक गुण का प्रत्यक्ष हो जाता है, जैसे आख के द्वारा रंग का। यह नैतिक गुणों को तत्क्षण पहचान जाती है जिस प्रकार बाह्य वस्तुओं के गुणों का वाह्य इन्द्रियों को तुरन्त ज्ञान हो जाता हैं।

जैसे वाह्य वस्तुओं के गुण हममें संवेदन उत्पन्न करते हैं और उन्हीं से उन वस्तुओं का ज्ञान होता है उसी प्रकार कोइ कर्म हममे सुखात्मक या दुखात्मक भावना की उत्पत्ति करते हैं और उसीसे हमें कर्मों के नैतिक गुण का ज्ञान होता है। इसलिए ये नैतिक भावनाएं (सुखात्मक या दुखात्मक) ही नैतिक निर्णय के आधार हैं। यदि किसी कर्मो से दुखात्मक भावना की उत्पत्ति होती है तो नैतिक-इन्द्रिय फौरन उसे अनुचित बता देती है और यदि सुखात्मक भावना की उत्पत्ति होती है तब उचित। नैतिक गुणो का ज्ञान भी इसीलिए मन मे उत्पन्न नैतिक-भावनाओं से होता है। ये नैतिक भावनाएं नैतिक निर्णय के पूर्व होती हैं। इसलिए उचित कर्म वह है जो हममें सुखात्मक भावना उत्पन्न करे और अनुचित वह जो दुखात्मक भावना।

इस मत के अनुसार नैतिक निर्णय का आधार वुद्धि नहीं भावना है। यह विचार एकागी वुद्धिवाद के विरुद्ध एक प्रतिक्रिया (reaction) है। वुद्धिवादी नैतिक निर्णय में नैतिक भावनाओ का कोई महत्व नहीं बताते और नैतिक गुणों के ज्ञान के लिए विवेक-शक्ति को ही प्रयाप्त मानते है। इन्ही के विरुद्ध यह मत है। इस मत को रूढीवादी अन्त अनुभूतिवाद (Dogmatic Intuitionism) भी कहा जाता है। हचीसन, सेफ्टसबरी, मार्टीनृ आदि इस मत के प्रवर्तक हैं।

सारांश :—

(i) नैतिक गुण अन्य गुणो की भांति हैं और नैतिक कर्म अन्य वस्तुओ की भांति;

(ii) नैतिक गुण का ज्ञान एक विशेष इन्द्रिय द्वारा होता है जैसे अन्य गुणो का दूसरी इन्द्रियो के द्वारा,

(iii) नैतिक इन्द्रिय का आधार नैतिक भावना है।

आलोचना :—

(i) नैतिक-इन्द्रियवाद नैतिक गुण की पहचान के लिए एक विशेष इन्द्रिय बतलाता है पर मनोविज्ञान में, जिसमें मन की प्रत्येक शक्ति की विवेचना होती है, इस प्रकार की इन्द्रिय का कोई प्रमाण नहीं मिलता।

(ii) इस मत के अनुसार अन्तःकरण संवेदनशील है। नैतिक संवेदनों के द्वारा ही नैतिक गुण का ज्ञान होता है। पर संवेदन तो इन्द्रियों पर ही आश्रित होती हैं। यदि आँखें न हो तो रंग कैसे होगा, यदि कान न हो तो ध्वनि कैसी होगी? यदि नैतिक गुण भी वैसे ही हो तब वे भी नैतिक-इन्द्रियों पर ही आश्रित हैं। यह निष्कर्ष नैतिक गुण का विषयगत होना नही बताता। यदि नैतिक गुण इन्द्रियों पर निर्भर हैं तो वे विषयगत कैसे माने जा सकते हैं?

(iii) इसके अतिरिक्त यदि अन्तःकरण एक विशेष इन्द्रिय है तब नैतिक चेतना मनुष्य के लिए आवश्यक नहीं रह जाता। किसी वाह्य इन्द्रिय, जैसे, आंख, के नहीं रहने पर भी मनुष्य मनुष्य ही रहता है। उसी प्रकार यदि नैतिक इन्द्रिय नही हो तब भी मनुष्य मनुष्य ही रहेगा। पर मनुष्य मे नैतिक चेतना आवश्यक है।

(iv) यह मत नैतिक गुणों को अन्य गुणों की भाति मान लेता है। यदि यही सही हो तब उन्हें अन्य गुण से उच्चतर कैसे माना जा सकता है? इस दशा मे नैतिक बाध्यता कहाँ से आती है? हम क्यों उचित कर्मों को करने के लिए बाध्यता महसूस करते हैं?

(v) यदि अन्तःकरण एक इन्द्रिय है तब उसके आदेशों का नहीं पालन करने से हमें पाश्चाताप क्यों होता है। यह मत प्रायश्चित की भावना का स्पष्टीकरण नही करता।

(vi) यदि नैतिक गुण को पहचानने के लिए कोई विशेष इन्द्रिय है तो नैतिक निर्णयों मे विविधता कैसे होती है? उजली खल्ली को देखें। यदि आखें

ठीक हैं तो सभी उसका रंग उजला बतलाएगें। पर किसी कर्म का नैतिक निर्णय करें—कोई उसे उचित और कोई अनुचित कहेगा। यदि नैतिक गुण का ज्ञान किसी विशेप इन्द्रिय के द्वारा होता है तो नैतिक निर्णय में भेद कैसे होता है?

(vii) यदि अन्तःकरण एक विशेष इन्द्रिय है तब किसी भी व्यक्ति को उसके भूलों का दिग्दर्शन नहीं कराया जा सकता। यदि हमे कोई वस्तु पीला देखने मे मालूम होता रहे तो किसी भी युक्ति से उसे दूसरा रंग हम नही समझा सकते क्योंकि पीलापन प्रत्यक्ष है। उसी प्रकार यदि नैतिक गुण प्रत्यक्ष है तो उसके दोषो का ज्ञान हमे कैसे होगा?

(viii) यदि नैतिक-अनुमोदन एक भावना मात्र है तो उसे दूसरी भावनाओ से उत्कृष्ट कैसे सिद्ध किया जा सकता है? यदि अन्य भावनाओ से यह उच्चतर है तो इसका अर्थ है कि इस भावना से बड़ी कोई वस्तु है—इसमें मूल्य निर्धारक निर्णय या बुद्धि के आदेश गुप्त रूप से विद्यमान हैं।

(ix) नैतिक निर्णय का आधार नैतिक भावनाएँ नही हो सकतीं। भावनाएँ आत्मगत और परिवर्तनशील होती हैं। वे अविश्वसनीय होती हैं। एक ही कर्म भिन्न व्यक्तियो मे भिन्न भावनाएँ उत्पन्न करती हैं। इसलिए नैतिक गुण सामान्य और विषयगत नहीं हो सकता।

(x) यदि नैतिकता मात्र इतना ही है अमुक कर्म से इस प्रकार की भावना होती है तो वैसे कर्मों को हमें क्यों करना चाहिए इसकी व्याख्या नहीं होती। मान लें, अमुक कर्म से हमे सुखात्मक भावना होती है तो इससे यह कैसे निष्कर्ष निकाला जाय कि उसे हमे करना चाहिए? इसलिए भावना ही यदि नैतिकता का आधार है तो नैतिक नियम, कर्त्तव्यता आदि का स्पष्टीकरण नहीं होता।

(xi) नैतिक निर्णयो के अन्तर्निरीक्षण करने पर पता चलता है कि अनुमान के द्वारा ही निर्णय होता है। नैतिक निर्णय में प्रत्यक्ष नहीं होता। अनुमान बुद्धि के द्वारा होता है। अत नैतिक निर्णय-नैतिक बुद्धि के ही द्वारा होता है, इन्द्रिय के द्वारा नहीं। अपनी विवेकशक्ति या बुद्धि के कारण ही

मनुष्य अन्य पशुओं से उत्कृष्ट माना जाता है। मनुष्य के स्वभाव में विवेक का ही महत्वपूर्ण स्थान है।

रसेन्द्रियवाद (Aesthetic Sense theory)

नैतिक गुणों का प्रत्यक्ष नैतिक इन्द्रियो से होता है, ऐसी धारणा नैतिक इन्द्रिवादियों की है। पर नैतिक इन्द्रियो के स्वरूप के विषय में भिन्न विचार हैं। कुछ विचारको के अनुसार सौन्दर्य-इन्द्रियाँ ही नैतिक इन्द्रिय है। इस विचार को सौन्दर्य इन्द्रियवाद या रसेन्द्रियवाद (Aesthetic sense theory) कहा जाता है।

इस मत के अनुसार नैतिक गुण अन्य गुणों की भाति कर्मों मे ही निहीत हैं। पर नैतिक गुण सौन्दर्य विषयक गुणो से भिन्न नही है। 'उचित' का अर्थ है 'सुन्दर' और अनुचित का 'कुरूप'। जिस प्रकार अन्य वस्तुओ में सुन्दरता या कुरूपता निहीत है, उसी प्रकार कर्मो मे नैतिक सौन्दर्य या नैतिक कुरूपता विद्यमान है। इस मत में उचित और सुन्दर मे कोई भेद नहीं है। जो सुन्दर है वह समरस (harmonious) तथा सानुपात (proportionable) है। जो समरस और सानुपात है वही सत्य है· और जो सुन्दर और सत्य है वही प्रिय और शुभ है। सुन्दर और शुभ अभिन्न हैं। शेफ्टसबरी और हचीसन कर्मों के नैतिक सौन्दर्य-असौन्दर्य के विषय मे कहते है। रसकिन ने कहा है कि रस (taste) नैतिकता का केवल संकेत नही, वल्कि एकमात्र नैतिकता है। आप बता दें कि आपकी रुचि क्या है मै वता दूंगा कि आप क्या है। हरवर्ट भी सुन्दर और शुभ को अभिन्न मानता है।

नैतिक गुण सौन्दर्य-गुण हैं, अत उनका अपरोक्ष ज्ञान रसेन्द्रिय से होता है। रसेन्द्रिय के द्वारा ही कर्मो के औचित्य-अनौचित्य की अपरोक्ष अनुभूति होती है। अत रसेन्द्रिय ही नैतिकता का आधार है। यही नैतिकता का मापदंड है।

उचित कर्मों मे वाध्यता कहाँ से आती है? मनुष्य मे सौन्दर्य-सम्वन्धी भावनाएँ जन्मजात हैं। सौन्दर्य की ओर प्रशंसात्मक भावना मानव स्वभाव

में निहीन है। अतः कर्मों में सौन्दर्य अर्थात् औचित्य के अपरोक्ष ज्ञान होने से उसकी ओर हम प्रेरित होते हैं। अतः रसानुभूति ही नैतिक बाध्यता का आधार है।

सौन्दर्य-रस अनुभूति का विषय है। कुछ लोगों की सौन्दर्य रुचि अच्छी होती है और कुछ की दोषयुक्त। सौन्दर्य रुचि मनुष्य की भिन्न होती है। अतः शेफ्ट्सबरी ने रसेन्द्रिय को नैतिकता का आधार नहीं माना है। उसके अनुसार सामाजिकता नैतिकता का आधार है।

आलोचना:—

(i) नैतिक निर्णयों और सौन्दर्य-विषयक निर्णयों में साम्य अवश्य है पर दोनों भिन्न हैं। दोनों गुणों में साम्य इस बातों में है कि दोनों निरपेक्ष (Disinterested) और प्रिय (agreeable) हैं। जो उचित है वह प्रिय है और उसका पालन किसी बाह्य-लक्ष्य से नहीं होता। जो सुन्दर है वह भी प्रिय है और उससे प्रेम उसीके लिए होता है। पर दोनों में अन्तर है, और वे एक नहीं हैं जैसा रसेन्द्रियवादियों ने विचारा है। नैतिक निर्णय या नैतिक गुणों का सम्बन्ध कर्मों से है और उसमें नैतिक बाध्यता निहीत है। सौन्दर्य हमें मुग्ध कर सकता है पर आज्ञा नहीं दे सकता। सौन्दर्य में नैतिक बाध्यता नहीं है। फिर, नैतिक कर्मों में मानसिक द्वन्द्व होता है पर सौन्दर्य में किसी द्वन्द्व की भावना नहीं होती। नैतिक कर्मों में कोई कमी, इच्छा का दमन, कमी की पूर्त्ति का विचार होता है। अतः उसमें मिश्रित सुख के भाव होते हैं। पर सौन्दर्य से शुद्ध सुखानुभूति होती है।

(ii) सौन्दर्य-चेतना भावनाओं पर आश्रित है। पर नैतिक निर्णयों में भावनाओं का समावेश तो होता है लेकिन वे उनके आधार नहीं है। कोई कर्म प्रिय है, इसलिए उचित नहीं है बल्कि उचित है, इसलिए प्रिय है।

(iii) सौन्दर्य का मूल्यांकन भावनाओं पर आश्रित होने के कारण समरूप नहीं होते। भावनाएं आत्मगत होती हैं। पर नैतिक मूल्यांकन समरूप होता है।

(iv) सौन्दर्य-भावना से नैतिक भावना की उत्पत्ति आवश्यक नहीं है। जो सुन्दर लगे वह नैतिक दृष्टि से प्रिय लगे, यह आवश्यक नहीं है ।

(v) सौन्दर्य और शुभ एक नही हैं। जो शुभ है वह सुन्दर अवश्य है पर जो सुन्दर प्रतीत हो वह आवश्यक रूप से शुभ नहीं है।

(vi) नैतिक अनुभव मे पाप-पुण्य, दोष-गुण, दण्ड-पुरस्कार, पश्चाताप आदि का भाव लगा रहता है, पर सौन्दर्य की चेतना मे इनका अभाव है।

(vii) सौन्दर्य-निर्णय आत्मगत होता है पर नैतिक निर्णय अपेक्षाकृत विषयगत है। सौन्दर्य और औचित्य के भेद को हटाकर हम नैतिकता को आत्मगत रुचि की कोटि मे रख देते हैं।

(viii) नैतिक निर्णय का सम्बन्ध मानव-व्यवहार के सभी पहलू से है पर सौन्दर्य मानव-अनुभव के एक अश से सम्बन्धित है।

(ix) सौन्दर्य का आधार वाह्य आकार है पर नैतिक निर्णय का आधार आन्तरिक है, मानव-चरित्र ।

अतः नैतिक बुद्धि सौन्दर्य-बुद्धि नही है। कला और नैतिकता में अन्तर है। कला सृजनात्मक है पर नैतिकता नहीं।

नैतिक इन्द्रियवाद के गुण :—

(i) इस मत के विरुद्ध अनेक आपत्तियाँ उठाई गई हैं पर इसकी कुछ विशेषताएँ भी है। इस मत से यह स्पष्ट है कि नैतिक निर्णय मे अनुमान की क्रिया अचेतन रहती है। किसी भी मापदण्ड से किसी कर्म का निर्णय किया जाय पर निर्णय की क्रिया अनन्तर (immediate) होती है । उसमें, किसी गणित के प्रश्न को हल करने में जो गणना की जाती है, उस प्रकार की गणना नहीं होती।

(ii) कर्मों का यदि कोई चरम उद्देश्य भी माना जाय तो वह चरम उद्देश्य स्वत शुभ होता है। उसके शुभ होने का कोई कारण नहीं होता। नैतिक इन्द्रियवादी उद्देश्यों की कल्पना तो नहीं करते पर नैतिक गुणों को

विषयगत बतलाते हैं। यह बहुत अंशों में सत्य है, भले ही उद्देश्य में ही नैतिक गुण निहीत हो, कर्म में नहीं ।

(iii) इनका यह मत कि नैतिक निर्णयों में नैतिक भावना होती है, कुछ अंशों में सत्य है। नैतिक भावनाएँ नैतिक निर्णयों के आधार तो नहीं है पर यह कि नैतिक निर्णय भावना-रहित होते हैं, जैसा बुद्धिवादियों की परिकल्पना है, सत्य नहीं माना जा सकता ।

दार्शनिक अन्तःअनुभूतिवाद
(philosophical Intuitionism)
बुद्धिवादी अन्तःअनुभूतिवाद
(Rational Intuitionism)

दार्शनिक अन्तःअनुभूतिवाद के अनुसार अन्तःकरण के द्वारा सामान्य नैतिक नियमों का बोध होता है जिसे बुद्धि विशेष कर्मों में लागू करती है। अन्तःकरण बुद्धिमूलक है, कोई इन्द्रिय नहीं। इस मत के अनुसार नैतिक गुण (औचित्य-अनौचित्य) कर्मों में ही निहीत हैं। कर्म के परिणाम या किसी अन्य लक्ष्य पर नैतिक गुण निर्भर नहीं हैं।

नैतिक गुणों का सामान्य नियमों के रूप में ज्ञान होता है। वे नैतिक नियमों पर आश्रित हैं। नैतिक नियमों का ज्ञान बुद्धि (Reason) के द्वारा होता है। अतः नैतिक-शक्ति बुद्धिमूलक है, कोई इन्द्रिय नहीं। बुद्धि सामान्य नैतिक नियमों का ज्ञान प्रदान करती है, प्रत्येक कर्म में नैतिक गुण का सहज बोध उसे नहीं होता।

नैतिक निर्णयों में नैतिक नियमों की विशेष कर्म से तुलना की जाती है। अतः यह एक अनुमानजन्य क्रिया है। विशेष कर्म में कौन से नैतिक गुण हैं, यह अनुमान द्वारा ज्ञात होता है, पर नैतिक-नियमों का बुद्धि को सहजबोध होता है।

नैतिक गुण भावनाओं पर आश्रित नहीं है, बल्कि उनका आधार बुद्धि है। नैतिक निर्णयों के उपरान्त भावनाएं उत्पन्न हो सकती है पर हमारा निर्णय उस पर आश्रित नहीं रहता। नैतिक निर्णय का स्वरूप गणितशास्त्रीय (Mathematical) है। इस मत के समर्थक क्लार्क, काडवर्थ, वोलास्टन, कांट आदि हैं।

उपरोक्त विचारक अन्तःकरण को बुद्धि के स्वरूप का विचारते हैं। पर यहाँ प्रश्न यह है कि जिस बुद्धि से नैतिक गुणों का ज्ञान होता है, उसका स्वरूप हमारी साधारण बुद्धि सा है या यह कोई विशेष बुद्धि है? इसके उत्तर में बुद्धिवाद (Rationalistic Intuitionism) के दो भेद हो जाते हैं--एक, वह विचार जिसके अनुसार नैतिक-बुद्धि साधारण बुद्धि है, दूसरा वह जिसके अनुसार नैतिक-बुद्धि व्यावहारिक बुद्धि है। पहले मत को तर्कवाद (Dianoetic theory) कहा जाता है। इसके समर्थक क्लार्क, कडवर्थ आदि हैं। दूसरा मत कांट का है। उनके मत को कठोरवाद भी कहा जाता है।

आलोचना :—

उपरोक्त मत नैतिक नियमों की व्याख्या नहीं कर सकता। इसके अनुसार बुद्धि अमुक कर्म को अच्छा या खराब बतलाती है, पर इससे वह कर्म क्यों अच्छा या खराब है, इसकी व्याख्या नहीं होती।

नैतिक नियम कैसे होते हैं, इसका परिचय इस मत से मिलता है, पर नैतिक नियमों के विषय का इससे ज्ञान नहीं होता है। अत यह मत आकारवादी (Formal) है।

यह मत नैतिक नियमों के विरोध या विविधता की व्याख्या नहीं कर सकता है। बहुत से नैतिक नियमों में वैषम्य पाया जाता है। इस वैषम्य की व्याख्या नहीं होती है।

जिन नैतिक नियमों का बुद्धि द्वारा सहजबोध होता है वे ही वास्तविक नियम हैं, इसका प्रमाण नहीं मिलता है।

नैतिक निर्णयों का स्वरूप इस मत के अनुसार गणितशास्त्रीय है। पर नैतिक निर्णयों में भावनाओं का भी समावेश रहता है। अत नैतिक निर्णयों से भावनाओं को बिल्कुल हटाया नहीं जा सकता है।

यदि नैतिक शक्ति को नैतिक-बुद्धि मान लिया जाय तो भी उसके द्वारा आदिष्ट नियम बाह्य ही रह जाता है। अन्त करण मनुष्य की सम्पूर्ण आत्मा नहीं है, बल्कि एक विशेष शक्ति है। अत मनुष्य के एक अंश का दिया हुआ नियम वास्तव में बाह्य नियम ही है।

बुद्धि से नैतिक नियम उद्भूत होते है, पर नैतिक नियम बिना नैतिक आदर्श के निरर्थक हैं।

तर्कवाद (Dianoetic theory)

क्लार्क का मत (Clarke's View)—क्लार्क का विचार है कि वस्तुओं और व्यक्तियों में कुछ चिरंतन और अपरिवर्तनीय सम्बन्ध (Eternal and immutable relation) निहीत है। मनुष्य के आपसी सम्बन्ध गणित के सम्बन्धों की भांति स्थायी तथा चिरंतन है, और उन्हीं से मनुष्य के कर्त्तव्य निर्धारित होते हैं, जिस प्रकार गणितशास्त्रीय चिरंतन सम्बन्धो से स्वयंसिद्ध सत्य व्युत्पन्न होते है। वे सम्बन्ध ही नीति और सत्य के आधार हैं। यदि सम्बन्ध भिन्न हैं तो कर्त्तव्य भी भिन्न हो जाते हैं। जो कर्त्तव्य पिता का पुत्र की ओर है उससे भिन्न पुत्र का पिता की ओर है क्योंकि सम्बन्धों में भेद है।

कुछ कर्म अनिवार्यत: स्वयं उचित या अनुचित हैं, जिस प्रकार देश, काल और परिस्थिति से स्वतंत्र गणित के सिद्धान्त सत्य होते हैं। ईश्वर की इच्छा भी उचित को अनुचित या अनुचित को उचित नहीं बना सकती। वस्तुओं के चिरंतन और अपरिवर्तनीय सम्बन्ध ही प्राणियो को उनसे व्युत्पन्न कर्त्तव्यों के पालन के लिए बाध्य करते हैं। नैतिक बाध्यता के वे ही आधार हैं।

जानने और करने में अन्तर होता है। अत नैतिक शक्ति को साधारण बुद्धि-स्वरूप मानना भूल है।

कांट का बुद्धिवाद
(Rationalism of Kant)

कांट ने किसी कर्म का नैतिक गुण या मूल्य उस कर्म मे ही अन्तर्भूत बतलाया है। कर्म के परिणाम पर उसका नैतिक मूल्य निर्भर नहीं रहता। यही विचार अन्त अनुभूतिवाद की आधारशिला है। नैतिक गुण सामान्य नियमो से ही व्युत्पन्न किये जाते हैं।

नैतिक नियमो का ज्ञान व्यक्ति को व्यावहारिक बुद्धि (practical reason) के द्वारा होता है। मनुष्य की व्यावहारिक बुद्धि उसकी उस विवेकशक्ति से, जिससे वह अनुमान या गणित आदि मे काम लेता है, भिन्न है। व्यावहारिक बुद्धि द्वारा नैतिक नियमो का सहजबोध हो जाता है। अतः आचरण-सम्बन्धी कोई भी निर्देश व्यावहारिक बुद्धि ही दे सकती है। मनुष्य मे दो तत्व हैं, विवेक (Reason) और भावनाएँ (Sensibility)। इच्छा, काम, क्रोध आदि भावनाओं के ही रूप हैं। पर बुद्धि या विवेक का स्थान मनुष्य के स्वभाव मे बहुत ही महत्वपूर्ण है। यही शक्ति है जिसके कारण वह अन्य पशुओं से उच्चतर विचार किया जाता है। इसलिए नैतिकता की सम्पूर्ण भित्ती इसी पर ही आश्रित है। मनुष्य से विवेकशक्ति हटा लें, नैतिकता का लोप हो जायगा क्योंकि उसके कर्म तो पशुवत् हो जायेंगे। इसलिए विवेक या बुद्धि (व्यावहारिक बुद्धि विवेक का ही एक प्रकार है) के आदेश ही नैतिक नियम हैं। वही कर्त्तव्याकर्त्तव्य का निर्णय करता है। चूँकि काट ने बुद्धि को ही वह नैतिक शक्ति बतलाया है जिनसे मनुष्य को नैतिक नियमों का ज्ञान होता है, अतः उसके मत को बुद्धिवाद (Rationalism) कहा जाता है। ∴ बुद्धिवाद में व्यक्ति के विवेक का महत्व बतलाया गया है। विवेक की तुष्टि ही मानव आदर्श

∴ बुद्धिवाद का प्रारम्भ प्राचीन ग्रीक मत Cynicism तथा Stoicism में होता है। माध्यमिक काल के धार्मिक मतो में भी यह विचार मिलता है।

है। भावनाओं को वह निम्नकोटि का मानता है। इसलिए इसे विवेक का आचारशास्त्र कहा जाता है। सुखवाद इच्छा की तृप्ति ही जीवन का ध्येय बतलाता है क्योंकि उनके अनुसार भावनाएँ ही प्रधान हैं। अत. उसे भावनाओं का आचारशास्त्र कहा जाता है।

नैतिक नियम सामान्य (universal) होते हैं। चूंकि बुद्धि के आदेश ही नैतिक नियम हैं और बुद्धि सभी मनुष्य में सामान्य है अत नैतिक नियम भी सामान्य होते हैं। वे अनुभव-निरपेक्ष हैं, अनुभव-जन्य नहीं। वे मनुष्य को अनुभव के द्वारा प्राप्त नहीं होते। यदि ऐसा होता तो वे नियम सामान्य कैसे होते क्योंकि अनुभव तो व्यक्तिगत होता है और भिन्न भी। इसलिए नैतिक नियम सनातन और समरूप होते हैं। कांट ने कहा है कि दो ही वस्तु हममें

Cynicism— इस मत के अनुसार सद्गुण प्राप्ति ही जीवन का लक्ष्य है। जीवन की आवश्यकताओं से और सुख-दुख की भावना से विरक्ति ही सद्गुण है। अत सुखमय जीवन मूर्खता है। बुद्धिमानों को पागलपन स्वीकृत है पर सुख नहीं। सद्गुण चरित्र का उत्थान है, वासनाओं पर बुद्धि का अधिकार और परिस्थितियों पर आत्मा का विजय। ऐसा जीवन आवश्यकताओं को कम करने से प्राप्य है। अत मानव जीवन प्रकृति के अनुसार होना चाहिए। जन मत की चिन्ता करना निरर्थक है। आत्मसंतोष का जीवन ही सर्वोत्तम जीवन है।

Stoicism— इसके अनुसार प्रकृति के अनुसार जीवन का अर्थ है बुद्धिमय जीवन। बुद्धितत्त्व ही मानवीय प्रकृति में तथा बाह्य प्रकृति में विद्यमान है। सामान्य बुद्धि ही सर्वत्र व्याप्त है। समाज और उसके नियमों में भी वही तत्त्व है। अत सामाजिक नियमों का पालन कर्त्तव्य है। यह मत Cynicism के व्यक्तिवादिता के स्थान पर विश्व-बन्धुत्व की शिक्षा देता है। बुद्धि और विवेकपूर्ण जीवन ही नैतिक जीवन है।

मध्यकालीन धार्मिक मत—यह मत ईश्वर की धार्मिकता को नैतिकता की कुन्जी मानता है। इसमें वासनाओं का हनन तथा विवेकपूर्ण जीवन ही धार्मिक जीवन बतलाया गया है।

स्मय उत्पन्न कर देते हैं : ऊपर मे आसमान के तारे और अन्दर में नैतिक नियम क्योंकि दोनो ही एक ही तरह अचल है।

नैतिक नियमो को काट ने निरपेक्ष आदेश (categorical imperative) कहा है। नैतिक नियम आदेश (imperatives) है केवल विचार का बोध (assertion) नहीं। यदि किसी अनुमान की परीक्षा की जाती है तो उसे सही या गलत ठहराते हैं। एसमें आदेश का अर्थात् 'ऐसा करना चाहिए', इसका प्रश्न नहीं उठता। पर यदि किसी कर्म को उचित निर्णय किया जाता है तो उसके साथ 'वैसा करना चाहिए' का प्रश्न होता है। व्यावहारिक बुद्धि अपने नियमो को अपने ऊपर लादती है। इसलिए नैतिक नियम आदेश हैं। पर आदेश भी दो प्रकार के होते हैं, सापेक्ष (hypothetical) और निरपेक्ष (categorical)। 'मनुष्य को पैसा कमाने के लिए पढ़ना चाहिए'—यदि यह कहा जाय तो पढने का आदेश सापेक्ष हुआ क्योंकि यह पैसा कमाने की इच्छा पर निर्भर है। इसी प्रकार 'अमुक कर्म करना चाहिए यदि सुख प्राप्त करना हो', यह भी सापेक्ष है। नैतिक नियमों को भी यदि सापेक्ष माना जाय तो उसे भी हम व्यक्ति की इच्छा पर ही छोड देते है। वह अनिवार्य नही होता। नैतिक नियम इसीलिए निरपेक्ष हैं। उनका पालन किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए नहीं अपितु उन्ही के लिए होना चाहिए। यह मनुष्य की आवश्यक प्रकृति अर्थात् विवेक की उपज है इसलिए किसी प्रयोजन से इसका पालन नही होना चाहिए। यह एक शर्तहीन आज्ञा है। यह सुख या सामाजिक हित का भी साधन नही है। उसका पालन बिना किसी शर्त के होना चाहिए। अपने नैतिक विचारो मे काट प्रयोजनवादी (Teleological) नही है। उसका नैतिक विचार वैधानिक (Jural) है। **सारांश यह हुआ कि बुद्धि द्वारा आदिष्ट सामान्य निरपेक्ष नियम ही नैतिक मापदण्ड है।**

किसी भी कर्म का विषय चाहे जो हो पर उसका नैतिक गुण सामान्य नियमो पर ही निर्भर है, भावनाओं पर नही। यह मत नैतिक इन्द्रियवाद का विरोध करता है जिसके अनुसार नैतिक भावनाएँ ही नैतिक निर्णय के आधार

हैं। यदि हमारे कर्म बुद्धि द्वारा आदिष्ट नैतिक नियमों के अनुकूल हैं तो उन्हें उचित और यदि नहीं तो उन्हें अनुचित कहा जायगा। नैतिक नियमों का पालन किसी भावना की तुष्टि के लिए नहीं होना चाहिए। भावनाओं की प्रकृति व्यक्तिगत होती है। बुद्धि सामान्य है। भावनाओं की पूर्ति सदा किसी बाह्य उद्देश्य से ही होती है—वे परतंत्र हैं स्वतंत्र नहीं। वे किसी विजातीय वस्तु के अधिन होती हैं। पर नैतिक नियमों का कोई बाह्य प्रयोजन नहीं होता। भावनाएँ मनुष्य को कर्त्तव्य के पथ से नीचे ले जाती हैं। बुद्धि कर्त्तव्य अर्थात् नैतिकता का पथ दिखलाती है। इसलिए नैतिक नियमों का पालन बिना किसी बाह्य उद्देश्य के करना चाहिए। कर्त्तव्य कर्त्तव्य के लिए (Duty for duty's sake) होना चाहिए, भावनाओं या इच्छाओं की पूर्ति के लिए नहीं। ब्राडले ने इसे 'कर्त्तव्य कर्त्तव्य के लिए' का सिद्धान्त कहा है, जब कि सुखवाद, जिसकी विवेचना आगे होगी, 'सुख सुख के लिए' का सिद्धान्त कहा जाता है। इच्छाएँ भिन्न मनुष्य की भिन्न होती हैं इसलिए उनकी तुष्टि से उनके कर्मों में भेद आ जाता है और वे मनुष्य को विषय भोग की ओर ले जाती हैं। मनुष्य के स्वभाव में जो ये दो तत्व हैं रागात्मक और विवेकात्मक उनमें आपसी विरोध है। इसलिए मनुष्य को अपनी भावनाओं का दमन करना चाहिए। भावनाओं और इच्छाओं का नैतिक दृष्टिकोण से कोई महत्व नहीं है। यदि कोई व्यक्ति अपनी मा की सेवा दया या सहानुभूति की भावना से प्रेरित होकर करता है तो उसके आचरण में नैतिकता नहीं है। कर्त्तव्य को कर्त्तव्य के लिए ही किया जाना चाहिए चाहे उसका जो भी परिणाम हो। काट ने कहा है कि यदि आकाश धरातल पर भी चला आए तो भी मैं कर्त्तव्य का पालन अवश्य करूँगा। उस मत का सिद्धान्त है 'आत्म-बलिदान' (Self-sacrifice) और यहाँ आत्मा (self) का तात्पर्य है पाशविकता या कामनाओं से, आध्यात्म या विवेक से नहीं। कामनाओं को दमन करना ही कर्त्तव्य है। इसलिए इसे कठोरतावाद (Rigorism) या नैतिक शुद्धतावाद (Moral Purism) भी कहा जाता है।

काट के उपर्युक्त मत से यह स्पष्ट है किसी कर्म का संकल्प (will) किसी कामना ने प्रेरित होकर नही करना चाहिए। यदि किसी बाह्य लक्ष्य की कामना से प्रेरित होकर कोई संकल्प किया जाता है तब वह नैतिक दृष्टि से उचित नही कहा जा सकता। मान लें कि किसी बाह्य वस्तु की प्राप्ति के उद्देश्य से ही हमने कोई कर्म किया, तब हमारा संकल्प उस वस्तु के अधीन हो जाता है। इसमे स्वतन्त्रता नहीं रहती। वैसा सकल्प जिसमें नैतिक नियमों का पालन ही उद्देश्य है, जो प्रवृत्तियों और कामनाओ से प्रेरित नहीं होता, शुभ संकल्प है। केवल शुभ सकल्प (good will) ही बिना किसी शर्त के शुभ good) है। यह इसलिए शुभ नही है कि इसमे किसी अन्य लक्ष्य की सिद्धि होती है। बहुत से वस्तु है जिन्हें शुभ कहा जा सकता है पर इसलिए कि उनसे किसी वाह्य लक्ष्य की पूर्ति होती है। धन शुभ है इसलिए कि उससे आराम मिलता है। स्वास्थ्य शुभ है इसलिए कि उससे सुख मिलता है। ये सभी किसी साध्य के साधन मात्र हैं इसलिए शुभ हैं इन शर्तों के कारण। उनका स्वत कोई मूल्य नही। यदि स्वास्थ्य से सुख नहीं मिलता तो उसका मूल्य क्या होता? यदि धन से आराम नहीं हो तो उसकी इच्छा कौन करता? पर शुभ संकल्प किसी बाह्य लक्ष्य की सिद्धि के कारण शुभ नहीं, स्वत शुभ है। यह स्वत मूल्यवान है। कर्त्तव्य अर्थात् शुभ संकल्प कर्त्तव्य के लिए ही होना चाहिए इसलिए इससे कोई बाह्य उद्देश्य पूरा नहीं होता है। काट ने कहा कि इस विश्व में या इस विश्व के बाहर भी ऐसी कोई भी वस्तु नही जिसे शुभ बिना किसी शर्त के कहा जा सकता है सिवाय शुभ संकल्प के (There is nothing in this world or even outside it which can be called good without qualification except a good will)। शुभ संकल्प किसी बाह्य वस्तु या कामनाओ से प्रेरित नही होता इसलिए यह स्वतन्त्र है। जब किसी भी वस्तु की कामना से कोई कर्म होता है तब संकल्प परतंत्र होता है और केवल शुद्ध कर्त्तव्य के विचार मे, तब स्वतन्त्र (autonomous)। शुभ-संकल्प एक ऐसे रत्न की भाति है जो अपनी ही रोशनी से चमकता है। इसे प्रकाशित करने के लिए अन्य प्रकाश नहीं चाहिए। वैसे सकल्प जो किसी लक्ष्य की सिद्धि के लिए

होते हैं वे तो उस लक्ष्य के कारण शुभ हो सकते हैं इसलिए उनका शुभ होना लक्ष्य पर निर्भर है। यह कहा जा सकता है कि उनकी चमक अन्य वस्तु पर निर्भर है। पर शुभ संकल्प का कोई बाह्य लक्ष्य नहीं होना। हमें कर्त्तव्य किसी बाह्य उद्देश्य की पूर्ति के लिए नही करना चाहिए। इसलिए शुभ संकल्प की चमक अपने पर ही निर्भर है। कॉट ने ठीक ही कहा है कि मनुष्य तभी विल्कुल स्वतन्त्र है जब वह पूर्ण रूप से कर्त्तव्य का दास है। कर्त्तव्य तो मनुष्य की विवेक की उपज हैं। वे उसके अपने नियम हैं। अत उनकी दासता स्वयं (self) की दासता है। वास्तविक स्वतन्त्रता इसीमें है।

अब प्रश्न है कि ये नैतिक नियम जिन्हें व्यावहारिक बुद्धि आदिष्ट करती है क्या हैं? चूँकि बुद्धि सभी मनुष्यो मे सामान्य है अत नैतिक नियम भी सामान्य ही होंगे। काट ने नैतिक नियमों की सामान्यता से निम्नलिखित सूत्रों को निकाला है।

(i) वैसे ही सिद्धान्त के अनुसार कर्म करें जिसे आप उसी काल में अर्थात् वैसी ही परिस्थिति मे सामान्य नियम वन जाने की इच्छा कर सकते हैं ('Act on the maxim which thou canst at the same time will to become a universal law') । यदि आपने कोई कर्म किया तो यह देखें कि उसी परिस्थिति मे सभी वैसा ही करें, ऐसी इच्छा आप कर सकते हैं या नहीं। यदि उस कर्म को सार्वजनिक नही वनाया जा सकता है तो वह उचित कर्म नही है। हत्या करना अनुचित है इसलिए कि यदि सभी ऐसा करने लगें तो मनुष्य का अन्त हो जायगा फिर यह कर्म कैसे होगा। यह सार्वजनिक नहीं हो सकता, इसलिए यह अनुचित है।

(ii) ऐसा कर्म करें कि मानवता चाहे आपके अन्दर हो या दूसरे के अन्दर, सदैव साध्य वनी रहे, साधन नही ('Regard humanity in thine own person or in the person of anybody else as an end and never as a means only") । मनुष्य का आवश्यक धर्म उसकी विवेकशक्ति है। इसी के आदेश नैतिक नियम हैं। अत. यह आदर-

णीय है। यह सभी मनुष्यो में सामान्य है। अत. किसी भी मनुष्य को किसी स्वार्थसिद्धि का या अपने को दूसरों के स्वार्थसिद्धि का साधन नही बनाना चाहिए। प्रत्येक व्यक्ति स्वयं साध्य है इसलिए कि एक ही नैतिक शक्ति सब में विद्यमान है। उसी नैतिक शक्ति अर्थात् विवेक के कारण मनुष्य मनुष्य है। अत उसका प्रयोग साधन के रूप में नहीं होना चाहिए। दासत्व प्रथा आदि इसलिए अनुचित है। साराश यह हुआ कि मनुष्य को अपने और दूसरे के व्यक्तित्व का सम्मान करना चाहिए। इसीसे एक दूसरा उपसूत्र निकलता है कि सदैव अपने आपको पूर्ण बनाने की कोशिश करें और दूसरे के लिए अनुकूल परिस्थितियाँ बना कर उसका सुख साधन करें क्योंकि आप दूसरे को पूर्ण नही बना सकते। कोई व्यक्ति केवल अपने संकल्पो का नियंत्रण कर सकता है दूसरे का नहीं। इसलिए वह केवल शुभ संकल्पों पर चलकर स्वयं को पूर्ण बना सकता है, अन्य को नही। दूसरों के लिए वह केवल परिस्थितियाँ उत्पन्न कर सकता है।

(iii) साध्यों के साम्राज्य (Kingdom of Ends) के सदस्य बनकर काम करें। यह सूत्र दूसरे सूत्र के समकक्ष है। इसका अर्थ है कि आपमें मनुष्य होने के कारण विवेक है। विवेक ही कर्त्तव्य निर्धारित करती है। अत आप साधन नही साध्य (End) हैं। यही बात सभी मनुष्यों के लिए सत्य है क्योंकि सब में विवेक सामान्य है। अत सभी साध्य हैं साधन नहीं। इसलिए आप एक साम्राज्य के सदस्य हैं, ऐसे साम्राज्य के, जिसमे सभी साध्य हैं साधन कोई नहीं। हमारे कर्म भी, इसलिए, वैसा ही होना चाहिए जिससे अपने हित और दूसरे के हित मे कोई भेद नही हो। प्रत्येक व्यक्ति सम्राट है क्योंकि अपने पर लागू होने वाले नियम का निर्धारक है और वह स्वयं प्रजा भी है क्योंकि उन नियमों का स्वयं पालन करनेवाला भी है। अत नैतिक दृष्टि से सभी समान हैं। निजी हित अन्य का है और अन्य का अपना।

कांट के सिद्धान्त का सारांश--

(1) नैतिक गुण विषयगत होते हैं। वे नैतिक नियमो पर ही आश्रित हैं।

(ii) विवेक या बुद्धि के द्वारा ही नैतिक नियमों का ज्ञान होता है।

(iii) विवेक मनुष्य के स्वभाव का आवश्यक तत्व है। अत उसी के आदेश नैतिक नियम हैं।

(iv) नैतिक नियम अनुभवजन्य नहीं होता। अत वह अभिन्न और अपरिवर्तनशील है।

(v) नैतिक नियम निरपेक्ष आदेश है। बिना शर्तों के ही उसका पालन होना चाहिए।

(vi) अत कर्त्तव्य कर्त्तव्य के लिए का सिद्धान्त जीवन का सच्चा सिद्धान्त हैं।

(vii) कर्त्तव्य में भावना का कोई स्थान नहीं है। उनका दमन करना चाहिए।

(viii) एक ही वस्तु बिना किसी शर्त के शुभ है और वह है मनुष्य का शुभ सकल्प अर्थात् कर्त्तव्य का संकल्प।

(ix) बुद्धि सार्वभौम है अत नैतिक नियम भी सार्वभौम हैं। वे नियम तीन हैं—

(a) ऐसा कर्म करो जो सार्वजनिक हो सके।

(b) सभी व्यक्ति को साध्य समझो किसी को साधन नही।

(c) ऐसा कर्म करो जैसे तुम 'साध्यो के साम्राज्य' में हो अर्थात् ऐसे संसार मे जहाँ सभी व्यक्ति नैतिक नियमो का सृष्टि करनेवाला भी है और पालन करनेवाला भी।

आलोचना :—

(i) मनोवैज्ञानिक द्वैतवाद (Psychological dualism)—मनुष्य की प्रकृति मे दो तत्व है, बुद्धि (Reason) और वासना (sensibility)। काट के अनुसार दोनो मे विरोध का भाव है। बुद्धि मनुष्य को ऊपर उठाती है और वासनाएँ नीचे। वासनाओ से ही इच्छाओ की उत्पत्ति

होती है। इन दोनो तत्वों मे काट ने, इसीलिए, बुद्धि के ही आदेशों को आचरण का नैतिक मापदंड माना है। वासनाओं को दमन करना ही उसने उचित कहा है। इस मत से यह स्पष्ट है कि बुद्धि और वासना पृथक किए जा सकते हैं। पर इसमें मनोवैज्ञानिक दोष है। बुद्धि और वासना दोनो ही मानव-प्रकृति के आवश्यक तत्व है। वे एक दूसरे से पृथक नही किए जा सकते। इनमे किसी कल-पूर्जे की भाति यान्त्रिक सम्बन्ध नही है कि एक को दूसरे से अलग कर दिया जाय। इनमे अन्योन्याश्रित ऐक्य है। न इच्छा या वासना बिना बुद्धि के न बुद्धि बिना वासना के सम्भव है। कोई भी कर्म बिना इच्छा या वासना के कैसे होगा? वासना या इच्छा ही कर्म के कारण है। इच्छाएँ नैतिक जीवन के आवश्यक तत्व हैं। इसलिए वासनाओं को बुद्धि से ऐसा पृथक मानने मे कि एक को हटाया जा सके, मनोवैज्ञानिक दोष है।

(ii) मनोवैज्ञानिक सुखवाद (Psychological Hedonism)—काट का विचार है कि बुद्धि और वासना मे, वासनाएँ मनुष्य को नीचे ले जाती हैं। वासनाएँ आवश्यक रूप से अबौद्धिक (irrational) हैं। मनुष्य की जब भी इच्छा होती है तो सुख-प्राप्ति की ही। यह विचार ही मनोवैज्ञानिक सुखवाद कहा जाता है। इसी के आधार पर उसने कहा है कि कामनाओ और वासनाओ को कुचल देना चाहिए। पर यह आधार ही दोषपूर्ण है। इच्छाएँ तो प्रत्येक कर्म में होती हैं। कोई भी कर्म बिना इच्छा के कैसे होगा? पर सभी इच्छाएँ अबौद्धिक या दूषित नही होती। यदि मानव-कल्याण की इच्छा से कर्म हो तो इच्छा तो इस कर्म मे भी है पर यह अबौद्धिक नही कहा जा सकता है। सभी वासनाएँ या इच्छाएँ आवश्यक रूप से अबौद्धिक नहीं होतीं। अतः इच्छाओं का दमन नहीं अपितु उन्हें बुद्धि के आदेशो के अनुसार संचालित करना चाहिए।

(iii) कठोरता (Stringency)—कांट का मत बहुत कठोर है। उनके अनुसार भावना या वासना से प्रेरित कर्मों का लक्ष्य भले ही अच्छा हो पर वह कर्म नीति-सम्मत नहीं कहा जा सकता है। इसलिए नैतिक कर्म वैसे ही हैं

जिनमें भावना शून्य हो। नैतिक नियमों के प्रति श्रद्धा से जो कर्म किए गए हैं केवल वही नैतिक दृष्टि से उचित हैं। पर अधिकतर वैसे ही कर्मों की प्रशंसा की जाती है जो प्रेम, सहानुभूति आदि से प्रेरित हो। मनुष्य के अधिकाश कर्म भावनाओं से ही प्रेरित होते हैं। अपनी माता की सेवा केवल इसलिए किया जाय कि ऐसा करना कर्त्तव्य है और उसमें मातृप्रेम शून्य हो, सम्भव नहीं प्रतीत होता। प्राकृतिक रीति से भावनाएं उत्पन्न होगी ही। यदि उन्हें हटाया भी जाय तो ऐसा अभ्यास के द्वारा ही सम्भव है। अत नैतिकता कृत्रिम (artificial) और वलप्रयोगजन्य (forced) हो जाता है। इसलिए, यह मत कठोर प्रतीत होता है।

इसके अतिरिक्त काट ने यह भी वतलाया है कि नैतिक नियमों का अपवाद नहीं है। चाहे परिस्थिति जो भी हो कर्त्तव्य का पालन विना परिस्थितियों का विचार किए आवश्यक है। यह विचार उसके मत को और भी कठोर वना देता है।

(iv) विरक्तिपूर्ण (ascetic)—काट का मत विरक्तिवाद (asceticism) भी कहा जा सकता है। वह इच्छा या वासना को अवौद्धिक मानता है और उन्हें समूल नष्ट कर देना ही नीति-सम्मत वतलाता है। पर ऐसी परिकल्पना तो भ्रान्तियुक्त है ही, साथ-साथ ऐसा तो तभी सम्भव है जव मनुष्य संसार से विरक्त हो जाय। जव तक वह सासारिक जीवन व्यतीत करेगा उसे अभाव की भावना और उसके फलस्वरूप इच्छाएँ होगी। वह कर्म-जीवन त्याग नहीं सकता। इसलिए काट का मत विरक्ति का समर्थन करता है। यह एकागी (one-sided) विचार है।

(v) विरोधाभास (Paradox)—काट के अनुसार जितना अधिक वासनाओं का दमन हो और कर्त्तव्य वुद्धि से कर्म किए जाएँ उतने ही वे उत्कृष्ट होते हैं[2] वासनाओं की उतनी ही अधिक दमन की आवश्यकता होगी जितना उसका वुद्धि से संघर्ष होगा। इसलिए यदि उनमें संघर्ष ही नहीं हो तो फिर वासना का दमन तो अनावश्यक है और नैतिकता का लोप हो जाता है।

अतः नैतिक जीवन के लिए बुद्धि और वासन का संघर्ष आवश्यक है।' पर इच्छा या वासना का बुद्धि से संघर्ष तो मनुष्य-जीवन के हीन-स्तर (lower plane) मे होता है। जब कर्त्तव्य बुद्धि के आदेशों का पालन एक अभ्यास हो जाता है तो फिर संघर्ष कहा और किससे होगा ? उस स्तर मे तो कर्त्तव्य-कर्म सहज ही में होने लगते है क्योंकि उसका अभ्यास हो जाता है। अभ्यास के कारण कर्त्तव्य की चेतना कम हो जाती है, जैसे साईकिल चलाने का अभ्यास हो जाने के बाद कैसे हैंडल घुमाएं या पैडल चलाए इसकी चलाते वक्त चेतना नही रहती। इसलिए जब वासनाओ का या इच्छाओं का पूर्ण दमन हो जाता है अर्थात् पूर्णरूपेण विरक्ति हो जाती है तब कर्त्तव्य-चेतना का अर्थात् नैतिक जीवन का विलाप हो जाता है। यही विरक्तिवाद का विरोधाभास (paradox) है। जीवन का स्तर जितना हीन उतना ही अधिक कर्त्तव्य बुद्धि द्वारा किए गए कर्म उत्कृष्ट और जितना जीवन का स्तर ऊँचा उतना ही नैतिक जीवन नीति-शून्य होता जाता है।

(vi) व्यक्तिवाद (Individualism)—काट का विचार व्यक्तिवादी है। भावनाओं के द्वारा ही मनुष्य का आपस मे सम्बन्ध होता है। हम अपनी अन्य लोगों से भावनाओं के कारण ही एकता की अनुभूति करते हैं। प्रेम और सहानुभूति की भावनाएं ही वे कड़िया हैं जो मनुष्य को समाज मे बाधे रहती हैं। यदि भावनाओं का हटा दिया जाय तो वे कड़िया हट जाती है और मनुष्य का आचरण व्यक्तिवादी हो जाता है। काट ने भावनाओ का दमन बतलाया है अत उसके सिद्धान्त को व्यक्तिवादी कहा गया है।

(vii) काट ने नैतिक जीवन मे बुद्धि का ही स्थान महत्वपूर्ण बतलाया है। इसीलिए उसके अनुसार बुद्धि के आदेश नैतिक नियम हैं। पर नैतिक नियमों का पालन क्यों किया जाय इसका उत्तर मिलता है कि उसका कोई उद्देश्य या कारण नहीं है। इससे नैतिक नियम का स्पष्टीकरण नहीं होता और इसीलिए मानव-बुद्धि को सन्तोष नही होता है।

(viii) कांट ने नैतिक नियम को निरपेक्ष-आदेश कहा है। उसका कोई उद्देश्य नहीं होता। अत इस नियम का पालन किसी भी उद्देश्य से नही होना चाहिए। पर प्रत्येक नियम का उद्देश्य होता है। उद्देश्यहीन नियम निरर्थक है। उसका मूल्य ही क्या होगा? नियम सदा किसी साध्य का साधन होता है। नियम मनुष्य के हेतु बनाया जाता है, नियम के हेतु नहीं। हालांकि कांट ने नैतिकता मे प्रयोजन या उद्देश्य का विरोध किया है पर उसके सिद्धान्त में इस बात की झलक मिलती है। उसने बतलाया है कि वैसे कर्म उचित हैं जो सार्वजनिक हो सकें। हत्या अनुचित है क्योंकि यह कर्म सार्वजनिक नहीं हो सकता। क्यो यह सार्वजनिक नही है—इसलिए कि यदि सभी ऐसा करने लगे तो मनुष्य का अस्तित्व ही समाप्त हो जायगा। इसलिए 'हत्या नही करनी चाहिए' इस नियम का भी उद्देश्य है। अत कांट के बताए नियमो का भी कोई उद्देश्य या प्रयोजन है। इस बात को वह अपने निरपेक्ष आदेश-सिद्धान्त में नही मानता।

(ix) आकारवाद (Formalism)—मनुष्य के कर्मों के कारण हैं उनकी इच्छाएं। जब हमे किसी अभाव की भावना होती है तो इच्छाएं जाग्रत होती है। इच्छाओं से संकल्प होता है और हम वैसा कर्म करते हैं। कर्म की उत्पत्ति भावनाओ से होती है पर कर्म कैसा होना चाहिए अर्थात् उसका आकार (form) बुद्धि द्वारा निर्धारित होता है। दूसरे शब्दो में, नैतिकता का विषय कर्म-भावना के द्वारा मिलता है पर नैतिकता का आकार अर्थात् कैसा आचरण हो (नैतिक नियम का आकार) बुद्धि के द्वारा। कांट ने बतलाया है कि भावनाओं का दमन कर देना चाहिए और बुद्धि के आदेशो का पालन। ऐसा करने से नैतिकता का विषय नहीं रहता केवल उसका आकार रह जाता है। उसके सिद्धान्त से नैतिक नियम का केवल आकार मिलता है पर हमें क्या करना चाहिए इसका निर्देश नही मिलता। आगे हम देखेंगे कि उसके नैतिक सूत्र भी विषय से खाली है। उसका नैतिक नियम इसीलिए खोखला (empty) कहा गया है। जैकोबी ने कहा है कि कांट का शुद्ध संकल्प एक

ऐसा संकल्प है जो किसी विषय का संकल्प ही नही करता (Kant's pure will is a will that wills nothing)। कर्त्तव्य के लिए कर्त्तव्य तो करना चाहिए पर कर्त्तव्य क्या है, क्या करना चाहिए, इसका उत्तर कांट के सिद्धान्त में नहीं मिलता। इसीलिए उसका सिद्धान्त आकारवादी माना गया है। अब हम कांट के बताए दोनों सूत्रों की परीक्षा करके देखेंगे कि नैतिक नियम का आकार का तो उनमे संकेत मिलता है पर विषय का नहीं।

(x) कांट के पहले सूत्र से नैतिक नियम के सार्वभौम (Universal) लक्षण का संकेत मिलता है। वस्तुत कोई भी कर्म उचित नही माना जा सकता जो सार्वजनिक नहीं हो सके। पर यह नियम निषेधात्मक (negative) है विधानात्मक (positive) नहीं। इससे क्या नहीं करना चाहिए केवल यही पता चलता है पर क्या करना चाहिए यह नहीं ज्ञात होता। वह कौन सा कर्म है जो सब कोई कर सकता है यह जानना कठिन है पर कोई विशेष कर्म सभी नहीं कर सकते हैं यह जानना सरल है। इसलिए पहले सूत्र का निषेधात्मक मूल्य है। पर हमें तो केवल यही नही जानना है कि क्या नहीं करना चाहिए, 'क्या करना चाहिए' इसका ज्ञान भी आवश्यक है। निषेधात्मक नैतिकता स्फूर्ति (energy) को संजोति (conserves) है, नई स्फूर्ति का सृजन (create) नहीं करती। निषेधात्मक रूप मे भी सीमित अवस्था मे ही यह नियम लागू किया जा सकता है। जटिल परिस्थितियों मे इससे सहायता नही मिलती। यदि भूख से व्याकुल किसी व्यक्ति ने दूसरे की रखी चीज को बिना पूछे खा लिया और फिर उसे लाकर रख दिया तो उसका कर्म इस नियम के अनुसार क्या हुआ? यदि आप कहें कि यह कर्म सार्वजनिक हो सकता है तो फिर कांट का नैतिक सिद्धान्त बहुत ही लचर है (lax) है और यदि नैतिक नियमों के लागू करने मे किसी परिस्थिति का विचार नहीं किया जाय तो यह नैतिक अन्ध-विश्वास है। इस तरह हम पाते हैं कि मूर्त (concrete) अवस्थाओं में यह नियम हर जगह लागू नहीं होता।

(xi) कांट का दूसरा सूत्र भी आपत्तियों से खाली नही है। किसी भी व्यक्ति को दूसरों का साधन नहीं बनना चाहिए। यह नियम पूर्णरूप से

व्यापक नहीं माना जा सकता है। कुछ ऐसे उच्च आदर्श हैं जिनके लिए किसी भी व्यक्ति को साधन बनना चाहिए, जैसे, देश-सेवा, जन-कल्याण, आदि।

(xii) कांट का तीसरा सूत्र दूसरे सूत्र के समान है। यह भी नैतिकता का विषय नही देता, केवल आकार का ही निदेश करता है। हमे सहयोग के साथ एक दूसरे के साथ रहना चाहिए क्योंकि सभी व्यक्ति नैतिक नियमों के स्रष्टा हैं और पालन करनेवाले भी। इस विचार से हमे यह नही ज्ञात होता कि हमे करना क्या चाहिए। इस नियम से हम विशेष परिस्थितियो में अपने कर्त्तव्य का अनुमान नही लगा सकते हैं। अत यह नियम भी खोखला है।

कांट के बुद्धिवाद के गुण (merits)

कांट ने अपने सिद्धान्त मे इस महत्वपूर्ण बात पर जोर दिया है कि बुद्धि व्यक्ति के जीवन का नियामक तत्व है। उससे ही वास्तविक नैतिक नियमो का ज्ञान होता है। पर इससे उसका यह समझना कि वासना अबौद्धिक है और नैतिक जीवन वासना-शून्य है, भ्रान्तिमूलक है। वासना भी नैतिक जीवन का एक तत्त्व है।

यह भी सच ही है कि नैतिक गुणो का बुद्धि को सहजबोध (intuition) हो जाता है। उसके लिए परिगणना की आवश्यकता नहीं है। बुद्धिवाद विवेकयुक्त होने के कारण मनुष्य के गौरव को बढाता है। कांट ने यह भी ठीक ही बतलाया है कि नैतिक नियमो मे बाध्यता (obligation) की भावना है। यदि कोई भी कर्म उचित 'है' तो 'उसे करना चाहिए' की भावना उसमे निहीत है। अतः वह 'है' और 'चाहिए' के भेद का संकेत करता है। पर मनुष्य को क्या करना चाहिए अर्थात् नैतिक नियम का आकार मात्र ही उसके सिद्धान्त से निर्धारित होता है।

यह ठीक है कि वासनाओ का सर्वथा दमन करना नीति-सम्मत नहीं है पर नैतिक-जीवन के प्रारम्भ मे यह आवश्यक है। ऊँचे स्तर पर उठ जाने के बाद इसकी आवश्यकता नहीं होती।

अन्त मे, यह भी ठीक ही है कि जीवन का चरम उद्देश्य 'कर्तव्य का पालन' ही होना चाहिए। यही निश्रेयस है।

सारांश—

बाह्य नियमवाद (External law as the standard of morality) या अन्त-अनुभूतिवाद (Intuitionism) दोनों ही, नियमों को ही नैतिकता का चरम मापदण्ड मान लेते हैं। एक बाह्य नियम को मानता है दूसरा अन्त करण के आदेशों को। ये नियम उचित भी हो सकते हैं और उनसे उचित आचरण का संकेत भी मिल सकता है पर नियम चाहे वो बाह्य हों या आन्तरिक उनका कोई उद्देश्य होना आवश्यक है। नियम सदा किसी साध्य के साधन होते हैं। इसलिए उन्हें नैतिकता का चरम मापदण्ड नहीं माना जा सकता है। हमें यह जानना आवश्यक है कि जीवन मे किस उद्देश्य को प्राप्त करने का प्रयत्न करना चाहिए। इसलिए अब हमारे सामने प्रश्न है कि मानव-जीवन का चरम उद्देश्य क्या होना चाहिए। इस समस्या पर जिन विद्वानों ने विचार किया है उनके सिद्धान्त को प्रयोजनवादी (teleological) कहा जाता है क्योंकि वे नैतिकता मे प्रयोजन या उद्देश्य को स्थान देते हैं।

TYPICAL QUESTIONS

1. Estimate the value of Intuitionism as a school of ethical thought

2. Give a critical exposition of Intuitionism

3. Explain critically the Moral Sense Theory

4. Enunciate Kant's doctrine of the Categorical Imperative. Estimate its value as a criterion of moral life

5. 'There is nothing in this world or even outside it that can be called good without qualification excepting a good will'' Discuss this statement.

6. Explain Kant's doctrine of 'duty for duty's sake.' Is it rigoristic ?

7. Elucidate any two :—

(a) Good will is a jewel which shines by its own light.

(b) Autonomy of will.

(c) Paradox of Rigorism.

(d) Act on the maxim which thou canst will at the same time to become an universal law.

(e) Kingdom of ends

(f) Treat humanity in thine own person or in the person of anybody else as an end and never as a means

(g) Moral Purism of Kant

(h) The maxim of Kant's theory is self-sacrifice.

8. Kant's ethics has been described as too formal and stringent. Critically consider this view and estimate the importance of the Kantian principle in moral life

9. Discuss the statement that if every man cites his own conscience, it is futile to talk of objective Morality.

10. Give an account of the Aesthetic Sense theory of Hatcheson & Shaftesbury

11. Give a critical estimate of Dianoetic theory.

———

बारहवाँ परिच्छेद

प्रयोजनवाद (Teleological theory)

विषय-प्रवेश—किसी भी नियम को, चाहे वो बाह्य हो या आन्तरिक, नैतिकता का मापदण्ड मानना प्रयाप्त नहीं है। नियम किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए होते हैं अत हमें यह जानना चाहिए कि सही उद्देश्य कौन है। यह जान लेने पर ही हम कर्मों का निर्णय कर सकते हैं कि वे शुभ हैं या अशुभ। वैसा कर्म, जिससे उस उद्देश्य की सिद्धि होती है, शुभ (good) है और नहीं तो अशुभ (evil)। कर्मों का वास्तविक मूल्याकन जीवन के चरम उद्देश्य (Summum Bonum) के सम्बन्ध मे ही हो सकता है। इसलिए कुछ विचारकों ने 'जीवन के चरम लक्ष्य' को ही चरम नैतिक मापदण्ड विचारा है। अब समस्या यह है कि जीवन का चरम लक्ष्य क्या हो? इसके सम्बन्ध मे मतभेद है। कुछ विद्वानों ने 'सुख' को और कुछ ने 'आत्मपूर्णता (perfection)' को चरम लक्ष्य बतलाया है। पहले हम सुखवाद की व्याख्या करेंगे।

[क] सुखवाद

कतिपय विद्वानों का मत है कि सुख प्राप्त करना ही जीवन का अन्तिम उद्देश्य है। इसलिए वैसे कर्म जो सुख प्राप्ति के साधन हैं वे शुभ (good) और वे जिनसे इस लक्ष्य की सिद्धि नहीं होती अशुभ (evil) हैं। इस मत को सुखवाद (Hedonism) कहा जाता है क्योंकि इसके अनुसार सुख (Hedone = pleasure) ही चरम शुभ (highest good) है। किसी भी कर्म को सुख और दुख के ही काटे पर तौलना चाहिए। सुख का अर्थ है दुख का अभाव।

उपर्युक्त मत मनुष्य की भावना (sensibility) को ही प्रधान मानता है। मनुष्य-स्वभाव मे दो तत्त्व हैं, भावना और बुद्धि। इसमे भावना को ही

मनुष्य की सबसे उत्कृष्ट (highest) क्रिया मानते हैं। बुद्धि केवल भावनाओं को तुष्ट करने का साधन है। यदि उससे हमारी भावना या इच्छा की तृप्ति होती है तब वह शुभ है। पर भावनाएँ तो स्वत: शुभ हैं यदि वे आनन्ददायक हैं। प्रत्येक कर्म में इच्छा होती है। यदि उस इच्छा की पूर्ति हो जाती है तब सुख मिलता है और नहीं तब दुख। इसलिए इच्छाओं की पूर्ति ही जीवन का वास्तविक नियम है-परम शुभ है। मनुष्य को चाहिए कि वह अपनी इच्छाओं या वासनाओं को तृप्त करे जिससे उसे सुख मिले क्योंकि सुख ही प्राप्त करना चरम लक्ष्य है। सुखवादी सिद्धान्त को इसलिए वासना-प्रधान आचार-शास्त्र (Ethics of Sensibitity) कहा जाता है।

सारांश:—(i) कोई भी नियम किसी लक्ष्य का साधन है अत: उसे चरम नैतिक मापदंड नहीं माना जा सकता।

(ii) लक्ष्य ही चरम नैतिक मापदंड हो सकता है।

(iii) जीवन का लक्ष्य क्या है? इसके संबंध में भिन्न मत हैं जिसमे एक सुखवाद (Hedonism) भी है।

(vi) सुखवाद के अनुसार सुख प्राप्त करना ही जीवन का अन्तिम लक्ष्य है।

(v) कर्मों का यही नैतिक मापदण्ड भी है। वैसे कर्म जिनसे इस लक्ष्य की प्राप्ति होती है शुभ है और नही तब अशुभ।

(vi) सुख की प्राप्ति होती है जब हमारी इच्छाएँ तृप्त होती है।

(vii) अत: इच्छाओं या वासनाओं को तृप्त करना ही जीवन का नियम है।

(viii) इसीलिए इस मत को भावना प्रधान कहा जाता है।

सुखवाद के भिन्न रूप (forms)

सुखवाद के भी भिन्न रूप हैं। सबसे पहले तो सुखवाद के दो रूप हो जाते हैं, मनोवैज्ञानिक (psychological) और नैतिक (ethical)। मनोवैज्ञानिक सुखवाद के अनुसार सुख की प्राप्ति ही

वस्तुत: प्रत्येक मनुष्य के जीवन का ध्येय होता है। यह यथार्थ (actual) की व्याख्या करता है। मनुष्य के कर्मों की परीक्षा करके इस मत की सत्यता जानी जा सकती है। नैतिक सुखवाद के अनुसार सुख प्राप्ति ही मनुष्य के जीवन का ध्येय होना चाहिए। हमारे कर्मों का लक्ष्य वास्तव में क्या होता है, इससे आचार-शास्त्र का सम्बन्ध नहीं है। हमें यह जानना है कि जीवन का चरम ध्येय क्या होना चाहिए। इसलिए यह मत आदर्श-निर्देशक है। यथार्थ से इसका सम्बन्ध नहीं है। अत सुखवाद के ये दो रूप हुए —

(1) मनोवैज्ञानिक सुखवाद (Psychological Hedonism)

(ii) नैतिक सुखवाद (Ethical Hedonism)

फिर, नैतिक सुखवाद मे दो प्रश्न हमारे सामने आते हैं।

पहला प्रश्न यह है कि किसकी सुख-प्राप्ति मानव-जीवन का चरम ध्येय होना चाहिए, अपनी या दूसरो की? हम वैसे कर्म करें जिनसे हमे सुख मिले या वैसे कर्म जिनसे दूसरो को सुख हो? दोनों विचारो के समर्थक सुखवाद मे मिलते हैं। कुछ विद्वानो ने स्वार्थ-सुख ही जीवन का ध्येय बतलाया है और कुछ ने परार्थ सुख को। अत इस समस्या पर दो मत हो जाते हैं—(1) स्वार्थमूलक सुखवाद (Egoistic Hedonism) और (ii) परार्थ-मूलक सुखवाद (Altruistic or Universalistic Hedonism)। परार्थमूलक मत को कुछ लोगों ने उपयोगितावाद (Utilitarianism) भी कहा है।

दुसरा प्रश्न है कि सुख किस प्रकार का हो? यदि कुछ व्यक्तियों को शराब पीने में सुख मिलता है तो कुछ को पुस्तक पढने मे भी, तब सुख कैसा होना चाहिए? क्या सुख मे भी भेद किया जा सकता है? यहा भी दो विचार मिलते हैं। कुछ विचारको के अनुसार सुख मे गुण का अर्थात् अच्छा और खराब का भेद नहीं लाया जा सकता। सभी सुख किस्म की दृष्टि से समान हैं। कोई निम्न या कोई उच्च कोटि का नहीं है। इसलिए मनुष्य को वैसे सभी कर्मों को करना चाहिए जिनसे सुख मिलता हो। यह मत निकृष्ट

सुखवाद (Gross or Vulgar Hedonism) कहा जाता है। कुछ विचारकों ने सुख में भेद किया है। कुछ निम्न कोटि के सुख हैं और कुछ उच्च कोटि के। मनुष्य को उच्च कोटि की सुख-प्राप्ति का प्रयत्न करना चाहिए। यह मत उत्कृष्ट सुखवाद (Refined Hedonism) कहा जाता है। अत इस प्रश्न पर भी दो मत हो जाते हैं (i) निकृष्ट सुखवाद (Gross Hedonism) और (ii) उत्कृष्ट सुखवाद (Refined Hedonism)

दोनो प्रश्नो को मिला देने पर नैतिक सुखवाद के चार रूप हो जाते हैं—

(i) निकृष्ट स्वार्थमूलक सुखवाद (Gross Egoistic Hedonism)-स्वार्थ सुख और किसी प्रकार का सुख मानव जीवन का ध्येय होना चाहिए।

(ii) उत्कृष्ट स्वार्थमूलक सुखवाद (Refined Egoistic Hedonism)—स्वार्थ सुख पर उच्च कोटि का।

(iii) निकृष्ट परार्थमूलक सुखवाद या निकृष्ट उपयोगितावाद (Gross Altruistic Hedonism or Gross Utilitarianism)—परार्थ सुख पर किसी किस्म का।

(iv) उत्कृष्ट परार्थमूलक सुखवाद या उत्कृष्ट उपयोगितावाद (Refined Altruistic Hedonism or Refined Utilitarianism)—परार्थ सुख पर उच्च कोटि का। इनके अतिरिक्त सुखवाद के और भी रूप हैं, जैसे, बुद्धिमूलक सुखवाद (Rational Utilitarianism), विकासात्मक सुखवाद (Evolutional Hedonism)। अब इन मतों की व्याख्या की जायगी।

[क] मनोवैज्ञानिक सुखवाद (Psychological Hedonism)

मनुष्य कोई भी काम करता है तो किसी इच्छा से। उसकी इच्छा का तत्कालिक (immediate) विषय किसी वस्तु की प्राप्ति हो सकता है पर अन्त मे उस वस्तु को भी वह सुख-प्राप्ति के लिए ही चाहता है। आप मेहनत करते हैं क्योंकि इच्छा है बी० ए० पास करने की पर बी० ए० पास करना चाहते हैं नौकरी के लिए और नौकरी चाहते हैं सुख के लिए। यही

हमारे सभी प्रयत्नों के लिए सत्य है। अतः हमारी इच्छा का अन्तिम विषय (ultimate object) सुख ही है।

सुख ही मनुष्य के कर्मो का स्वाभाविक और सामान्य लक्ष्य है। जब किसी प्रकार का अभाव होता है तभी उस अभाव को हटाने की इच्छा उत्पन्न होती है और तब कोई कर्म होता है। अत सुख को छोड किसी अन्य वस्तु की इच्छा न हम करते हैं न करही सकते हैं। सुख की भावना ही कर्मों का प्रेरक होता है। मनुष्य का सम्पूर्ण जीवन एकमात्र सुख की ही तालाश है। वैसे लोग जो दुख चाहते हैं वो भी इसीलिए कि उसमें उन्हें सुख मिलता है। प्रत्येक व्यक्ति उसी वस्तु को चाहता है जिससे उसे सुख मिलने की आशा है। भले ही उसे उस वस्तु से पीछे दुख मिल पर जब वह उसकी इच्छा करता है तो सुख प्राप्त करने के ही विचार से।

उपर्युक्त सिद्धान्त यथार्थ है और हमारा अनुभव ही इसका आधार है। अतः इसे अन्तर्निरीक्षण द्वारा सिद्ध किया जा सकता है। आप अपनी इच्छाओं पर ही गौर करलें और देखें कि कभी भी आपने सुख को छोड़ किसी अन्य वस्तु की इच्छा की है।

मिल, बेन्थम आदि इस मत के समर्थक हैं। बेन्थम ने कहा है कि प्रकृति ने मनुष्य को दुख और सुख के साम्राज्य में रखा है। उसका एक ही लक्ष्य है सुख की प्राप्ति और दुख से विरक्ति। सुख और दुख ही व्यक्ति के कर्मों के प्रवर्त्तक हैं। मिल ने भी कहा है कि किसी वस्तु की इच्छा करना और उसे सुखप्रद पाना, किसी वस्तु से विरक्त होना और उसे दुखप्रद समझना दोनो पूर्णत एक ही बातें हैं। किसी वस्तु की इच्छा करना और उसे सुखप्रद नहीं पाना एक भौतिक और दार्शनिक असम्भावना है। इसका निष्कर्ष यह हुआ कि मनुष्य सदैव सुख की इच्छा करता है।

सारांश–(i) मनुष्य स्वभावतः सुख की कामना करता है।
(ii) सुख मनुष्य की इच्छा का स्वाभाविक विषय है।

(iii) इसकी परीक्षा अन्तर्निरीक्षण द्वारा हो सकती है।
(iv) मिल और बेन्थम इसके समर्थक हैं।

आलोचना:-

(i) यह मत अमनोवैज्ञानिक (unpsychological) है। मनुष्य अपने कर्मों के द्वारा किसी वस्तु की प्राप्ति की इच्छा करता है। उस वस्तु के प्राप्त कर लेने के बाद ही सुख की अनुभूति होती है। इसलिए सुख इच्छाओं की तृप्ति का परिणाम है। जब हमें प्यास लगती है तो हम पानी चाहते हैं, सुखानुभूति नहीं। पानी मिल जाने के बाद उसके फल स्वरूप सुख होता है। हमने ऐच्छिक क्रिया का विश्लेषण करके भी देखा है कि हमें सबसे पहले किसी अभाव की भावना होती है, फिर उस अभाव की पूर्त्ति जिस वस्तु से होगी उसका विचार मन मे आता है फिर संकल्प आदि होता है। जब इच्छित वस्तु को हम प्राप्त कर लेते हैं तब सुख मिलता है। भूख लगने पर हम भोजन की इच्छा करते हैं, सुखानुभूति की नहीं। अतः इस मत में स्थानान्तर दोष है (putting the cart before the horse)। एच्छिक कर्म में, क्रम से, पहले वस्तु की इच्छा होती है तब सुख की अनुभूति। पर मनोवैज्ञानिक सुखवाद मे उलटा क्रम बतलाया गया है। इसलिए मनोवैज्ञानिक दृष्टि से यह मत भ्रांतियुक्त है।

(ii) जब हम किसी वस्तु की इच्छा करते हैं तो उस अवस्था में दुखप्रद और सुखप्रद, दोनो भावनाएं रहती हैं—दुखप्रद भावना इसलिए कि अभी इच्छित वस्तु प्राप्त नहीं हुई है और सुखप्रद इसलिए कि उस इच्छित वस्तु से अभाव के दूर हो जाने की आशा रहती है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि सुखानुभूति ही हमारे कर्मों का लक्ष्य है। जब कोई जहाज किसी यात्रा पर जाता है तो उसमें कोयले की खपत होती रहती है पर इसका अर्थ यह तो नहीं है कि कोयले की खपत ही यात्रा का लक्ष्य है। कोयला जहाज को गति प्रदान करता है पर उसका लक्ष्य

होता है किसी स्थान पर पहुचना। उसी प्रकार इच्छा के साथ सुख की भावना रहती है पर इच्छाओं का लक्ष्य सुखानुभूति नहीं अपितु किसी वस्तु की प्राप्ति है। सुख की भावना कर्मों को गति प्रदान करती है, उसका लक्ष्य नहीं होता (pleasure is the dynamic and not the end of action)।

(iii) 'कर्मों का लक्ष्य सुख-प्राप्ति होता है'—इस कथन की मीमासा करने पर इसके अर्थ मे गड़बडी मालूम होती है। हम कैसा सुख चाहते हैं— जो (i) तत्कालिक (immediate pleasure) हो अर्थात् जिस समय हमारा कर्म हो रहा है उसी वक्त सुख की अनुभूति हो या (ii) भविष्य सुख (Future pleasure) अर्थात् भविष्य मे सुख मिले या (iii) सब मिला कर अन्त में सुख मिले। अब हम इन तीनों विकल्पों पर विचार करें।

(a) यह स्पष्ट है कि मनुष्य बहुधा वैसा कर्म करता है जिससे वह जानता है कि अन्त मे सुख नहीं मिलता, जैसे, शराब पीना, धूम्रपान आदि। पर यदि ऐसा माना जाय कि शराब पीने के वक्त शराबी इस बात की कल्पना कर लेता है कि उसीसे उसे अन्त मे सुख मिलेगा तो इसका अर्थ हुआ कि वह तत्कालिक सुख की इच्छा करता है।

(b) पर ऐसा मानना भी भूल है कि कोई व्यक्ति प्रत्येक कर्म इसी विचार से करता है कि उससे उसे फौरन अर्थात् जिस समय कर्म हो रहा है, सुख मिले। बहुधा हम भविष्य सुखानुभूति के लिए वर्त्तमान कष्ट का स्वागत करते हैं, जैसे, आपका परीक्षा पास करने के लिए आज रात्रि भर जाग कर पढ़ना।

(c) भविष्य सुख मे भी हम उसे ही चुनते हैं जो निकटतम हैं। निकटतम सुख ही आकर्षक होते है। इसका अर्थ यह हुआ कि सुख मे भी चुनाव होता है। सुख को चुनने मे सुख ही कैसे आधार हो सकता है? कपड़े के चुनाव में कपड़े से भिन्न, मूल्य, बनावट, टिकाऊपन आदि आधार होते हैं। उसी प्रकार सुख के चुनाव का अर्थ ही है कि कोई उससे भिन्न वस्तु ही आधार होगा। अतः सुखानुभूति कर्मों का लक्ष्य नहीं होता अपितु उससे भिन्न कोई अन्य लक्ष्य।

(iv) मनोवैज्ञानिक सुखवाद में सुख के विचार (idea of pleasure) और सुखप्रद-विचार (pleasure in idea) के भेद को समझने में भूल है। माता अपने पुत्र का कल्याण चाहती है। उसे पुत्र कल्याण के विचार में ही सुख मिलता है पर इसका यह अर्थ नहीं है कि वह सुख चाहती है अर्थात् पुत्र के कल्याण की इच्छा उसके सुख का विचार है। पुत्र-कल्याण का विचार सुखप्रद विचार है पर सुख का विचार नहीं। माता अपने पुत्र के कल्याण के लिए प्रयत्न करती है। यदि यह पूछा जाय कि उसमें उसे सुख मिलता है या नहीं तो उत्तर होगा, हां, पर यदि यह पूछा जाय कि सुख के विचार से ही तो वह वैसा चाहती है तो उत्तर होगा, नहीं; कर्म करने के पहले उसे कभी सुख का विचार भी नहीं रहता सिवाय पुत्र कल्याण की इच्छा के।

(v) सुख शब्द द्वयर्थक है। इसका एक अर्थ होता है तृप्ति की भावना अर्थात् किसी इच्छित वस्तु के प्राप्त कर लेने के वाद जो सन्तोष की भावना होती है। इस अर्थ में सुख को मानव कर्मों का लक्ष्य बतलाना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भूल है। 'सुख' शब्द (pleasures) का दूसरा अर्थ है इच्छित वस्तु अर्थात् सुख देनेवाली वस्तु। यदि इस अर्थ से इस शब्द का प्रयोग होता है तब यह ठीक तो है पर पुनरुक्ति मात्र है। यह इसलिए ठीक है कि मनुष्य जीवन में सुखप्रद वस्तुओं की ही इच्छा करता है। पर यदि यह कहा जाय कि हम सुखों क इच्छा करते हैं तो यहाँ इसका अर्थ हुआ हम इच्छित वस्तु (सुखों) की इच्छा करते हैं। इच्छित वस्तु और इच्छा करना दोनों एक ही हुआ अत: यह निरर्थक पुनरुक्ति है।

(vi) सुखवाद मे विरोधाभास (paradox)—यदि यह मान भी लिया जाय कि मनुष्य के कर्मों का लक्ष्य सुखानुभूति ही होता है तो भी उसे प्राप्त करने का सबसे अच्छा तरीका है उसे भूल जाना। यदि हम सदा सुख की चिन्ता करते रहें तो उसे प्राप्त करना दुभर हो जायगा। सुख की इच्छा जितनी वलवती होती है उतनी ही अपने उद्देश्य के लिए अर्थात् सुखप्रदान करने में घातक होती है। यदि मनुष्य क्रुद्ध हो और वह यह जान ले कि क्रुद्ध है तो

उसका क्रोध घट जाता है। उसी प्रकार आप सुख की अनुभूति कर रहें हो और सदा इसीकी चेतना हो कि आप सुखी हैं तो सुख की भावना दब जायगी। जितना ही अधिक हम सुख को चाहते हैं उतना ही कम वो हमें प्राप्त होता है। सुखानुभूति छाया की तरह है। आप छाया का पीछा करें उसे पकड नहीं पायेंगे क्योंकि वह बराबर आप के आगे रहेगा। आप उससे दूर भागने का प्रयत्न करें, वो आपके पीछे-पीछे आएगा। यही सुखवाद का विरोधाभास (paradox) है। यदि पूर्ण रूप से सुख का अनुभव करना है तो आपको उस वस्तु की ओर ध्यान लगाय रहना होगा जिससे सुख मिल रहा है। यदि सुख की ही ओर ध्यान लगा दिया जाय तो उस वस्तु से ध्यान हट जायगा जिससे सुख प्राप्त हो रहा है। अत सुख प्राप्त करने के लिए उससे कुछ मात्रा में उदासीन रहना आवश्यक है। यदि हम कोई फिल्म देख रहे हों और उससे सुख की अनुभूति हो रही हो तो हमें उस फिल्म पर ही ध्यान देना चाहिए, उससे प्राप्त होनेवाले सुख पर नहीं।

(vii) मनोवैज्ञानिक और नैतिक सुखवाद मे कोई आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। मनोवैज्ञानिक मत के अनुसार हम सदा सुखानुभूति की ही इच्छा करते हैं और नैतिक सुखवाद के अनुसार सुखानुभूति की ही इच्छा करना चाहिए। यदि हम सदा सुख चाहते ही हैं तब यह कहने का क्या अर्थ है कि हमें सुख को ही लक्ष्य बनाना चाहिए ?

दूसरी बात यह है कि यदि हम सुख चाहते है तो इससे यह निष्कर्ष नहीं निकलता कि उसे ही हमे लक्ष्य मानना चाहिए। यदि कोई व्यापार में चोरबाजारी करता हो तो उसे यह नहीं कहा जा सकता कि ऐसा ही करना चाहिए। जो इच्छा किया जाय वही इच्छा करने योग्य हो, यह आवश्यक नहीं है। इस अनुमान मे दोष है।

(viii) मिल ने यह दिखलाया है कि किसी वस्तु की इच्छा करना और उसे सुखप्रद पाना दोनों एक ही मानसिक प्रक्रिया है। इस बात की वह आत्म-चेतना के द्वारा परीक्षा कर लेने के लिए कहता है। पर यदि दोनों एक

ही तथ्य हैं तो आत्मचेतना के द्वारा इसकी परीक्षा कैसे हो सकती है? जब वे अलग-अलग मानसिक प्रक्रियाएँ नहीं हैं तो उनकी तुलना कैसे होगी?

[ख] नैतिक सुखवाद (Ethical Hedonism)

नैतिक सुखवाद के दो रूप है—स्वार्थमूलक सुखवाद (Egoistic Hedonism) और परार्थमूलक सुखवाद (Altruistic Hedonism)।

(1) स्वार्थमूलक सुखवाद (Egoistic Hedonism)

इस मत के अनुसार प्रत्येक व्यक्ति को अधिकतम (greatest) निजी सुख (Egoistic pleasure) के लिए ही कर्म करना चाहिए। स्वार्थ सुखानुभूति ही जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए।

व्यक्ति का निजी सुख ही, इसलिए, नैतिक मापदण्ड है। यदि किसी कर्म से हमें सबसे अधिक सुख की अनुभूति होती है तब वो कर्म शुभ (good) है और यदि हमे दुख की अनुभूति होती है तो अशुभ (bad)।

यह सिद्धान्त स्पष्ट रूप से हमें जीवन का मार्ग बतलाता है। हमे अपने सबसे अधिक सुख के लिए ही कर्म करना चाहिए। यदि केवल यह बतलाया जाता कि अपने सुख के लिए कोई कर्म करना चाहिए तब कर्मों के चुनाव मे कठिनाई आ जाती क्योंकि किसी व्यक्ति को सुख तो अनेक वस्तुओ से मिलता है। मान लें कि किसी मौके पर यह द्वन्द्व खडा हो जाय कि हम फिल्म शो देखें या दोस्त की पार्टी में जायें तो चुनाव हम किसका करें? दोनो ही हमे सुखप्रद हैं। इस मत के अनुसार हमे वैसे कर्म को चुनना चाहिए जिसमे हमे सबसे अधिक सुख मिले। यहाँ हम विचार कर लें कि फिल्म शो मे अधिक सुख मिलेगा या दोस्त की पार्टी में। इसलिए यह मत अस्पष्ट नहीं है। यह स्पष्ट रूप से शुभ कर्मों का निर्देश करता है।

अब प्रश्न है कि किस कर्म से अधिक सुख मिलेगा अर्थात् सुख के परिमाण (quantity) की गणना कैसे हो? इस मत के अनुसार सुख के परिमाण की तुलना करने मे साधारणत दो बातों को देखना चाहिए—

तीव्रता (intensity) और अवधि (duration)। किसी कर्म से कितनी तीव्र (intense) सुख की अनुभूति होती है और यह भावना कितनी देर के लिए रहेगी (duration), इसे जानकर ही सुख का परिमाण निकालना चाहिए। इस प्रकार कर्मों से प्राप्त सुखके परिमाण को जानकर जिसका परिमाण अधिक हो वैसा ही करना चाहिए।

उपर्युक्त मत का आधार मनोवैज्ञानिक सुखवाद है। मनुष्य स्वभावतः सुख चाहता है अत. उसे अपने सुख के लिए ही प्रयत्न करना चाहिए। आप भला तो जग भला। इसका सिद्धान्त है 'प्रत्येक व्यक्ति अपने ही लिए (Each one for himself)'।

वैसे विचारक जो समाज का कल्याण ही मानव धर्म मानते हैं वे इस मत के विरुद्ध आपत्ति कर सकते हैं। पर वास्तव मे स्वार्थभावना ही तो समाज का आधार है। व्यक्तियों ने निजी रक्षा के लिए समाज की स्थापना की है। इसलिए समाज की स्थापना के पीछे भी तो स्वार्थ ही छिपा हुआ है। ये समाज के विषय मे सामाजिक समझौते का सिद्धान्त (Social Contract Theory) मानते हैं।

इस मत के अनुसार वैसी भावनाएँ, जैसे, सहानुभूति, मित्रता आदि, जो स्वार्थमूलक नही प्रतीत होती हैं वे भी जड मे स्वार्थमूलक हैं। दूसरे की भलाई करने की प्रवृत्ति इस आशा से कि उससे अधिक भलाई अपनी होगी, सहानुभूति कहा जाता है। समाज द्वारा प्राप्त फायदा और सुख की चेतना को मित्रता कहा जाता है। इसी प्रकार अन्य परार्थमूलक (Altruistic) भावनाओं का भी विश्लेषण करने पर उनमे स्वार्थ ही छिपा मिलता है।

इस सिद्धान्त का आधार अनुभववादी और जडवादी दृष्टिकोण हैं। इसके संस्थापक सीरनैक (Cyrenaics), एपीक्यूरीयनस (Epicureans) आदि हैं।

अब प्रश्न है कि सुख किस प्रकार का हो? एक शराबी को शराब पीने मे ही सुख मिलता है, एक विद्वान को पुस्तक पढने मे; तब जिस किसी कर्म

से हमें सुख मिलता हो उसे ही करना चाहिए या निकृष्ट (gross) और उत्कृष्ट (refined) सुख में भेद मानना चाहिए ? इसके सम्बन्ध में स्वार्थमूलक सुखवाद में दो मत मिलते हैं—निकृष्ट मत (gross type) तथा उत्कृष्ट मत (refined type)।

सारांश:—

(i) अधिकतम स्वार्थ सुख ही जीवन का आदर्श है।
(ii) सुख के परिमाण में भेद होता है---तीव्रता और अवधि में।
(iii) समाज का निर्माण स्वार्थ के कारण ही हुआ है।
(iv) सुख के गुण के विषय में दो मत है–उत्कृष्ट और निकृष्ट मत।

निकृष्ट स्वार्थमूलक सुखवाद
(Gross Egoistic Hedonism)

प्राचीन काल में सीरनेवासी (ग्रीस) अरीसटीपस (Aristippus) ने इस मत की संस्थापना की, इसलिये इसे सीरनेवाद (Cyrenaicism) भी कहा जाता है। इसके अनुसार व्यक्ति की निजी सुख-प्राप्ति ही मानव जीवन का चरम उद्देश्य होना चाहिए। वैसे ही कर्म करें जिनसे आपको निजी सुख का अनुभव हो। ऐसा ही जीवन शुभ जीवन (good life) है।

इस मत के अनुसार सुखों में कोई गुणात्मक (qualitative) भेद नहीं होता। मदिरापान से प्राप्त सुख और अध्ययन से प्राप्त सुख, दोनों एक समान हैं। किसी को उच्च और किसी को निम्नकोटि का नहीं माना जा सकता है। सभी सुख समान होते हैं। उनमें यदि भेद होता है तो केवल तीव्रता या मात्रा (intensity) या अवधि (duration) में (परिमाण में)। इसलिए कर्मों के चुनाव में यही देखना चाहिए कि उनसे कितनी मात्रा में और कितनी देर तक सुखानुभूति होगी, न कि उनके गुण को।

उपर्युक्त मत के अनुसार सुख का मूल्य तीव्रता या मात्रा पर निर्भर है। अतः शारीरिक और मानसिक सुखों में शारीरिक सुख ही वाञ्छनीय है क्योंकि

मानसिक सुख से वो अधिक तीव्र होता है। मनुष्य को चाहिए कि वे शारीरिक सुख के लिए ही प्रयत्न करें। यह सिद्धान्त, इसीलिए, निकृष्ट स्वार्थवाद (gross egoism) या इन्द्रिय-तृप्तिवाद (Sensualism) कहा जाता है।

ये अपने सिद्धान्त में वर्तमान सुख का ही महत्व बतलाते हैं। भूत तो बीत चुका है, भविष्य संदिग्ध है, इसलिए यदि निश्चयता है तो वर्तमान की। मनुष्य आज स्वस्थ्य रहता है पर कल्ह उसकी मृत्यु हो जाती है, जो आज राजा है कल्ह रंक हो जाता है। इसलिए वर्तमान पर ही हमारा अधिकार है। भविष्य में अधिक सुख भोगने के लिए वर्तमान सुख को त्याग देना मूर्खता है। कहा भी गया है कि 'हाथ की एक चिड़िया, झाडी की दो से कहीं अच्छी है', क्योंकि झाडी की चिडिया मिलेगी या नहीं यह निश्चित नहीं पर हाथ की चिड़िया के बारे मे सन्देह नहीं है। अत: वर्तमान सुख का ही उपभोग करना चाहिए। जीवन का प्रत्येक भविष्य पल अनिश्चित है। अत. जीवन के प्रत्येक क्षण का उपभोग करना चाहिए। 'खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ' (Eat, drink, and be merry) का सिद्धान्त ही धार्मिक जीवन की कुंजी है। इसलिए सुकरात की भांति बुद्धिमानी नहीं बल्कि वर्तमान क्षणिक सुख के लिए, बिना विचार किए, अपना उत्सर्ग कर देना ही जीवन का सच्चा नियम है। सुकरात ने ज्ञान के प्रचार के लिए अपने को उत्सर्ग कर दिया था। यह उसकी मूर्खता थी। अविचारपूर्वक भावनामय जीवन व्यतीत करना ही सीरेनेइकों का आदर्श है।

वर्तमान युग में मैन्डेविले और हेल्वेशियस इस मत के समर्थक हैं। मैन्डेविले का मत है कि मनुष्य अपने ही को केन्द्र में रख कर कोई कर्म करता है। वह प्यार और घृणा निजी स्वार्थ के लिए ही करता है। अतः केवल स्वार्थ-प्रेम ही धर्म है। हेल्वेशियस का भी यही मत है कि स्वार्थ-प्रेम ही जीवन का वास्तविक मार्ग है। भारतीय चार्वाक-दर्शन भी इसी मत का प्रचारक है।

सारांश--

(i) अरिस्टिपस के अनुसार अधिकतम स्वार्थ सुख ही जीवन का चरम आदर्श है।

(ii) कर्मों का यही मापदंड है।

(iii) सुख मे गुणात्मक भेद नही होता। इनमें केवल परिमाण का भेद है--तीव्रता और अवधि मे। इसलिए शारीरिक सुख मानसिक सुख से श्रेष्ठ है।

(iv) भूत बीत चुका, भविष्य अनिश्चित है, अतः वर्त्तमान का ही पूर्ण उपभोग करना चाहिए।

(v) खाओ, पीओ और मौज उड़ाओ, यही इस मत का मूल मन्त्र है।

(iv) वर्त्तमान काल मे मैन्डेविले और हल्वेशियस इस मत के समर्थक है।

उत्कृष्ट स्वार्थमूलक सुखवाद (Refined Egoistic Hedonism)

इस मत के संस्थापक प्राचीन काल के एपिक्यूरस हैं। इसलिए इसे एपिक्यूरवाद (Epicureanism) भी कहा जाता है। इसके अनुसार भी स्वार्थ-सुख ही धर्म है और प्रत्येक व्यक्ति का कर्त्तव्य है निजी सुख के लिए कर्म करना। उसे चाहिए कि वह अपने जीवन को सुखी बनाए और इसीके हेतु कोई कर्म करे। सुख का वास्तविक अर्थ है **समस्त मानसिक और शारीरिक कष्टों का अभाव**। यदि शरीर मे नही पर मन मे भी दुख रहा तो उसे सच्चा सुख नहीं कहा जा सकता है।

सच्चे सुख की प्राप्ति के लिए बुद्धि (Reason) ही पथ-प्रदर्शक है। बिना बुद्धि की सहायता के हम अपना लक्ष्य नहीं प्राप्त कर सकते हैं। भावनाएं हमे अन्धकूप मे ले जाती हैं। उनकी तृप्ति से सुख तो मिलता है पर क्षणिक।

मानले कि परीक्षा के समय किसी विद्यार्थी को इच्छा होती है फिल्म देखने की। यदि उस इच्छा की पूर्ति हम करते हैं तो क्षणिक तत्कालिक सुख तो मिलता है पर हम फेल कर जाते है या कम नम्बर आता है अर्थात पीछे दुख मिलता है। जीवन का ध्येय क्षणिक सुख प्राप्त करना नही अपितु सुखी जीवन व्यतीत करना है। सुखी जीवन भावनाओं की तृप्ति से नही, विचार द्वारा मिल सकता है। इसलिए बुद्धि का निर्देश सुखी जीवन के लिए आवश्यक है। यदि क्षणिक सुख के पीछे मनुष्य लगा रहे तो उसे सुख की जगह पर दुख होगा। इसलिए भविष्य सुख के लिए वर्तमान सुख का परित्याग करना आवश्यक है अन्यथा हम अपना उद्देश्य 'सुख-प्राप्ति' ही गवा बैठेंगे। यही इस मत मे और अरीस्टीपस के मत मे भेद है।

सुख भी दो प्रकार का होता है, शारीरिक (bodily) और बौद्धिक (mental)। निजी सुख ही जब मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है तो उसे हम शारीरिक सुख के द्वारा प्राप्त नहीं कर सकते। बौद्धिक सुख या सन्तोष ही वास्तविक सुख है। भौतिक सुख का परिणाम अधिकतर दुख ही होता है और साथ-साथ उसका अधिक समय तक उपभोग नही किया जा सकता है। बौद्धिक सुख शुद्ध होता है और अधिक समय तक उसका उपभोग होता है। इसलिए बौद्धिक सुख प्राप्त करना ही मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए। जब सुख ही जीवन का ध्येय बतलाया जाता है तो वैसा सुख नही जो दुराचार से प्राप्त हो अर्थात् किसी व्यभिचारी का सुख नहीं अपितु शरीर का दुखो से छुटकारा और मन का चिन्ताओ से। शान्तिपूर्ण, विरामयुक्त और शुभ संकल्पयुक्त जीवन ही सबसे सुखी जीवन है। उपर्युक्त विचार के कारण ही इसे उत्कृष्ट (Refined) मत कहा गया है।

जैसी कल्पना ऊपर की गई है वैसा जीवन तो तभी हो सकता है जब कम से कम इच्छाए उत्पन्न हो। जितनी अधिक इच्छा होती है उतना ही असन्तोष होता है। असन्तोष से मानसिक कष्ट होता है। अत इस कष्ट को हटाने के लिए इच्छाओ का हटाना आवश्यक है। ऐसा सन्तोष (con-

(content-ment) से ही सम्भव है। सुख-दुःख के प्रति उदासीनता का भाव अपनाने से ही ऐसा सम्भव है। अतः इस मत के अनुसार सन्तोषपूर्ण जीवन ही सबसे उत्तम जीवन है।

एपिक्यूरस ने कर्म का चार नियम बतलाया है—

(i) वैसा सुख अपनाना चाहिए जिससे दुख की उत्पत्ति न हो।

(ii) वैसे दुख का त्याग करना चाहिए जिससे सुख की उत्पत्ति न हो।

(iii) वैसे सुख का त्याग करना चाहिए जिससे अधिक सुख प्राप्त करने में बाधा पड़ जाय।

(iv) वैसे दुख को अपनाना चाहिए जिससे अधिक दुख का निवारण हो जाय।

सारांश—

(i) एपिक्यूरस के अनुसार अधिकतम स्वार्थ सुख ही मनुष्य के जीवन का परम आदर्श है।

(ii) यह आदर्श बुद्धि के नियंत्रण में ही प्राप्त हो सकता है।

(iii) बुद्धि ही सच्चा मार्ग बता सकती है जिससे शरीर में कष्ट न हो और मन चिन्ताओं से मुक्त हो।

(iv) मानसिक सुख शारीरिक सुख से श्रेष्ठ है।

(v) सन्तोषपूर्वक जीवन व्यतीत करने से ही सुख प्राप्त हो सकता है।

स्वार्थ सुखवाद की आलोचना—

(i) मनोवैज्ञानिक सुखवाद ही स्वार्थ सुखवाद का आधार है। मनुष्य स्वभावतः अपने हित के लिए कर्म करता है, अतः स्वार्थ सुख ही जीवन का चरम लक्ष्य मानना चाहिए। पर हमने पहले ही इसकी मीमांसा की है कि मनोवैज्ञानिक सुखवाद अमनोवैज्ञानिक है। मनुष्य के कर्मों का लक्ष्य सुख नहीं अपितु किसी वस्तु को प्राप्त करना होता है।

(ii) अनुभववाद और जडवाद भी इस मत की आधारशिलाएं हैं। अनुभव द्वारा ऐसा प्रतीत होता है कि मनुष्य अधिकतर अपने स्वार्थ के लिए ही कर्म करता है, अत यह धारणा स्थिर की गई है कि स्वार्थ-हित मे ही परम कल्याण है। जडवाद भी इस मत को पुष्ट करता है। जडवाद के अनुसार जड पदार्थ ही मूल द्रव्य है अत आत्मा आदि बौद्धिक पदार्थ भी जड ही है। मृत्यु के बाद शरीर के साथ आत्मा आदि का भी नाश हो जाता है। इसलिए मनुष्य का धर्म है कि इसी जीवन में अधिक से अधिक स्वार्थ सुख प्राप्त कर ले। पर अनुभववाद और जडवाद दोनों मत सर्वमान्य नहीं हैं, अत उनके आधार पर स्थापित स्वार्थ-वादी सिद्धान्त भी दोषों से वंचित नहीं है।

(iii) सुखवाद का विरोधाभास (paradox)—इस मत मे भी विरोधाभास है। जितना अधिक मनुष्य स्वार्थ सुख की चेष्टा करता है उतना ही वह उससे दूर रहता है।

(iv) स्वार्थ सुखवाद मनुष्य को स्वभावत. स्वार्थपरायण मान लेता है। पर वास्तव मे ऐसी बात नहीं है। मनुष्य मे स्वार्थ की भावना है पर साथ-साथ परार्थ की भावना भी। यदि उसमे परार्थ की भावना का सर्वथा अभाव होता तब परोपकार की प्रवृत्ति का जन्म उसमे कहा से होता ? माता अपने पुत्र के लिए, देश-प्रेमी देश के लिए अपना जीवन न्योछावर कर देते हैं, केवल स्वार्थ के लिए नहीं बल्कि परमार्थ के लिए भी। यह सत्य है कि स्वार्थ की भावना सभी मनुष्य मे आवश्यक है पर परार्थ की भावना भी समरूप से आवश्यक है। दोनों की समान सत्ता है।

(v) इस मत के अनुसार समाज और व्यक्ति मे यान्त्रिक सम्बन्ध है। व्यक्ति समाज से स्वतंत्र माना गया है और विचार किया गया है कि उसने स्वार्थ-हित के लिए समाज का निर्माण किया है। पर व्यक्ति समाज से स्वतंत्र नहीं है। उनमें अन्योनाश्रय सम्बन्ध है। व्यक्ति अपने नैतिक आदर्शों की पूर्ति समाज में ही करता है। दूसरी बात यह है कि समाज के निर्माण का सिद्धान्त भी दोषपूर्ण है। मनुष्य के इतिहास मे ऐसी कोई अवस्था का प्रमाण नहीं

(x) यह सत्य है कि मनुष्य को धार्मिक कर्मों से सुख मिलता है पर धार्मिक कर्म सुख के विचार से प्रेरित नही होते। इसलिए भावना का नैतिक जीवन मे महत्त्व रहने पर भी, वही जीवन का लक्ष्य नही हो सकता।

(11) परार्थमूलक सुखवाद
(Altruistic or Universalistic Hedonism)

अर्वाचीन काल का आचार-सम्बन्धी दृष्टिकोण अधिकतर परार्थवादी है। यदि मनुष्य अपना जीवन स्वार्थ सुख के लिए ही व्यतीत करे तो वह पशुओं से भिन्न नहीं रहेगा। अत इस मत के अनुसार सार्वजनिक (universal) सुख अर्थात् सम्पूर्ण मानव जाति का अधिकतक सुख प्राप्त करना ही मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए। मनुष्य को ऐसा कर्म करना चाहिए कि उससे सम्पूर्ण मानव जाति को अधिक से अधिक सुख मिले। यदि सम्पूर्ण मानव जाति को किसी कर्म से सुख मिलना सम्भव नहीं हो तो अधिक से अधिक व्यक्तियों को सुख मिले, यही ध्येय होना चाहिए। अत इनके अनुसार 'अधिकतम व्यक्तियो का अधिकतम सुख (greatest happiness of the greatest number), ही जीवन का चरम आदर्श होना चाहिए। इसका अर्थ यह है कि यदि हमे 'कम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' और 'अधिकतम व्यक्तियो के कम सुख' में चुनाव करना हो तो अधिकतम व्यक्तियों का सुख ही चुनना चाहिए। यहाँ व्यक्तियो की संख्या का ही ध्यान रखना आवश्यक है। हमे यह देखना चाहिए कि हमारे कर्मों से कितने व्यक्तियों को सुख मिला न कि कितना (Quantity) सुख मिला।

वैसे कर्म जिनसे सामान्य सुख मिलता हो, शुभ है और वे जिनसे अधिकतम व्यक्तियों को दुख, अशुभ है। अत 'समष्टि का अधिकतम सुख' का आदर्श ही चरम नैतिक मापदड है। इसीलिए इस मत को परार्थवादी सुखवाद कहा जाता है। इसे कुछ विद्वानों ने उपयोगितावाद (Utilitarianism) भी कहा है क्योंकि इस मत का लक्ष्य है मानव-कल्याण या उपयोग। पर कुछ विद्वानों

ने इस नाम में आपत्ति की है। उन्होंने बतलाया है कि सुख ने ही वास्तविक उपयोग (Utility) नहीं है और इसमें समष्टि का सुख ही जीवन का लक्ष्य माना गया है इसीलिए इसे उपयोगितावाद कहना उपयुक्त नहीं होगा।

संक्षेप में इस वाद का सिद्धान्त है 'प्रत्येक सब के लिए (Each one for all)'। मिल, बेंथम, सीजवीक आदि इस मत के समर्थक हैं। मनुष्य को सार्वजनिक हित के लिए क्यों कर्म करना चाहिए इसके लिए उन्होंने प्रमाण भी दिया है। उन प्रमाणों को आगे विचारा जायगा।

अब दूसरा प्रश्न है कि कैसे सुख का अनुभव मनुष्य का लक्ष्य होना चाहिए? सुख का मूल्याकन कैसे हो? इसके सम्बन्ध मे परार्थवादी सुखवाद मे दो मत मिलते हैं—बेंथम और मिल के। बेंथम के अनुसार सुख मे गुणात्मक (Qualitative) भेद नहीं है। हर प्रकार की सुखानुभूति गुण की दृष्टि से समान है। इसीलिए इस मत को निकृष्ट परार्थवादी सुखवाद (Gross Altruistic Hedonism) कहा गया है। मिल ने सुख के गुण मे भेद माना है। अतः उसके मत को उत्कृष्ट परार्थवादी सुखवाद (Refined Altruistic Hedonism) कहा जाता है।

सारांश :—

(i) व्यक्ति-विशेष का सुख नहीं, समष्टि का अधिकतम सुख जीवन का आदर्श है।

(ii) सुख की कोटि के विषय में दो मत हैं—उत्कृष्ट और निकृष्ट विचार।

निकृष्ट परार्थवाद (Gross Altruism)

<u>बेंथम का मत</u>—बेंथम का मत परार्थवादी (altruistic) है, अतः 'अधिकतम व्यक्तियों का अधिकतम सुख' ही जीवन का चरम आदर्श बतलाया गया है। मनुष्य को ऐसा कर्म करना चाहिए जिससे अधिकतम व्यक्तियों को सुख का अनुभव हो।

बेंथम सुख मे गुणात्मक भेद नहीं मानता है। यदि तास खेलने में ही अधिक व्यक्तियों को सुख मिलना हो तो उस सुख को निम्न श्रेणी का नहीं माना जा सकता है। एक सुख गुण की दृष्टि से किसी अन्य सुख के समान होता है। बच्चों का खेल और कविता-पाठ गुण की दृष्टि से समान हैं। उसने सुख में केवल परिमाण-भेद (Quantitative difference) माना है। सुख का एक ही मापदण्ड है परिमाण (Quantity)। कर्मों के चुनाव में केवल इतना ही देखना चाहिए कि उससे कितनी मात्रा मे सुख मिलता है, किस प्रकार या कोटि का सुख है, यह नहीं।

सुख के परिमाण को मापने के लिए बेंथम ने सात बातें बतलाया हैं—(i) तीव्रता (intensity), (ii) व्यापकता (extensity), (iii) उत्पादकता (fecundity), (iv) शुद्धता (purity), (v) अवधि (duration), (vi) निकटता (proximity) और (vii) असंदिग्धता (certainty)। दो सुख यदि समान हैं और एक दूसरे से अधिक तीव्र हो तो वही श्रेष्ठ है। तीव्रता के साथ-साथ व्यापकता का भी ध्यान रखना चाहिए। वह सुख जो अधिक व्यापक हो वही वरणीय है। उत्पादकता उस सुख में है जिससे अन्य सुखों की उत्पत्ति हो। उत्पादक सुख अनुत्पादक सुख से श्रेष्ठ है। शुद्धता का यहाँ अर्थ है उच्च कोटि का सुख नहीं अपितु जो दुख से व्याप्त नहीं हो। वैसा सुख जिसमें दुख मिश्रित नहीं हो वह दुख-व्याप्त सुखों से श्रेष्ठ है। सुख जितना स्थायी हो उतना ही श्रेष्ठ है। निकटस्थ सुख दूरस्थ सुखों से श्रेष्ठ है। इसके अतिरिक्त वह सुख, जो निश्चित हो, अनिश्चित सुख से वाञ्छनीय है। इन सात विशेषताओं के आधार पर ही क्रियाओं को शुभ या अशुभ कहा जा सकता है। सुख दुख के मूल्य के ये ही सात नाप (dimensions) हैं। इसे सुखवादी परिगणना (hedonistic calculus) कहा गया है।

उपर्युक्त परिगणना से यह नहीं समझना चाहिए कि बेन्थम ने समष्टि का ध्यान नहीं रखा है। इसमें व्यापकता भी एक मुख्य विशेषता है। वैसे सुखों को चुनना चाहिए जो व्यापक हों। इसी विशेषता के कारण बेन्थम का मत

स्वार्थवादी मन से भिन्न है। इसके अतिरिक्त परिमाण के विषय मे तो उसका विचार स्वार्थवादी विचार से अधिक भिन्न नहीं है। उसने कहा है कि सुख और दुख को तौल लें और जिसका पलरा भारी हो उसीसे कर्मों के शुभ-अशुभ होने का निश्चय होगा। तौलने का अर्थ है परिमाण की गणना करना। परिमाण ही सुख का मूल्य-निर्धारक है। चूँकि वेन्थम ने सुखों मे गुण की दृष्टि से कोई भेद नहीं माना है इसलिए उनके मत को निकृष्ट (gross or sensualistic) माना गया है।

वेन्थम के परार्थवाद का आधार मनोवैज्ञानिक सुखवाद है। उसने कहा है कि प्रकृति ने मनुष्य को सुख और दुख के शासन मे रखा है। हमारे सभी विचार या संकल्प उसी के कारण होते हैं। सुख लाभ और दुख से मुक्त होने के लिए ही मनुष्य सभी कर्म करता है। सुख-दुख ही मनुष्य के कर्मों के निर्णायक हैं। इसलिए मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य सुख-प्राप्ति ही होना चाहिए। पर यदि सभी मनुष्य अपने निजी सुख के लिए ही कर्म करें तो उन्हे कभी भी सुख नहीं मिल सकता। मनुष्य स्वभावत स्वार्थवादी होता है। वह जितना भी कर्म करता है स्वार्थ के ही हेतु। उसने कहा है कि कोई आदमी अपनी कानी उंगली भी हटाने का कष्ट नहीं करता जबतक उसे इस बात का पता नही हो जाय कि वैसा करने से उसे सुख मिलेगा। हर एक की गिनती एक है, एक से अधिक किसी की नहो (Every body is to count for one, and no body for more than one)। मनुष्य की परार्थमूलक भावनाओं के जड मे स्वार्थ ही छिपा रहता है। पर मनुष्य यदि केवल स्वार्थी हो जाय तो उसे स्वार्थ सुख प्राप्त नही हो सकता। अत स्वार्थ की सिद्धि के लिए ही उसे परोपकारी होना आवश्यक है। इसलिए वेन्थम ने परार्थवाद का समर्थन किया है।

अब प्रश्न है कि यदि मनुष्य स्वभाव से ही स्वार्थी है तो दूसरो के सुख के हित कर्म करने के लिए क्यो वाध्य होता है? अपने निजी सुख के लिए ही केवल वह कर्म करे तो क्यों उसे उसके लक्ष्य की सिद्धि नहो होगी? कौन सी

प्रेरणा हमारी परार्थभावना को प्रेरित करती है ? बेन्थम ने इसका चार मुख्य कारण बतलाया है। इन्हें नैतिक आदेश (moral sanctions) कहा जाता है। * ये हैं, (i) प्राकृतिक (natural), (ii) सामाजिक (social), (iii) राजनैतिक (political) और (iv) धार्मिक (religious)। इन्ही के कारण मनुष्य स्वार्थी होते हुए भी परार्थवादी कर्मों को करने के लिए बाध्य होता है। स्वास्थ्य के नियमों का अतिक्रमण करने से स्वास्थ्य खराब हो जाने की सम्भावना रहती है। इसी भय से स्वास्थ्य के नियमो का पालन किया जाता है। यही प्राकृतिक आदेश (sanction) है। समाज के अपने नियम होते हैं। उनका उल्लंघन करने से समाज जाति-बहिष्कार के रूप मे हमे दंडित करती है। इस भय से समाज के हित कर्म किए जाते हैं। राज्य के भी नियम हैं। उनके उल्लंघन से भी दंड मिलता है। अत राजनैतिक नियमो का इसी कारण से पालन किया जाता है। धर्म हमे सेवा वृत्ति का आदेश देता है। इस नियम के पालक को स्वर्ग और उल्लंघन करनेवाले को नरक का कष्ट भोगना पडता है। इस डर से हम धार्मिक नियमों को अर्थात् परोपकार के कार्य करते हैं। ये चारो बाह्य आदेश (external sanctions) हैं। ये ही हमे परार्थवादी बनने को बाध्य करते हैं।

सारांश :—

(i) बेन्थम के अनुसार अधिकतम व्यक्तियो का अधिकतम सुख ही जीवन का आदर्श है।

(ii) सुख मे केवल परिमाण का भेद होता है, गुण का नही।

---

* 'Sanction' शब्द लैटीन 'Sanctio' का रूपान्तर है, जिसका अर्थ है 'बॉधने की क्रिया,' 'जिससे मनुष्य बन्धन महसूस करता है या वह जिससे कोई चीज पवित्र तथा बाध्य होती है'। अत नैतिक आदेश (Moral Sanction) का अर्थ हुआ वे शक्तियाँ जिनके कारण हमे कोई कर्म करने के लिए बाध्यता की भावना होती है। नैतिक कर्मो के आचरण मे सुख-दुख की भावना प्रेरणाएँ है।

(iii) परिमाण मापने मे सात बातो को याद रखना चाहिए, तीव्रता, अवधि, व्यापकता, शुद्धता, उत्पादकता, असंदिग्धता और निकटता। सुख और दुख को तौल ले और जिस ओर पलरा भारी हो वैसा ही निर्णय करे।

(iv) वेन्थम के मत का आधार है मनोवैज्ञानिक सुखवाद। मनुष्य स्वभाव से स्वार्थी होता है। परार्थ की ओर वह वाह्य शक्तियो के कारण ही प्रेरित होता है।

हमे किसी वाह्य आदेश से ही नैतिक कर्मों की ओर झुकाव हो सकता है या अपने स्वभाव के कारण भी। अत· नैतिक आदेश दो प्रकार के माने गए हैं, (i) वाह्य और (ii) आन्तरिक। दण्ड और पुरस्कार का भय और प्रलोभन ही वाह्य आदेश है। ये आदेश चार हैं– प्राकृतिक, सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक। आन्तरिक आदेश है मनुष्य की प्राकृतिक सामाजिक भावना। मनुष्य अपने स्वभाव मे इसी तत्त्व के कारण अन्य व्यक्तियो का सुख चाहता है। बेन्थम ने केवल वाह्य आदेशो को ही कार्य की प्रेरणा माना है। पर मिल ने उसकी आलोचना करते हुए आन्तरिक आदेश का उल्लेख किया है और उसे ही वास्तविक आदेश माना है

पूर्ण विवरण के लिए मिल का विचार और उसकी आलोचना देखें।

वास्तव में वाह्य और आन्तरिक आदेशो का भेद न्यायसंगत नहीं है। एक दृष्टि से सभी आदेश वाह्य हैं क्योकि वे मनुष्य की वास्तविक प्रकृति से उत्पन्न नहीं होते और दूसरी दृष्टि से वे सभी आन्तरिक हैं, क्योकि उनसे सुख-दुख की भावना उत्पन्न होने से ही कर्म की प्रेरणा मिलती है।

नैतिकता के लिए आदेश नहीं संकल्प-स्वातंत्र्य आवश्यक है।

(v) बाह्य शक्तियां, जिनके भय से मनुष्य परार्थी होता है, चार हैं—प्राकृतिक, सामाजिक, राजनैतिक और धार्मिक।

उत्कृष्ट परार्थवादी सुखवाद

(Refined Altruisticor Universalistic Hedonism)

मिल का उपयोगितावाद (Mill's Utilitarianism)—मिल का मत सुखवादी है, अत उसके अनुसार कोई कर्म उसी अनुपात मे उचित है जिस अनुपात मे उससे आनन्द की और उतना ही अनुचित जितना उससे दुख की उत्पत्ति होती है। आनन्द का अर्थ है सुख और दुख का अभाव और दुख का अर्थ है सुख का अभाव। सुख-प्राप्ति और दुखनिवारण ही वाञ्छनीय लक्ष्य हैं। आनन्द या सुख मानव कर्मों का एकमात्र उद्देश्य है। यही एकमात्र वाञ्छनीय आदर्श है जिसे जीवन का चरम लक्ष्य बनाया जा सकता है। दुनिया की अन्य वस्तुएं इसी लक्ष्य को प्राप्त करने के लिए साधन के रूप में वाञ्छनीय हैं। स्वास्थ्य, आदर, रुपया आदि सभी इसी चरम आदर्श (आनन्द या सुख) के साधन हैं। उनका स्वत कोई मूल्य नहीं है। इसलिए कोई कर्म तभी उचित है जब उससे दुख से अधिक सुख का और तभी अनुचित जब सुख से अधिक दुख का अनुभव होता है। उचित, सुख का और अनुचित, दुख का कारण है।

मिल के सुखवाद का आधार मनोवैज्ञानिक सुखवाद है। उसके अनुसार किसी वस्तु की इच्छा करना और उसे सुखकर पाना एक ही तथ्य हैं। मनुष्य स्वभावत सुखानुभूति की इच्छा करता है। इसी के आधार पर उसने अपने नैतिक सुखवाद की परिकल्पना निष्कर्ष रूप मे अनुमान किया है। हम सदैव सुख की इच्छा करते हैं अत सुख ही इच्छनीय (इच्छा करने के योग्य) है। इसका प्रमाण यूं है. कोई वस्तु दृश्य है इसका एकमात्र कारण है कि वह स्पष्ट देखा जाता है; कोई शब्द सुनाई पड़ती है इसका कारण है कि उसे लोग सुनते हैं, अतः कोई वस्तु इच्छनीय अर्थात् वाञ्छनीय है इसका

कारण है कि लोग उसकी इच्छा करते है। सब लोग सुख की ही इच्छा करते हैं, अत. सुख ही वाञ्छनीय है।

साराश यह हुआ कि मनुष्य स्वभावत· सुख की कामना करता है। अतः सुख ही मनुष्य के जीवन का परम आदर्श होना चाहिए। यही कर्मों का चरम नैतिक मापदंड है। कोई कर्म तभी उचित है जब उससे सुख और अनुचित जब दुख का अनुभव होता है। यहा तक तो मिल का मत सुखवादी मत हुआ। बेन्थम और अन्य सुखवादी भी इसी मत के समर्थक हैं।

मिल का सुखवाद परार्थवादी (altruistic) है। बेन्थम की भाति उसने भी सामान्य या सार्वजनिक सुख को जीवन का परम आदर्श माना है, स्वार्थ सुख को नहीं। कर्त्ता का अधिकतम सुख नहीं अपितु सब मिलाकर सुख की अधिकतम मात्रा ही मापदंड मानना चाहिए। उसने बतलाया है कि तुम्हें वही करना चाहिए जो तुम चाहो कि अन्य लोग तुम्हारे साथ करें और अपने पड़ोसी को अपने समान प्यार करना ही नैतिक आदर्श होना चाहिए। अपने और अन्य के सुख में चुनाव करना हो तो निरपेक्ष रूप से विचार करना चाहिए। साराश यह हुआ कि मनुष्य को ऐसा कर्म करना चाहिए जिससे अधिकतम व्यक्तियों को अधिकतम सुख मिले। इसलिए इस मत को परार्थवाद या उपयोगितावाद भी कहा जाता है। यहा तक मिल का मत बेन्थम के मत के समकक्ष है। बेन्थम ने परार्थवाद के लिए कोई तार्किक प्रमाण नहीं दिया था पर मिल ने उसके लिए तार्किक युक्ति दी है। उसने बतलाया है कि सामान्य सुख क्यों वांछनीय है इसका कोई कारण नहीं बताया जा सकता सिवाय इसके कि प्रत्येक व्यक्ति अपना निजी सुख चाहता है अत सामान्य सुख वाञ्छनीय है। उसकी युक्ति यूं है।

सुख हितकर है,

∴ प्रत्येक व्यक्ति का सुख उसका हित है।

अथात् क का सुख क के लिए हितकारी है: ख का सुख ख के लिए; ग का सुख ग के लिए ..

(अब दोनों ओर योग कर दे)

∴ (क + ख + ग + घ + ···· का सुख) सामान्य सुख (क + ख + ग + घ + के लिए) सब व्यक्तियो के समूह का हित है।

नैतिक निर्देश (sanctions of morality)—अब प्रश्न है कि यदि मनुष्य स्वभावतः सुख की कामना करता है और उसका हित निजी सुख में ही है तब (i) परार्थ की भावना उदय कैसे होती है? और (ii) यदि इस प्रकार की भावना उदय भी हो तो परोपकार के लिए हम बाध्य क्यों होते हैं?

मिल ने बतलाया है कि परार्थ का जन्म और विकास स्वार्थी से होता है। मनुष्य आरम्भ में स्वार्थी होता है, पर दूसरों के दुखों को वह इसलिए दूर करता है कि इससे उसका अपना दुख दूर होता है। इस प्रकार अन्य की सहायता या उन्हें सुख देना साधन है अपने सुख का। पर ऐसा कर्म करते करते हमारी रूचि साधन में ही प्रवृत्त हो जाती है और साधन अर्थात् दूसरो का उपकार ही लक्ष्य हो जाता है। यह मनोवैज्ञानिक सिद्धान्त 'रुचि का स्थानान्तर (transference of interest)' से सिद्ध होता है। इस प्रकार स्वार्थ से ही परार्थ-भावना का उदय होता है। पर हम ऐसे कर्म के लिए बाध्य क्यों होते हैं?

मिल ने बेन्थम की भाति चार बाह्य आदेशों को माना है जिसके कारण हम परोपकार के लिए बाध्य होते हैं--(i) प्राकृतिक (natural), (ii) सामाजिक (social), (iii) राजनैतिक (political) और (iv) धार्मिक (religious)। यही चार बाह्य शक्तियां है जिनके कारण मनुष्य नैतिकता अर्थात् परोपकार के लिए बाध्य होता है--स्वास्थ्य खराब होने का भय, सामाजिक दण्ड का भय, राजनैतिक दण्ड का भय और नरक के कष्टों का भय। पर उसने बतलाया है कि यदि इन चार बाह्य आदेशो के कारण ही मनुष्य परोपकार करता है तो वास्तव में वह स्वार्थी है और उसी के लिए ऐसा कर रहा है। अत मिल ने इन चारो बाह्य आदेशों के अतिरिक्त एक आन्तरिक आदेश (internal sanction) भी माना है। यह आन्तरिक आदेश है, मनुष्य जाति की सुख की

भावना, दूसरों की अनुभूतियों और दुखों के प्रति सम्मान का भाव अर्थात् सहयोगी प्राणियों के साथ एकता स्थापित करने की इच्छा। यह सामाजिक भावना मनुष्य में जन्मजात नहीं भी हो तो प्राकृतिक है और इसी के कारण हम परोपकार के लिए बाध्य होते है।

साराश यह हुआ कि सुख की कामना मनुष्य में स्वाभाविक है, अत: सुख ही उसके जीवन का लक्ष्य होना चाहिए—सुख निजी नही अपितु अधिकतम सुख अधिकतम व्यक्तियों का। इसके लिए मिल ने प्रमाण भी दिया है। मनुष्य स्वभावत: स्वार्थी है पर उसीसे परार्थ का भावना भी उदय होती है और चार बाह्य आदेशों तथा एक आन्तरिक आदेश के कारण परोपकार के लिए हम बाध्य भी होते हैं। पर सुख किस प्रकार का होना चाहिए? क्या सुख में गुणात्मक भेद भी होता है?

मिल का विचार इस सम्बन्ध मे अन्य सुखवादियो से भिन्न है। उसने सुखों के गुणात्मक भेद को माना है। यूँ तो एपिक्यूरस ने भी मानसिक और शारीरिक सुख का भेद दिखलाया था पर वहा एक की दूसरे से उत्कृष्टता स्पष्ट नही की गई थी। मिल ने बतलाया है कि सुखों के, गुण की दृष्टि से, भिन्न स्तर (gradation of pleasure) हैं। सुखों में, गुण और परिमाण, दोनों दृष्टियों से भेद होता है। यदि सुखों मे चुनाव करना पड़े तो गुण (quality) और परिमाण (quantity), दोनो की तुलना करनी चाहिए। सुख अनेक प्रकार के हैं और उनमे कुछ अधिक वांछनीय हैं दूसरों से। कोई सुख परिमाण की दृष्टि से दूसरो से श्रेष्ठ पर गुण की दृष्टि से निम्न स्तर का हो सकता है या परिमाण की दृष्टि से निम्न पर गुण की दृष्टि से उच्च स्तर का हो सकता है। ऐसी अवस्था मे बुद्धिमान लोग उसे ही चुनते हैं जो गुण की दृष्टि से श्रेष्ठ हो। सुखों के गुण और बड़प्पन को परिमाण से अच्छा मानना चाहिए। उत उच्च और उत्कृष्ट सुख को ही उच्चतम शुभ (highest good) मानना चाहिए। मिल का यह विचार उत्कृष्ट सुखवाद

कहलाता है। यह सुखवाद को इन्द्रियपरकता (sensualism) के दोष से बचाता है।

पर, गुण की परीक्षा क्या है ? कैसे सुखों को उच्च या श्रेष्ठ माना जाय ? सुख का, गुण की दृष्टि से, भेद करने का मापदण्ड क्या है ? मिल ने बतलाया हैं कि इसके लिए योग्य निर्णायकों का निर्णय (verdict of the competent judges) ही मान्य है। वे जिसे उच्च या निम्न कोटि का सुख बतलाते हैं वही उच्च या निम्न है। वैसे व्यक्ति जिन्होंने दोनों प्रकार के सुखों का अनुभव प्राप्त कर लिया है और किसी बाध्यता के कारण एक को दूसरे से पसन्द करते हैं, वे ही योग्य हैं और वही सुख, जिसे उन्होंने पसन्द किया है, वाञ्छनीय है। ऐसे लोग बौद्धिक सुख को शारीरिक सुख से श्रेष्ठ मानते हैं। योग्य निर्णायकों अर्थात् अनुभवी लोगों के निर्णय की अपील के लिए कोई उच्चतर अदालत नहीं है। यदि उनमें कभी मतभेद हो तो उनमें से बहुसंख्यकों का निर्णय मान्य होना चाहिए। पर उन निर्णायकों के निर्णय का आधार क्या है ? क्यों वे किसी सुख को श्रेष्ठ बतलाते हैं और दूसरों को निम्न ? उनका निर्णय मनमानी नहीं होता है। प्रत्येक व्यक्ति में गरिमा या बड़प्पन की भावना (sense of dignity) रहती है। इसी के आधार पर वह उच्च कोटि और निम्न कोटि के सुखों में भेद करता है। वैसे सुख जो मनुष्य के बड़प्पन के विरुद्ध हैं वे निम्न कोटि के हैं और वह उसे नहीं पसन्द करता। इसी भावना के कारण मनुष्य पाशविक सुखों के उपभोग के लिए पशु बनना स्वीकार नहीं करता। कोई भी भावना-युक्त मनुष्य सुख के उपभोग के लिए मूर्ख या दुष्ट बनना पसन्द नहीं करेगा यदि उसे यह विश्वास भी दिला दिया जाय कि मूर्ख और दुष्ट उससे अधिक सुखी हैं। 'एक असन्तुष्ट सुकरात (बुद्धिमान व्यक्ति) होना अच्छा है बनिस्बत एक सन्तुष्ट मूर्ख के, एक असन्तुष्ट मनुष्य होना अच्छा है बनिस्बत एक सन्तुष्ट पशु के (It is better to be a Socrates dissatisfied than a fool satisfied, better to be a human being dissatisfied than a pig satisfied)'। इसका तात्पर्य यह है कि निम्न कोटि का सुख प्राप्त करने के लिए निम्न स्तर में जाने से अच्छा है उच्च स्तर में

रहना, भले ही उसमें उतना सुख न मिले। यदि बेवकूफ और पशु का मत इससे भिन्न है अर्थात् यदि वे ही अपने को अच्छा समझते है, क्योंकि वे तृप्त हैं, तो इसलिए कि वे केवल अपनी ही बात जानते हैं। वे मनुष्य की उच्च भावना का अनुभव नहीं करते, अत सीमित होने के कारण वे वैसा मान सकते हैं; पर दूसरा पक्ष दोनो की बातो को जानता है, अत उसका मत उनसे अवश्य ही भिन्न और वास्तविक होगा।

संक्षेप मे :—

(१) मिल के अनुसार सुख ही जीवन का परम आदर्श है।

(२) व्यक्ति का सुख नहीं, सामान्य सुख जीवन का लक्ष्य होना चाहिए। इसके लिए प्रमाण भी है।

(३) इस नैतिक आदर्श के पालन के लिए मनुष्य बाह्य तथा आन्तरिक आदेशो से बाध्य होता है।

(४) सुखो मे गुण-सम्बन्धी भेद भी है और उच्च कोटि का सुख ही वांछनीय है।

(५) गुण-सम्बन्धी भेद का निर्णय योग्य निर्णायक ही कर सकते हैं।

(६) उनके निर्णय का आधार है 'गरिमा की भावना', जो मनुष्य मे प्राकृतिक है।

परार्थवादी सुखवाद की आलोचना

(१) परार्थवादी सुखवाद का आधार मनोवैज्ञानिक सुखवाद है। पर मनोवैज्ञानिक सुखवाद दोषपूर्ण है क्योंकि मनुष्य वस्तुत सुख की नहीं, किसी सुखप्रद वस्तु की कामना करता है और उसे प्राप्त कर लेने पर उसे सुख का अनुभव होता है।

(ii) मनोवैज्ञानिक सुखवाद को सत्य मान लेने पर भी उससे नैतिक सुखवाद का आवश्यक सम्बन्ध नहीं है। मिल ने बतलाया है कि जिस प्रकार दृश्य वह है जो सचमुच देखा जाये, वाञ्छनीय भी वही है जो सचमुच इच्छा की जाय। मनुष्य सुख की ही इच्छा करता है अत. सुख ही वाञ्छनीय है। इस युक्ति मे अलंकारिक भाषा-दोष (Fallacy of Figure of Speech) है। यहा वाञ्छनीय (इच्छनीय) और 'इच्छा की जाती है', दोनो को समानार्थक समझने की भूल की गई है। वाञ्छनीय या इच्छनीय का अर्थ है जिसकी इच्छा की जानी चाहिए। जो इच्छा की जाती है वह सदा इच्छा करने के योग्य हो, यह आवश्यक नही है। कोई दुराचारी वेश्या के यहा जाने की इच्छा करता है तो वेश्या के यहा जाना वाञ्छनीय अर्थात् इच्छा करने योग्य नही माना जा सकता? रोगी वर्जित पथ्य खाने की इच्छा करता है पर ऐसा वाञ्छनीय नही है। उसी प्रकार यदि सभी सुख की कामना भी करते है तो यह आवश्यक नही है कि सुख वाञ्छनीय हो।

(iii) यदि सुखवाद के सिद्धान्त (सुख ही मानव जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए) को सत्य मान लिया जाय तोभी यह मत युक्तिसंगत रूप से परार्थवादी नहीं हो सकता। सुखवाद यदि युक्तिसंगत होगा तो स्वार्थवादी या वैयक्तिक ही होगा। यदि हम दूसरों के सुख के लिए कर्म करते हैं तो इसका कारण दो ही हो सकता है। ऐसा इसलिए करते हैं कि उससे हमें सुख मिलता है या मिलेगा, या यदि यह कारण नही हो तो पूर्णता आदि प्राप्त करने के ख्याल से। यदि अपने निजी सुख के लिए दूसरों का सुख वाञ्छनीय है तब यह मत स्वार्थवादी है और यदि सुख को छोड़ अन्य कारण से ऐसा किया जाता है तब यह मत सुखवाद नहीं हुआ, क्योकि सुखवाद के अनुसार सुख प्राप्त करना ही जीवन का आदर्श है। इसलिए सुखवाद स्वार्थवाद हो गया और नही तो सुखवाद रह ही नहीं जायगा। मार्टीनू ने कहा भी है कि 'प्रत्येक अपने लिए (स्वार्थवाद) से प्रत्येक सब के लिए (परार्थवाद) का कोई मार्ग नहीं है (Each one for himself to each one for others-no road)। यदि सुखवाद

परार्थवाद हो भी सकता है तो प्रश्न है कि परोपकार की भावना उदय कैसे होती है ?

(iv) इस मत के अनुसार परार्थवादी भावना स्वार्थ से ही उत्पन्न होती है। मिल ने इसे 'रुची के स्थानान्तर' सिद्धान्त से सिद्ध किया है। पर शुद्ध परोपकारी भावना शुद्ध स्वार्थ से उत्पन्न नहीं हो सकती। यदि स्वभाव से मनुष्य स्वार्थी हो तो अभ्यास के द्वारा कितना भी परोपकारी वह क्यों न हो गया है पर जब उसे यह बात मालूम हो जायगी कि परोपकार की प्रवृत्ति कैसे उत्पन्न हुई है तो परार्थ को वह भ्रम मानने लगेगा। किसी भी हालत मे परार्थ भावना की उत्पत्ति यदि स्वार्थ-प्रेम से होती है तब वह शुद्ध परार्थ-भावना नहीं होगी, हद से हद स्वार्थी-परार्थ (ego-altruistic) भावना हो सकती है अर्थात् ऐसी परार्थ भावना जिसमे स्वार्थ भी निहीत हो।

(v) यदि यह भी मान लिया जाय कि परोपकार की भावना स्वार्थ से ही उत्पन्न होती है तो ऐसे कर्मों के लिए हम बाध्य क्यों होते है ? इसके लिए बेन्थम ने चार बाह्य आदेशो (external sanctions) को माना है। पर मिल ने स्वयं उसके मत की आलोचना की है कि यदि इन बाह्य आदेशों से प्रेरित होकर ही कोई व्यक्ति परोपकारी कर्म करता है तब वह स्वार्थी है। इसलिए मिल ने एक आन्तरिक आदेश (Internal Sanction), सहानुभूति की भावना, भी बतलाया है। पर केवल सहानुभूति की भावना से ही मनुष्य सदा परोपकारी नहीं हो सकता। मनुष्य की आत्मगत भावनाएं बहुत ही तीव्र होती हैं और यह सन्देहात्मक है कि जब आत्मप्रेम और परोपकार में चुनाव करना हो तो मनुष्य परोपकारी ही होना निर्णय करेगा। यह ठीक है कि जिस कर्म से दूसरों को सुख मिले पर अपनी हानि न हो तो उसे हम कर सकते हैं, पर यदि किसी कर्म से दूसरों को सुख मिले पर अपना अहित हो तो वहा सहानुभूति की भावना के कारण हम सदा परोपकारी बनेंगे, इसमें सन्देह है। इतनी बात निःश्चित है कि इस भावना से बाध्य होकर मनुष्य ऐसे कर्म, जैसे, देश के लिए जान देना, आत्मत्याग आदि नहीं करेगा। इसलिए मिल के मत से भी नैतिक बाध्यता का रहस्य स्पष्ट नहीं होता।

(vi) मिल ने परार्थवाद के लिए तार्किक प्रमाण भी दिया है।

सुख	हितकारी है
इसलिए प्रत्येक व्यक्ति का सुख	उसके लिए हितकारी है
अर्थात् मेरा सुख	मेरा हित है
आपका सुख	आपका हित है .....
राम का सुख	राम का हित है ....
....	....
अतः (मेरा + आपका + राम का + ...) सुख	(मेरा + आपका + राम का + श्याम का ....हित है
अर्थात् सामान्य सुख	सब व्यक्तियों के समूह के लिए हितकारी है।

इस युक्ति मे विभाग-दोप (fallacy of division) है। वास्तव में न व्यक्तियों का योग हो सकता है न सुख का। यह युक्ति वैसी ही है कि किसी क्लास में ५ विद्यार्थी हैं और प्रत्येक की लम्बाई ५ फीट है, अत. सम्पूर्ण क्लास की लम्बाई २५ फीट होगी। पर यह तो तभी सम्भव होता जब एक के सिर पर दूसरा खड़ा हो जाता। उसी प्रकार यदि सम्पूर्ण मनुष्य का मस्तिष्क एक बना दिया जाता तभी तो व्यक्तियों को जोडा जा सकता है।

इस प्रमाण के विरुद्ध दूसरी आपत्ति यह है कि कभी किसी कर्म से जब एक को सुख होता है तो दूसरे को दुख। यदि कोई विद्रोही पकड़ा जाता है तो अधिकारी वर्ग को सुख, पर उस विद्रोही को दुख होता है। अत यह कैसे कहा जा सकता है कि सामान्य सुख सभी लोगों के लिए भला होगा ?

(vii) इस सिद्धात के अनुसार वैसे कर्म जिनसे अधिकतम व्यक्तियों को सुख हो, उचित हैं और दुख हो तो अनुचित। पर दूसरों के सुख और दुख के आधार पर नैतिकता का मापदंड निश्चित करना कठिन है। इसका कारण यह है कि बहुत से दुराचार हैं जिनसे किसी को दुख नही होता पर वे उचित नहीं माने जा सकते। मानलें कि कोई बैंक का किरानी अपनी आवश्यकता की

पूर्ति के लिए शाम को चुपचाप बैंक से रुपया ले लेता है और दूसरे दिन सुबह बैंक खुलने के वक्त रख भी देता है तो इससे किसी दूसरे को दुख नहीं हुआ। इस सिद्धान्त के अनुसार इस कर्म से कुछ व्यक्तियों को लाभ हुआ और किसी को दुख नहीं, अत यह उचित होगा। पर ऐसा मान्य नहीं है। मिल इस कर्म की निन्दा करेंगे इसलिए कि यह निम्न कोटि का है। तब प्रश्न है कि सुख का मूल्याकन कैसे होता है ?

(viii) बेन्थम ने सुखों मे गुणात्मक भेद नहीं माना है। परिमाण मे ही उनमें अन्तर हो सकता है। परिमाण को मापने के लिए उसने सात बातों का उल्लेख किया है, तीव्रता, अवधि, शुद्धता आदि का। इसका अर्थ यह हुआ कि सुख को मापा जा सकता है जैसे हम ज्वर को या वृष्टि को मापते हैं। पर यह मत मान्य नहीं है। पहली बात तो यह है कि सुख कोई भौतिक पदार्थ नहीं है कि उसे माप लिया जाय। सुख और दुख व्यक्तिगत अनुभूतिया हैं। इसलिए उन्हें मापना सम्भव नहीं है। दूसरी बात यह है कि बेन्थम ने जो सुखवादी परि-गणना की विधि बतलाई है वह केवल सैद्धान्तिक है। आत्मगत सुख-दुख जो नितान्त चंचल होते है, उनका ठीक-ठीक हिसाब लगाना सम्भव नहीं है। फिर दूसरे के सुख को मापना तो असम्भव-सा ही है। प्रत्येक मनुष्य दूसरो की अपेक्षा अपने निकटतर है और अन्य कोई भी उसके सुख-दुख को तौल नहीं सकता। जो हमें सुखदायी है अन्य को दुखदायी हो सकता है; जो अन्य को सुखदायी है हमें दुखदायी हो सकता है। अतः बेन्थम के बताए नैतिक अकगणित का फल भी भिन्न होगा क्योंकि (a) दूसरे के दुख-सुख का सही-सही अक नहीं मिलेगा और (b) गणना पक्षपातरहित नहीं होगी। इसलिए बेंथम का मत मान्य नहीं है। मिल ने सुख मे गुणात्मक भेद कर मूल्याकन की समस्या को और भी जटिल बना दिया है।

(ix) मिल ने सुख के परिमाण के अतिरिक्त गुण के भेद को माना है। बौद्धिक सुख इन्द्रिय सुख से उच्चकोटि के हैं। वही सुख उच्चतर है जो हमारी उच्चतर प्रकृति को मान्य है। पर सुखों मे गुणात्मक भेद को स्वीकार करने

से सुखवादी सिद्धान्त को ही तिलांजलि दे देना है। यदि दो सुखों में गुण का भेद है तो यह भेद करनेवाला गुण क्या है? दोनो से सुख मिलता है अतः सुख स्वत या उसका परिमाण तो उसमें भेद नहीं लाता। यह भेदकारक गुण, सुख के अतिरिक्त कोई अन्य गुण अवश्य होगा इसीसे एक सुख को उच्च और दूसरे को निम्न कहा जाता है। अब मिल के अनुसार उत्कृष्ट सुख ही आदर्श है। सुख की उत्कृष्टता की कसौटी सुखवाद से बाहरी कसौटी है। अत. मिल सुखवाद को इन्द्रियपरता से बचाने के लिए सुखवादी सिद्धान्त ही को तिलांजलि कर देता है। यह कहा भी जाता है कि अरिस्टिपस से मिल तक सुखवाद का विकास सुखवादी सिद्धान्त के क्रमिक त्याग का सूचक है (The progress of Hedonism from Aristippus to Mill marks the gradual surrender of the hedonistic principle itself)।

(४) मिल ने सुख के गुण के लिए योग्य निर्णायकों के निर्णय को ही मापदण्ड माना है। कौन सा सुख उत्कृष्ट है और कौन निकृष्ट इसे जानने के लिए हमें योग्य निर्णायकों पर ही निर्भर रहना पड़ता है। अत नैतिक मापदण्ड बाह्य (external) हो जाता है।

योग्य निर्णायक आत्मानुभूति से ही सुखों का निर्णय करते हैं, अतः इस हालत में भी आत्मानुभूति ही मापदण्ड हो जाता है। अत यह मत अन्तः-अनुभूतिवाद के समरूप है।

योग्य निर्णायक 'गरिमा की भावना' के कारण ही उत्कृष्ट सुखों को पसन्द करते हैं। यह गरिमा की भावना सुख की भावना नहीं है। यह मनुष्य की उच्चतर प्रकृति का द्योतक है। मनुष्य की उच्चतर प्रकृति उसकी बुद्धि है। अत: जो बुद्धि को मान्य हो वही सुख उत्कृष्ट है। इस प्रकार हम देखते हैं कि सुख के भेद को जानने के लिए अन्त में हमें बुद्धि की ही सहायता लेनी होती है। बुद्धि ही नैतिक पथ-प्रदर्शक हो जाती है। ऐसा उपयोगितावादी ने स्वतः माना है।

सुखवाद की सामान्य आलोचना

सुखवादी मत (सुख ही जीवन का चरम आदर्श है) का दो ही आधार हो सकता है--

(1) मनोवैज्ञानिक मन अर्थात् सुख की कामना सभी करते हैं, अतः सुख वांछनीय है; या

(11) मूल्य का सिद्धात अर्थात् सुख का ही मूल्य है इसलिए सुख प्राप्ति ही चरम लक्ष्य होना चाहिए। मनोवैज्ञानिक मत की मीमासा पहले ही कर दी गई है। यहाँ दूसरे आधार की परीक्षा की जायगी।

नैतिक सुखवादियों के अनुसार सुख ही वाछनीय है। किसी कर्म का शुभ होना या उसका मूल्य सुख ही पर निर्भर है। अत सुख और मूल्य एक हैं। पर यह मत मान्य नही है। सुख और मूल्य मे एकता का सम्बन्ध नहीं है। जब किसी आदर्श अर्थात् मूल्य की सिद्धि होती है तो हमें सुख की अनुभूति होती है। इसलिए सुख मूल्य की सिद्धि का चिह्न है, स्वत मूल्यवान नहीं। सुख को हम मूल्य का माप समझ सकते हैं, जैसे थर्मामिटर ताप का माप है, स्वतः ताप नहीं। यदि केवल सुख ही स्वतः मूल्यवान होता तो हम केवल इसी की चेष्टा करते। पर मान लें कि एक ऐसी दवा मिलती जो हमारे मस्तिष्क मे सदा के लिए सुख की चेतना उत्पन्न कर देती तो उसे कितने लोग लेना पसन्द करते ? अधिकाश व्यक्ति वैसी दवा नहीं लेते इसका कारण यह है कि ऐसा हो जाने पर सुख का कोई अर्थ ही नहीं रहता और मनुष्य की क्रिया जिसके कारण मनुष्य को सुखानुभूति होती है वन्द हो जाती। उस हालत मे जीवन का अर्थ ही क्या होता ? इसलिए मूल्य सुख में नही, क्रिया मे है।

(ii) यदि यह कहा जाय कि हम वैसी दवा इसलिए पसन्द नही करते कि हमें वैसा सुख नहीं दूसरे प्रकार का सुख चाहिए तो सुखवाद का सिद्धान्त ही कमजोर पड जाता है। यदि ऐसा सुख नहीं वैसा चाहिए तो इसका अर्थ यह हुआ कि हमे केवल सुख नहीं चाहिए वल्कि कोई ऐसी वस्तु जो सुखो में भेद

डालती है। अतः हमारा आदर्श सुख नहीं रह जाता। यह सुखवाद के जड़ को खोद देता है।

(iii) सुख वस्तु से पृथक नहीं किया जा सकता है। सुख कोई वस्तु नहीं जिसका स्वतंत्र अस्तित्व हो। किसी इच्छित वस्तु के प्राप्त हो जाने पर ही सुख की अनुभूति होती है। अतः केवल सुख को जीवन का आदर्श नहीं माना जा सकता।

(iv) यदि सुख को ही जीवन का चरम लक्ष्य मान लिया जाय तो इसे मापने के लिए कोई सामान्य मापदंड निकालना कठिन है। इस अवस्था में नैतिक मापदंड भिन्न हो जाएंगे।

(v) सुख को अन्य भौतिक पदार्थों की भांति मापा नहीं जा सकता। इसके अतिरिक्त उनका योग करना भी सम्भव नहीं है। जिस प्रकार अनेक संस्थाओं के योग कर देने पर एक बड़ी संस्था हो जाती है उस प्रकार बहुत से लोगों के सुखों के योग कर देने पर एक बड़ा सुख नहीं हो जायगा।

(iv) सुखवाद वास्तव में नैतिकता का विषय देता है पर आकार नहीं। इसके अनुसार सभी इच्छाओं का मूल्य समान है और सभी की तुष्टि होनी चाहिए। पर वास्तव में हम इच्छाओं की तुष्टि नहीं चाहते अपने को (Self) तृप्त करना चाहते हैं। हममें दो तत्त्व हैं—रागात्मक और विवेकात्मक। अब हमें किस तत्त्व को तृप्त करना चाहिए, इसके विषय में सुखवाद ध्यान नहीं देता। इसलिए सुखवाद आकार का ध्यान नहीं देता, जिस प्रकार कॉन्ट नैतिकता के विषय को भूल जाता है।

सुखवाद के गुण (merits)

सुखवाद हमें नैतिकता के वास्तविक और चरम मापदण्ड का संकेत तो नहीं देता पर इस मत के कुछ गुण भी हैं। कुछ लोगों ने भावना को नैतिक जीवन के लिए घातक माना है पर सुखवाद से यह सिद्ध होता है कि भावनाओं का भी नैतिक जीवन में स्थान है। सुख तो जीवन का चरम आदर्श नहीं माना जा सकता पर चरम आदर्श की प्राप्ति के बाद सुख का अनुभव अवश्य होता है।

इस अर्थ में सुख को आदर्श कहा जा सकता है। पर हमें किस प्रकार का सुख चाहिए इसे ही जानना आवश्यक है। सुख और आनन्द में अन्तर है। सुख इन्द्रियपरक होता है और आनन्द, बौद्धिक। मनुष्य को उच्चतर आनन्द तभी हो सकता है जब उच्चतर आत्मा की तृप्ति हो। इसलिए लक्ष्य होना चाहिए, आत्मपूर्णता, जिसके फलस्वरूप मनुष्य को आनन्द मिलेगा।

उपयोगितावाद और अन्तःअनुभूतिवाद
(Utilitarianism and Intuitionism)

उपयोगितावाद	अन्त-अनुभूतिवाद
(a) किसी कर्म का नैतिक गुण उसके फल पर निर्भर है।	(a) नैतिक गुण कर्मों में ही निहित हैं।
(b) नैतिक नियम अनुभव-जन्य है।	(b) नैतिक नियम अनुभव-जन्य नहीं।
(c) किसी कर्म का नैतिक गुण अनुभव के आधार पर सामान्यीकरण के द्वारा निर्णय किया जाता है।	(c) किसी कर्म के नैतिक गुण का अन्त करण के द्वारा सहजबोध हो जाता है।
(d) सुख ही नैतिक आदर्श है।	(d) सुख और धर्म में अन्तर है, कहीं-कहीं विरोध भी।
(e) पहले हम दूसरों का निर्णय करते हैं तब अपना।	(e) पहले अपना नैतिक निर्णय होना है तब दूसरों का।
(f) यह मत नैतिकता का विषय देता है, आकार नहीं।	(f) यह मत नैतिकता का आकार देता है, विषय नहीं।
(g) यह प्रयोजनवादी सिद्धान्त है।	(g) यह अप्रयोजनवादी सिद्धान्त है।

बुद्धिमूलक उपयोगितावाद (Rational Utilitarianism)
सिजविक का बुद्धिमूलक उपयोगितावाद

सिजविक का विचार है कि संसार के सभी पदार्थ स्वतः वाञ्छनीय नहीं हैं, बल्कि वे किसी अन्य लक्ष्य की प्राप्ति के साधन हैं, इसलिये वाञ्छनीय हैं। इस संसार

के सभी पदार्थों का साधक मूल्य है। एक मात्र सुख ही स्वत- मूल्यवान है। यह किसी अन्य लक्ष्य का साधन नहीं, प्रत्युत प्रत्येक कर्म का स्वयं लक्ष्य है। अतः इसका प्रकृत मूल्य है। यह स्वतः शुभ है। सुख ही अन्तिम वाञ्छनीय वस्तु है। ज्ञान, सौन्दर्य तथा सद्गुण सुख-प्राप्ति के साधन हैं। यह हमें बुद्धि बतलाती है कि सुख ही वास्तविक लक्ष्य है। ऐसा निदेश हमें बुद्धि के द्वारा मिलता है। अत सुख ही चरम लक्ष्य है जिसकी प्राप्ति की चेष्टा करनी चाहिये। सिजविक सुख को ही जीवन का चरम लक्ष्य विचारता है, अत उसका मत सुखवाद कहलाता है। जीवन के चरम लक्ष्य के विषय में सिजविक के विचार मिल के समान हैं। पर सिजविक मनोवैज्ञानिक सुखवाद का समर्थक नहीं है। इसके अनुसार सुख मानव कर्मों का स्वाभाविक तथा सामान्य लक्ष्य नहीं है। यदि सुख के भाव की प्रबलता लक्ष्य प्राप्ति में बाधक होते हैं, सुख को प्राप्त करने की सर्वोत्तम विधि है सुख को विस्मृत कर देना। अत मिल की भांति वह सुख को इसलिए वाञ्छ-नीय नहीं मानता कि सभी उसकी इच्छा करते हैं, बल्कि इसलिए कि सुख ही स्वतः मूल्यवान तथा शुभ है। 'सुख स्वत मूल्यवान तथा शुभ है, इसका प्रमाण बुद्धि देती है। यह बुद्धि का निर्देश है। सिजविक का सुखवाद नैतिक सुखवाद है। मनुष्य के कर्मों का लक्ष्य सुख है या नहीं, इससे सम्बन्ध नहीं है। मानव जीवन का चरम लक्ष्य सुख होना चाहिए। यही बुद्धिसम्मत है।

सिजविक के अनुसार जीवन का चरम लक्ष्य सुख है, इसका ज्ञान बुद्धि के द्वारा होता है। इस मत को इसीलिए बुद्धिवाद (Rationalism) भी कहा जाता है। बुद्धि को तर्क द्वारा इस सत्य का ज्ञान नहीं होता बल्कि सहजबोध (Intuition) के द्वारा। अत नैतिक-बुद्धि का स्वरूप सहजबोधात्मक है। इस मत को इसीलिए अन्त अनुभतिवादी सुखवाद भी कहा जाता है। नैतिक बुद्धि को नैतिक आदर्श का सहजबोध होता है। नैतिक आदर्श अर्थात् चरम-लक्ष्य भावात्मक है। यह चेतना की वाञ्छनीय अवस्था है जिसे हम सुख कहते हैं। इस लक्ष्य का अनुभव के द्वारा ज्ञान नहीं होता बल्कि बुद्धि के सहजबोधो द्वारा। वर्तमान और भावी घटनाओं का कुछ भी अनुभव क्यों न हो

उससे 'क्या होना चाहिए' इसका ज्ञान होना सम्भव नहीं है। इसका ज्ञान बुद्धि के सहजबोधों के द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार सिजविक मिल के अनुभव-मूलक उपयोगितावाद से भिन्न बुद्धिमूलक उपयोगितावाद का प्रवर्त्तक है। उसने सुखवाद, अन्त:अनुभूतिवाद और बुद्धिवाद के समन्वय की चेष्टा की है। नैतिक आदर्श या मापदंड के विषय में उसका मत सुखवादी है पर नैतिक-शक्ति के विषय में वह बुद्धिवादी और उसके स्वरूप के विषय में अन्त:अनुभूतिवादी है।

नैतिक-बुद्धि अर्थात् अन्त करण से केवल चरम शुभ का ही सहजबोध नहीं होता बल्कि उस लक्ष्य प्राप्ति के साधन, दूरदर्शिता (Prudence), परोप-कारिता (Benevolence) और न्याय (Justice) का भी बोध होता है।

दूरदर्शिता (Prudence)—केवल आत्म-प्रेम क्षणिक सुखों की प्राप्ति के लिए हमें प्रवृत्त करता है। बुद्धि सहज आत्म-प्रेम को शिक्षित करती है और वास्तविक सुखी जीवन की ओर अग्रसर करती है। जीवन के प्रत्येक क्षण की ओर निष्पक्ष रहकर वर्तमान और भविष्य का विचार कर सुखों को चुनना चाहिए। यही दूरदर्शिता का सिद्धान्त है, जो आत्म-सुख प्राप्ति मे सहायक है।

परोपकारिता (Benevolence)—परोपकारिता बतलाती है कि सुख का भी उतना ही महत्त्व है जितना आत्मसुख का। अनुभव आत्मसुख और पर सुख के बीच खाई खोद देता है। बुद्धि उस खाई को पाट सकती है। जब सुख स्वतः मूल्यवान है तो दूसरो का सुख भी मूल्यवान है। इसलिए बुद्धि बतलाती है कि प्रत्येक व्यक्ति का लक्ष्य होना चाहिए 'सब मिलाकर अधिकतम सुख'। सबसे अधिक सुख के लाभ के लिए व्यक्तिगत सुख का बलिदान कर देना चाहिए। सिजविक का यह विचार स्वार्थवाद और परार्थवाद में समन्वय की चेष्टा है। यह विचार उपयोगितावाद है।

न्याय (Justice)—जीवन का प्रत्येक क्षण या प्रत्येक व्यक्ति का समान उपयोग नहीं होता। कुछ क्षणों की या कुछ व्यक्तियों की उप-भोग-क्षमता दूसरे क्षणों या व्यक्तियों की तुलना मे अधिक होती है। न्याय के

द्वारा हमें वैसे क्षणों का तथा वैसे व्यक्तियों का ज्ञान होता है जिन्हें सुख-लाभ की प्राथमिकता देनी चाहिए।

इस प्रकार दूरदर्शिता वर्तमान क्षणों के नहीं बल्कि सम्पूर्ण जीवन के सुख-लाभ का आदेश देती है। परोपकारिता व्यक्तियों के ही नहीं बल्कि मानव-जाति के सुख का आदेश देती है। न्याय सम्पूर्ण के अधिकतम सुख के लिए अधिक योग्य के और उपयोगी क्षणों में अधिक सुख का आदेश देता है।

आलोचना

सिजविक ने सुख को ही जीवन का चरमलक्ष्य बतलाया है। सुख एक भावना है। क्या यह लक्ष्य मनुष्य को तृप्त कर सकता है? मानव प्रकृति संवेदनशील तथा विचारशील दोनों है। अतः वह सर्वोच्च सुख जो केवल भावात्मक हो सम्पूर्ण आत्मा को तृप्त नहीं कर सकता। अपनी सम्पूर्ण आत्मा की तृप्ति—मानव-प्रकृति के भिन्न तत्त्वों का साम्य ही जिसमें वास्तविक आनन्द हो, वास्तविक लक्ष्य हो सकता है। अत. सुख नैतिक प्रगति का संकेत हो सकता है, जीवन का लक्ष्य नहीं।

सिजविक ने स्वार्थ और परार्थ में समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की है। दूरदर्शिता और परोपकारिता दोनों को वे बुद्धिमूलक विचारते हैं अतः आत्म-प्रेम और पर-प्रेम दोनो बुद्धिसम्मत हैं। पर कभी-कभी दोनो में विरोध हो जाता है। यह विरोध वास्तविक है या काल्पनिक? एक ही तत्त्व के दो सिद्धान्तों में संघर्ष कैसे होता है? इसके विषय मे उन्होंने बतलाया है कि बुद्धि के कुछ अन्तिम आदेश व्याघातक होते हैं। बुद्धि सर्वप्रथम अधिकतम स्वार्थ-सुख का आदेश देती है, फिर अधिकतम पर-सुख का। इसे सिजविक व्यावहारिक बुद्धि का द्वैत (Dualism of Practical Reason) कहता है। अपना हित प्रधानतः अपना ही सुख होता है। केवल गौण रूप मे ही इसका बोध होता है कि दूसरों का सुख साधन भी करना चाहिये। अत. सिजविक स्वार्थ और परार्थ के द्वैत का परिहार नहीं कर सका है।

सिजविक का मत उपयोगितावाद और बुद्धिवादी अन्तःअनुभूतिवाद का असंगत मेल है। अन्तःकरण या नैतिक बुद्धि ही परमशुभ का ज्ञान देती है। वह परम शुभ 'सुख' है; पर 'सुख' की प्राप्ति से बुद्धि को अनिवार्यतः सन्तोष नहीं होता। अत बुद्धि जिस लक्ष्य का ज्ञान देती है वह अयौद्धिक है। इसके अतिरिक्त कर्मों के मूल्याकन का सिजविक के मत मे दो विधिया मिलती हैं। उसने सुख को ही परमशुभ माना है, अत सुख ही नैतिक मापदण्ड है। पर सुख के अतिरिक्त सुखप्रदता, युक्तियुक्तता आदि को भी उसने लक्ष्य माना है। वास्तव में सिजविक ने सुखवाद का नीव बुद्धिवाद के आधार पर सबल बनाने का प्रयत्न किया है, पर इससे कई कठिनाइया आ पड़ी हैं।

विकासात्मक सुखवाद (Evolutional Hedonism)

नीति में विकासवाद—

नैतिक जीवन और उसके तथ्यों को समझने के लिए विकासवाद के सिद्धान्तों का प्रयोग प्राचीन काल मे भी हुआ था पर वर्तमान युग मे ही इसका वैज्ञानिक रीति से प्रयोग हुआ है। साधारणतः सरल रूप से धीरे धीरे निरन्तर जटिल रूप में परिवर्तन को विकास कहा जाता है। कुछ विचारकों के अनुसार विश्व के अन्य पदार्थों की भाति नैतिक जीवन विकास का ही परिणाम है। अत इसको समझने के लिए विकाससाद के सिद्धान्तों को लागू करना आवश्यक है। सर्वप्रथम स्पेन्सर ने विकासवाद का नैतिक क्षेत्र मे प्रयोग किया है। नैतिक जीवन की प्रारम्भिक अवस्था क्या थी, किस आदर्श की ओर इसका विकास हो रहा है और इस विकास के नियम क्या हैं, इन्हें जान लेने पर मनुष्य को नैतिकता का ज्ञान हो जायगा। इसी हेतु विकासवाद का प्रयोग किया गया है।

नैतिक जीवन की व्याख्या दो रीतियों से हो सकती है, प्रारम्भ से इसकी व्याख्या करके या अन्त या आदर्श, जिस ओर विकास हो रहा है उससे। किसी भी वस्तु के विकास मे आदि, अन्त और बीच के क्रम होते हैं अर्थात् प्रारम्भिक अवस्था, वर्तमान रूप और आदर्श जिस ओर विकास होता है। आदि और अन्त छिपे

हुए होते हैं, दृष्टिगोचर होती है केवल प्रक्रिया। प्रक्रिया की व्याख्या आदि से या अन्त से हो सकती है। कौन सी व्याख्या उत्तम होती है?

कुछ विचारकों ने आदि से ही नैतिक तथ्यो की व्याख्या की है। इसके प्रवर्त्तक स्पेन्सर हैं पर नैतिकता की व्याख्या मे यह ठीक विधि नहीं है। नैतिकता का सम्बन्ध नैतिक विकास के इतिहास से नहीं बल्कि आदर्श से है। अत. आदर्श या अन्त से ही नैतिक जीवन की व्याख्या करनी चाहिये। यह विचार ग्रीन और उसके अनुयायियों का है। स्पेन्सर, स्टीफन तथा अलेकजेन्डर के मत इसमें उल्लेखनीय हैं।

विकासात्मक सुखवाद के सामान्य सिद्धान्त

विकासवाद के अनुसार जिस प्रकार विकास-क्रम मे कोई अवस्था पूर्व अवस्था का ही विकसित रूप है उसी प्रकार नैतिक तथ्यो का पूर्व अनुभवो से ही विकास हुआ है। अत नैतिक तथ्यो की समुचित व्याख्या पूर्वजो के अनुभव से ही हो सकती है। विकासात्मक आचारशास्त्र, इसीलिए, मनुष्य के वर्तमान मानसिक और नैतिक प्रकृति को उसके पूर्वजो के इतिहास से तथा व्यक्ति और वातावरण की अन्तरक्रिया, जिसके कारण सभी जीवो मे विकास होता है, अनुमान करता है। इसके अनुसार अन्य पदार्थों या जीवो की भाति ही नैतिक जीवन विकसित हो रहा है, अत आचारशास्त्र जीव-विज्ञान का एक अग है। अन्त.करण या नैतिक शक्ति या सामाजिक भावना जीवन-संग्राम, प्राकृतिक चुनाव तथा परिस्थितियों के अनुकूल बनने की क्रिया की ही उपज है।

विकासवाद के अनुसार व्यक्ति अपने सभी पूर्वजो के संचित अनुभवों और योग्यताओं का सम्मिलित परिणाम है। मानव जाति का विकास व्यक्तिगत विकास की भाति है। जिस प्रकार व्यक्ति अपनी प्रवृत्तिया या अन्य मानसिक और शारीरिक शक्तिया अपने मा-बाप से पाता है, उसी प्रकार नैतिक तथ्य भी मानव जाति मे युग-युग से धीरे-धीरे संचित होते हुए इस अवस्था मे आए हैं। जिन प्रवृत्तियों को हमलोगो ने पैत्रिक सम्पत्ति के रूप में पाया है वे हैं परार्थ या सहानुभूति या सामाजिक प्रवृत्तिया। अत हमारी सामाजिक प्रवृत्तिया पूर्वजों के

बल्कि सामाजिक स्वास्थ्य अर्थात सामाजिक भलाई के द्वारा ही हो सकती है। इसलिए मनुष्य को ऐसा कर्म करना चाहिए जिससे सामाजिक स्वास्थ्य अर्थात् सामाजिक शुभ हो, जिसके द्वारा ही अन्तिम लक्ष्य, आनन्द की प्राप्ति सम्भव है। अतः कर्मो का नैतिक मापदंड 'सामाजिक स्वास्थ्य या सामाजिक शुभ' हैं। वैसे कर्म उचित हैं जिनसे समाज की स्वास्थ्य-वृद्धि होती है।

अन्य सुखवादियों की भाति विकासवादी सुख की परिगणना आवश्यक नहीं विचारते। बेन्थम ने दुख की परिगणना की विधि बतलाया था। उनके अनुसार परिगणना के उपरान्त जिस कर्म से सर्वाधिक सुख अधिकतम व्यक्तियों को मिले वही करना उचित है। पर विकासवादियों के अनुसार ऐसी परिगणना अनावश्यक है। सामाजिक विकास के कारण व्यक्ति में ऐसी प्रवृत्तिया वर्तमान हैं जिनसे समाज की स्वास्थ्यवर्धक क्रिया होती है जिससे व्यक्तिगत सुख प्राप्ति सम्भव है। ऐसे कर्म सहज रूप में होते हैं, उनके लिए किसी परिगणना की आवश्यकता नहीं है। सामान्य अनुभव यही बतलाता है कि समाज शुभ से ही व्यक्ति-शुभ सम्भव है, अत वैसे कर्मों से जिनसे समाज का शुभ होता है, स्वीकृति की भावना सम्बद्ध हो जाती है और हमें वही भावना आनुवंशिकता के द्वारा प्राप्त होता है। इसलिए हममें ऐसी जन्मजात प्रवृत्ति है कि हम सामाजिक शुभवर्धक क्रियाओ की स्वीकृति देते हैं और उसके विपरीत जो क्रियाएँ होती हैं, उनकी स्वीकृति नही देते। इसके लिए विचारात्मक परिगणना की आवश्यकता नहीं है। प्रकृति ही यह परिगणना कर देती है।

उपरोक्त विचार में स्वार्थवाद और परार्थवाद का समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की गई है। इस मत के अनुसार मानव आचरण के विकास क्रम मे धीरे-धीरे व्यक्तिगत और सामाजिक हित का सामंजस्य होता है। स्पेन्सर ने तो कल्पना की है कि विकास क्रम में एक अवस्था आएगी जब व्यक्तिगत आनन्द और सामाजिक हित एक हो जाएगा। वैसी अवस्था मे न कोई नैतिक नियम, न कोई बाध्यता रहेगी, इसलिए कि मानव प्रकृति ही वैसी हो जायगी।

अर्जित अनुभव का परिणाम है। इस प्रकार विकासवाद का सिद्धान्त हमारी नैतिक प्रवृत्तियों को जन्मजात तथा अर्जित, दोनो बतलाता है। हममें जो प्रवृत्तिया जन्मजात हैं, वे हमारे पूर्वजों में अनुभव से प्राप्त होते हैं अर्थात् अर्जित हैं। अत. परार्थ की भावना जन्मजात है, पर वह हमारे पूर्वजों के सम्मिलित अनुभवों का परिणाम है। आनुवंशिक नियम के अनुसार जो पिता में अभ्यास रूप है वह बालक में उसकी प्रकृति के रूप में रहने की प्रवृत्ति रहती है। अतः मौलिक नैतिक सिद्धान्त हालाकि उपयोग के सिद्धान्त पर ही आश्रित हैं पर हमलोगो में वे आनुवंशिकता के कारण जन्मजात या सहज हो गए हैं। इसी के कारण हमे नैतिक सिद्धान्तों का सहजबोध हो जाता है।

विकासात्मक सुखवाद समाज का स्वरूप सावयवात्मक (Organic) मानता है। समाज एक शरीर की भाति है और व्यक्ति उसके अंग है। अतः समाज के विकास पर ही व्यक्ति का विकास निर्भर है और व्यक्ति के विकास पर समाज का विकास। समाज और व्यक्ति की अन्तरक्रिया का ही व्यक्ति का वर्तमान शारीरिक, सामाजिक और मानसिक विकास, परिणाम है। सामाजिक शरीर के अग के रूप में ही व्यक्ति जीता, चलता और अस्तित्व ग्रहण करता है। सामाजिक भावनाएँ तथा प्रवृत्तिया समाज से ही उत्पन्न हुई हैं और व्यक्ति आनुवंशिकता-नियम के द्वारा उन्हें प्राप्त करता है। सामाजिक भावनाओं का उत्तरोत्तर विकास हो रहा है। जिन जातियों में यह भावना नहीं पनपी उनका नाश हुआ और जीवन संग्राम मे जिनमें इस भावना का विकास हुआ, उनकी जीत हुई।

अब प्रश्न है कि मनुष्य के कर्मों का निकटतम लक्ष्य क्या है और फिर अन्तिम लक्ष्य क्या है? नैतिक विकास की प्रगति किस ओर है, किस लक्ष्य को प्राप्त करना, अभी और अन्त मे? दूसरे शब्दों मे मनुष्य का तत्कालिक लक्ष्य और चरम लक्ष्य क्या है?

मनुष्य के कर्मों का निकटतम लक्ष्य है सामाजिक शरीर का स्वास्थ्य (the health of the social organism)। हालाकि हमारे जीवन का चरम लक्ष्य है सुख या आनन्द पर उसकी प्राप्ति सुख की आकाक्षा से नहीं,

बल्कि सामाजिक स्वास्थ्य अर्थात सामाजिक भलाई के द्वारा ही हो सकती है। इसलिए मनुष्य को ऐसा कर्म करना चाहिए जिससे सामाजिक स्वास्थ्य अर्थात् सामाजिक शुभ हो, जिसके द्वारा ही अन्तिम लक्ष्य, आनन्द की प्राप्ति सम्भव है। अतः कर्मो का नैतिक मापदंड 'सामाजिक स्वास्थ्य या सामाजिक शुभ' हैं। वैसे कर्म उचित हैं जिनसे समाज की स्वास्थ्य-वृद्धि होती है।

अन्य सुखवादियों की भाति विकासवादी सुख की परिगणना आवश्यक नहीं विचारते। बेन्थम ने दुख की परिगणना की विधि बतलाया था। उसके अनुसार परिगणना के उपरान्त जिस कर्म से सर्वाधिक सुख अधिकतम व्यक्तियो को मिले वही करना उचित है। पर विकासवादियो के अनुसार ऐसी परिगणना अनावश्यक है। सामाजिक विकास के कारण व्यक्ति में ऐसी प्रवृत्तिया वर्तमान हैं जिनसे समाज की स्वास्थ्यवर्धक क्रिया होती है जिससे व्यक्तिगत सुख प्राप्ति सम्भव है। ऐसे कर्म सहज रूप में होते हैं, उनके लिए किसी परिगणना की आवश्यकता नहीं है। सामान्य अनुभव यही बतलाता है कि समाज शुभ से ही व्यक्ति-शुभ सम्भव है, अत वैसे कर्मो से जिनसे समाज का शुभ होता है, स्वीकृति की भावना सम्बद्ध हो जाती है और हमें वही भावना आनुवंशिकता के द्वारा प्राप्त होता है। इसलिए हममें ऐसी जन्मजात प्रवृत्ति है कि हम सामाजिक शुभवर्धक क्रियाओं की स्वीकृति देते हैं और उसके विपरीत जो क्रियाएँ होती हैं, उनकी स्वीकृति नही देते। इसके लिए विचारात्मक परिगणना की आवश्यकता नहीं है। प्रकृति ही यह परिगणना कर देती है।

उपरोक्त विचार में स्वार्थवाद और परार्थवाद का समन्वय स्थापित करने की चेष्टा की गई है। इस मत के अनुसार मानव आचरण के विकास क्रम मे धीरे-धीरे व्यक्तिगत और सामाजिक हित का सामंजस्य होता है। स्पेन्सर ने तो कल्पना की है कि विकास क्रम में एक अवस्था आएगी जब व्यक्तिगत आनन्द और सामाजिक हित एक हो जाएगा। वैसी अवस्था मे न कोई नैतिक नियम, न कोई बाध्यता रहेगी, इसलिए कि मानव प्रकृति ही वैसी हो जायगी।

यदि सामाजिक विकासवाद ने मनुष्य को सहज प्रवृत्तियों के रूप में ही परार्थ भावना सम्पन्न किया है और मनुष्य स्वत. ऐसे कर्मों का चुनाव कर लेता है जिससे समाज शरीर का स्वास्थ्य-वृद्धि हो तो आचारशास्त्र में उचित-अनुचित कर्मों की मीमांसा आवश्यक प्रतीत नहीं होता। तब आचारशास्त्र का लक्ष्य क्या है? स्पेन्सर के अनुसार आचारशास्त्र का लक्ष्य जैवि और सामाजिक सिद्धान्तों से वैसे कर्मों का अनुमान करना है जिससे सुख का उत्पादन हो। यही निगमन व्यवहार के पथ पर्दशन के लिए नियम माना जाना चाहिए। अत. यह विचार निगमनात्मक है। पूर्व उपयोगितावादियों का मत आगमनात्मक है।

सारांश—(1) नैतिकता विकास का परिणाम है। नैतिकता का विकास सामान्य विकास का ही एक अंग है।

(ii) समाज शरीर की भांति है और शरीर की भांति ही इसका विकास होता है। व्यक्ति शरीर के अंग की भांति है। अत समाज और व्यक्ति में सावयवी सम्बन्ध है, आन्तरिक सम्बन्ध, बाह्य नहीं।

(iii) समाज और व्यक्ति में आन्तरिक सम्बन्ध होने के कारण व्यक्ति का जीवन और विकास समाज के जीवन और विकास पर निर्भर है।

(iv) चरम लक्ष्य सुख है पर इसकी प्राप्ति समाज शरीर के स्वस्थ्य रहने से ही हो सकती है। अतः समाज शरीर का स्वास्थ्य ही लक्ष्य है और नैतिक मापदंड भी।

(v) सामाजिक भावनाएं मनुष्य में जन्मजात है। युगों का अनुभव संचित होकर पूर्वजों के द्वारा वे हमें प्राप्त हुए हैं। सामाजिक भावना जन्मजात होने के कारण हमें यह विचारने की आवश्यकता नहीं होती कि किस कर्म से समाज शरीर का स्वास्थ्य वर्धन होगा। ऐसे कर्म स्वत चुन लिए जाते हैं।

(vi) आचारशास्त्र का लक्ष्य है जैवि और सामाजिक नियमों से नैतिक सिद्धान्तों का निगमन। अत इसकी विधि निगमनात्मक है।

समालोचना—

(i) विकासात्मक सुखवाद सुख को चरम लक्ष्य बतलाता है; पर उसके अनुसार सुख प्राप्त करने के लिए समाज-शरीर की स्वास्थ्य वृद्धि के लिए ही कर्म करना चाहिए। अत कर्मों का लक्ष्य समाज-शरीर का स्वास्थ्य है। यह विचार सुखवाद मे सुधार करने के लिए सुखवादी मत का ही त्याग कर देता है।

(ii) विकासात्मक सुखवाद के अनुसार वैसे कर्मों का, जिनसे समाज-शरीर की स्वास्थ्य वृद्धि होती है, संकेत सहज प्रवृत्तियो से होता है, विचारात्मक परिगणना से नहीं। यह सत्य है कि बेन्थम के सुख की परिगणना की विधि दोषपूर्ण है पर विकासात्मक सुखवाद उसे हटाने के हेतु अन्ध प्रवृत्तियों का महत्व अत्यधिक बढ़ा देता है। नैतिकता अन्ध प्रवृत्तियो मे नहीं है, यह विचारपूर्ण आदर्श जीवन में है।

(iii) वर्तमान विकास के सिद्धान्त सुखवादी सिद्धान्त के प्रतिकूल हैं। यह विचार कि केवल सुख ही की इच्छा की जाती है, भ्रान्तियुक्त है। वास्तव में किसी वस्तु से सुखानुभूति इसलिए होती है कि हम उसकी इच्छा करते हैं। अत. हम सुख की इच्छा नहीं करते, बल्कि इच्छा करते है इसलिए सुख होता है।

(iv) जैवि-विकासवाद मनुष्य के विचारशील तथा नैतिक प्रकृति की व्याख्या नहीं करता। मनुष्य की विवेकशील और नैतिक प्रकृति किसी अविवेकशील था अनैतिक युक्तियों से विकसित नही हुई है।

(v) जैवि विकास और नैतिक विकास में मौलिक अन्तर है। जैवि विकास में बलवत्तम की विजय होती है और वह कमजोर को नष्ट कर देता है। नैतिक विकास में नैतिकता मे श्रेष्ठता आती है और कमजोर की ओर सहानुभूति बढ़ती है। उन्हें सहायता तथा जीवन के लिए योग्य बनाने की चेष्टा की जाती है। जैवि-विकास में संघर्ष है, नैतिक विकास मे सहानुभूति तथा सामाजिक भावना की वृद्धि होती है। नैतिक विकास मे बली का अर्थ है दयावान, सहानुभूति-पूर्ण। हक्सले ने कहा है नैतिक दृष्टि से जो सर्वोत्तम है वह संघर्षपूर्ण जीवन के विपरीत है। अत. विकासवाद का नीति मे प्रयोग मान्य नहीं है।

(vi) विकासवाद नैतिक आदर्श की व्याख्या नहीं कर सकता। आचारशास्त्र आदर्श-निर्देशक विज्ञान है। यह नैतिक आदर्श को निर्धारित करता है। विकासवाद नैतिक विकास का इतिहास बतलाता है। कैसे प्रारम्भिक अवस्था से अभी तक नैतिक भावनाओं और विचारों का विकास हुआ है, इसीसे इसका सम्बन्ध है। पर इससे इस बात का कि नैतिक आदर्श क्या है संकेत नहीं मिलता।

हर्बर्ट स्पेन्सर का विकासात्मक सुखवाद—स्पेन्सर के मतानुसार नैतिकता विकास का परिणाम है। नैतिक व्यापार सृष्टि के व्यापार का एक अंग है। नैतिक नियमों को जैविक नियमों से व्युत्पन्न किया जा सकता है। स्पेन्सर का मत विकासात्मक है।

नैतिकता का प्रारम्भिक रूप पशुओं के व्यवहार मे मिलता है। व्यवहार का अर्थ है वे प्रक्रियाएं जो जीव को वातावरण से समयोजित करती हैं। जीव अपने को वातावरण के अनुकूल बनाने मे प्रयत्नशील है। इसलिए वैसे व्यवहार जिनसे समयोजना में वृद्धि होती है, उचित हैं, जिनसे अविरोध होता है, अनुचित हैं।

उचित व्यवहार से सुख का उत्पादन होता है क्योंकि उनसे जीव का वातावरण से सामंजस्य स्थापित हो जाता है। अनुचित व्यवहार से दुख होता है क्योंकि उससे जीव का वातावरण से समयोजना नहीं होता। अधिकाश व्यवहार अंशतः उचित और अशत अनुचित हैं। पूर्णरूप से उचित व्यवहार वही है जिससे वेदना रहित सुख मात्र की उत्पत्ति हो। स्पेन्सर का यह विचार सुखवादी है।

वातावरण से अनुकूलता होने पर जीवन का उत्कर्ष होता है। अतः उचित व्यवहार से जीवन का उत्कर्ष होता है और अनुचित व्यवहार से उसका अपकर्ष। उचित व्यवहार से सुख की और अनुचित से दुख की उत्पत्ति होती है। इसलिए सुख जीवन-वृद्धि का सूचक है और दुख उसके क्षय का। जीवन-वृद्धि की प्रवृत्ति जन्मजात है। अत पशु या मनुष्य स्वभावत सुख लाभ और दुख त्याग करते हैं।

जीवन की वृद्धि सहज प्रवृत्ति है, अत सुख लाभ चरम लक्ष्य है। पर स्पेन्सर जीवन की लम्बाई और चौड़ाई (Length and Breadth of Life) को सन्निकट लक्ष्य मानता है। जीवन की लम्बाई और चौडाई का अर्थ है आत्म-रक्षा और जाति-रक्षा। चरम लक्ष्य सुख आत्म-रक्षा और जाति रक्षा से ही प्राप्त किया जा सकता है। अत सुख ही सम्पूर्ण शुभ है। पर सुख सबके लिए सुखप्रद होना स्वीकार्य है। इस प्रकार चरम लक्ष्य सुख है पर जीवन का संरक्षण और विकास निकटस्थ लक्ष्य हैं।

जीवन के संरक्षण के लिए मानव-प्रकृति के ऊपर किसी प्रकार के दबाव का अभाव होना चाहिए। बाहरी दबाव राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक नियंत्रण है। आन्तरिक नियंत्रण नैतिक-नियत्रण है।

नैतिक बाध्यता मे दो तथ्य है--प्रभुता (authoritativeness) और बाध्यता (Obligatoriness)। बाद की विकसित भावनाओ मे, जैसे, सहानुभूति में, पूर्व विकसित अनुभूतियो से, जैसे, स्वार्थ से, अधिक प्रभुता है। अत उच्चत्तर अनुभूतियो से प्रभुता सम्बद्ध है। बाध्यता राजनैतिक, धार्मिक तथा सामाजिक नियंत्रणो के अनुभव से होता है। नैतिक बाध्यताएं अल्पस्थायी हैं। नैतिक चेतना के विकास होने पर बाध्यता नहीं रह जाती। आत्म-रक्षा मानव स्वभाव मे सहजात हैं। परार्थ का विकास भी स्वार्थ के साथ ही होता है। अत जीवन केवल अपने लिए या जीवन केवल दूसरो के लिए, दोनों अनुचित हैं। दोनो का समन्वय ही शुभ है। नैतिक चेतना मे एक ऐसी भी अवस्था होगी जब स्वार्थ और परार्थ का एकीकरण हो जायगा।

आलोचना—विकासवाद नैतिक प्रगति की व्याख्या कर सकता है पर नैतिकता के प्रारम्भ की नहीं। नैतिकता का प्रारम्भ अनैतिक तत्त्वो से नहीं हुआ है।

वातावरण के अनुकूलता का अर्थ क्या है? यह अनुकूलता किसी आदर्श के सम्बन्ध मे ही हो सकती है।

जैव-विकास-सिद्धान्त नैतिक विकास पर लागू नहीं हो सकता। प्राकृतिक चुनाव, योग्यतम की रक्षा आदि नैतिकता मे लागू नहीं है।

नैतिक विकास जीव-विकास का अग नहीं है।

सुख दुख की जीवशास्त्रीय व्याख्या सन्तोषजनक नही है। सुख जीवन का उत्कर्ष नहीं वल्कि जीवन शक्ति का व्यय है। वहुत सी उपयोगी क्रियाएं जिनसे जीवन-वृद्धि होती है, सुखदायक नहीं है, जैसे, पाचन-क्रिया आदि।

जीवन की लम्वाई चौड़ाई जैविक आदर्श हो सकते हैं, नैतिक आदर्श नहीं।

राजनैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक नियंत्रणों से 'चाहिए' की भावना उत्पन्न नहीं होती। उनसे 'करना पड़ेगा' का भाव होता है।

नैतिक वाध्यता या नैतिक चेतना को स्पेन्सर अल्पस्थायी वतलाता है। पर नैतिक प्रगति के साथ-साथ नतिक आदर्श भी उँचे होते जाते हैं; अत नैतिक चेतना कभी लुप्त नहीं हो सकती।

२. लेसली स्टीफन का विचार :—

स्टीफन का विचार है कि समाज एक शरीर की भाति है और व्यक्ति उसके अंग हैं। व्यक्ति समाज से अलग नहीं रह सकता। समाज-शरीर अपने वातावरण के ऊपर प्रतिक्रिया करने से वढता और विकसित होता है। समाज और व्यक्ति के वीच समयोजना की प्रतिक्रिया निरन्तर चल रही है। समाज और व्यक्ति में आन्तरिक सम्वन्ध है। समाज-शरीर के विकास के साथ-साथ व्यक्ति रूपी अगों का विकास हो रहा है। अत जीवन का चरम लक्ष्य समाज-शरीर का स्वास्थ्य है। वही कर्म शुभ है जो समाज के स्वास्थ्य का साधक है और जो उसके लिए घातक है अशुभ है। स्वास्थ्य और सुख में विरोध नहीं है। स्वास्थ्यजनक कर्म सुखप्रद और हानिकारक दुखप्रद होते हैं। समाज के विकास के साथ-साथ व्यक्तियों में सहानुभूति की भावना भी विकसित होती है। सहानुभूति एक सामाजिक भावना है।

आलोचना—समाज और व्यक्तियों के सम्वन्ध के विषय में स्टीफन का सावयवी मत अशत भ्रान्तिमूलक है।

स्टीफन ने समाज-शरीर के स्वास्थ्य को नैतिक मापदंड मानकर सुखवाद का जड़ उखाड़ दिया है। उनका मत आत्मपूर्णतावाद का समर्थन है।

अलेकजेन्डर का विचार—अलेकजेन्डर ने समाज और व्यक्ति के विषय में स्टीफन के मत को अपनाया है। वह समाज-शरीर के लिए सामाजिक व्यवस्था (Social order) का विचार अपनाता है। उसके अनुसार समाज शरीर की साम्यावस्था (Equilibrium of the Social Organism) परम शुभ है। समाज शरीर की साम्यावस्था व्यवहार की पूर्ण तया समयोजित अवस्था है। कर्मों का मापदंड नैतिक आदर्श है। यह नैतिक आदर्श प्रतियोगी प्रवृत्तियों के ऊपर आधारित व्यवहार की समयोजित अवस्था है।

पशुओं मे प्राकृतिक चुनाव का अर्थ बलवतम की जीत है पर नीति में अधिक पूर्ण आदर्शों के द्वारा निर्बल आदर्शों का निराकरण इसका अर्थ है। पशुबल के द्वारा नहीं, नैतिक प्रोत्साहन के द्वारा यह निराकरण होना है।

आलोचना—अलेक्जेन्डर का मत वही है जो स्टीफन का है अत: इसके विरुद्ध भी वे ही आपत्तिया हैं। वास्तव मे नैतिक विकास की व्याख्या लक्ष्य या आदर्श के द्वारा ही हो सकती है, आदर्श का स्पष्टीकरण उससे नहीं हो सकता।

स्पेन्सर, स्टीफन और अलेक्जेन्डर के मतो की तुलना करने पर स्पेन्सर का मत अन्य दोनों के अपेक्षाकृत ,

(i) अधिक सुखवादी है,

(ii) अधिक व्यक्तिवादी है।

(iii) स्पेन्सर निरपेक्ष और सापेक्षिक आचारशास्त्र मे भेद मानता है जो अन्य दोनों विचारकों को मान्य नहीं है।

TYPICAL QUESTIONS

1 Rationalism is the ethics of Reason while Hedonism is the ethics of Sensibility. Explain.

2. Give a critical estimate of Psychological Hedonism ? How does it differ from Ethical Hedonism ?

3. 'Pleasure is the dynamic and not the end of actions'. Explain

4 Briefly trace the theory of Hedonism through the several stages of its growth.

5. 'We may sum up the defects of Hedonism by saying that it has the opposite fault to that which we find in the system of Kant' Discuss this view.

6 What is meant by Hedonism in Ethics ? Point out the various objections against Ethical Hedonism.

7. How far the doctrine of 'Each one for all' satisfies the reason of man ?

8 Explain the motto 'eat, drink and be merry' as the Summum Bonum of human life.

9. Epicureanism is at least an imporovement upon Cyrenaicism Explain this view

10 Does Hedonism succeed in establishing the following claims ?

(a) The distinction and the superiority of quality between pleasure

(b) Its preference of altruistic pleasure over individualistic pleasures

11. Give an outline of Mill's Utilitarianism. How far he has been able to prove his theory ?

12. 'The progress of Hedonism from Aristippus to Mill is an illustration of the gradual surrender of the hedonistic principle' Explain the above statement.

13. How far Mill's theory is an improvement upon the theory of Bentham ? Discuss.

14. In what respect is Mill's Utilitarianism an improvement upon the earlier forms of Hedonism ?

15. 'Each one for himself to each one for all–no road.'. Elucidate,

16. What are the sanctions of morality according to Bentham ? Is Mill justified in introducing the internal sanction of morality ?

17. Which has a greater authority in morals, a 'must' or an 'ought' ? Explain Bentham's sanctions as forms of a 'must' and show how Mill tries to improve upon them.

18. If the keynote of Kant's doctrine is 'self-sacrifice', that of Hedonism is 'self-gratification'. Explain this statement

19. Write notes on

(a) Paradox of Hedonism

(b) Hedonistic Calculus

20. 'A Socrates dissatisfied is better than a fool satisfied, a human being dissatisfied than a pig satisfied' Elucidate.

21 Compare Utilitarianism with Intuitionism and point out their relative merits.

22. Explain the bearing of Evolution in morals. Indicate the chief points of Evolutionary Ethics.

23. Explain the theory of moral standard according to Evolutional Hedonism.

24 Does Evolutional Hedonism provide us with a true standard of morality ?

25 Explain the Rational Utilitarianism of Sidgwick and compare it with Mill's Utilitarianism.

तेरहवाँ परिच्छेद

[ख] आत्मपूर्णतावाद (Perfectionism)

हम अपने जीवन का जो भी चरम लक्ष्य मान लें उसे एकबारगी प्राप्त नहीं कर सकते। हमारा संपूर्ण जीवन उसी ओर लगा रहता है और हम क्रमशः उसे सिद्ध करते हैं। इसलिए, जिस प्रकार अन्य पदार्थों का विकास होता है उसी प्रकार नैतिक जीवन का भी विकास होता है। यह विकास किस ओर होना चाहिए? वह नैतिक आदर्श या लक्ष्य क्या हो जिस ओर हम प्रगति करें?

वाह्य नियमवाद (external law) के अनुसार वाह्य सत्ता के नियमों का पालन ही नैतिक आदर्श है। पर यदि वाह्य नियमों का डर और प्रलोभन से पालन किया जाय तो उससे नैतिकता का विकास नहीं होता। इसके अतिरिक्त वे नियम भी तो किसी आदर्श का ही संकेत करते हैं। चरम आदर्श क्या होना चाहिए यह उन नियमों से स्पष्ट नहीं होता।

कान्ट का बुद्धिवाद और सुखवाद दोनों एकांगी हैं। एक के अनुसार बुद्धि के विकास और दूसरे के अनुसार भावनाओं के विकास में ही नैतिकता बतलाया गया है। इसलिए एक ने भावनाओं को दमन कर केवल बुद्धि के आदेशों का पालन नैतिकता कहा है और दूसरे ने बुद्धि को छोड़ भावनाओं की तुष्टि, जीवन का आदर्श बतलाया है। पर क्या बुद्धि और भावना में से किसी एक को छोड़ा जा सकता है? क्या उनमें से केवल किसी एक के विकास से पूर्ण विकास होगा?

आत्मपूर्णतावाद के अनुसार बुद्धि और भावना दोनों ही मनुष्य के आवश्यक अंग हैं। इसलिए बिना बुद्धि के या बिना भावना के मनुष्य पूर्ण नहीं हो सकता। बुद्धि और भावना में आवश्यक सम्बन्ध है। इसलिए दोनों का विकास अर्थात् सम्पूर्ण स्व (self) का विकास ही शुभ है। मनुष्य के

जीवन का यही चरम लक्ष्य होना चाहिए। सम्पूर्ण स्व की पूर्णता या विकास का अर्थ है मनुष्य की सभी क्रियाओं की पूर्णता। मनुष्य की क्रियाएं शारीरिक और बौद्धिक दोनों होती हैं। अरस्तू ने कहा भी है कि मनुष्य एक पशु है पर विवेकयुक्त। उसका स्वभाव रागात्मक और विवेकयुक्त दोनो है। अतः इस मत के अनुसार सम्पूर्ण आत्मा की पूर्णता ही उच्चतम शुभ (highest good) है।

उपर्युक्त विवेचना से यह स्पष्ट होता है कि आत्मपूर्णतावाद मनुष्य के व्यक्तित्व पर जोर देता है। अपने व्यक्तित्व को विकसित कर पूर्ण बनाना ही जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए। इसी कारण से इस मत को व्यक्तित्व का आचारशास्त्र कहा जाता है।

आत्मपूर्णता आत्म-सिद्धि (self-realisation) के द्वारा प्राप्त होता है, अतः यही नैतिक आदर्श है। आत्म-सिद्धि मनुष्य की हर प्रवृत्तियो को तुष्ट करने से ही सम्भव है। सिद्धि का अर्थ है मानव शक्ति से या भिन्न चेष्टाओं के द्वारा प्राप्त करना। प्राप्त करने का अर्थ ही है किसी लक्ष्य को प्राप्त करना। जब किसी विशेष लक्ष्य, जैसे, परीक्षा पास करना, नौकरी पाना आदि, को प्राप्त किया जाता है तो हम कहते हैं कि हम सफल हुए। पर जब हम सत्य, सौन्दर्य और शुभ लक्ष्य प्राप्त करते हैं तो सिद्धि होती है। अत जब भी किसी लक्ष्य को प्राप्त किया जाता है तो उससे कम या अधिक मात्रा मे आत्म-सिद्धि होती है। इसलिए आत्म-सिद्धि का अर्थ सुख प्राप्त करना, या बुद्धि की तुष्टि ही नही अपितु अपने सम्पूर्ण शक्तियों का विकास है। मनुष्य होने के नाते हममे जितनी शक्तिया हैं उनका पूर्ण विकास ही आत्म-सिद्धि है। संक्षेप में, व्यक्ति का विकास ही आत्म-सिद्धि है। आत्म-सिद्धि से मनुष्य को आत्म-सन्तोष होता है क्योंकि उस अवस्था में व्यक्ति की सभी शक्तियों का विकास हो जाता है। आत्म-सन्तोष (Self-satisfaction) को आनन्द (Happiness or blessedness) भी कहा जा सकता है। आनन्द और सुख मे अन्तर है। इन्द्रियो की तृप्ति से आनन्द होता है। अत. सुख क्षणिक है पर आनन्द स्थायी। सुख इन्द्रियों की माग है, आनन्द बुद्धि की। सुख मनुष्य के हीन स्वभाव की

पूर्ति का फल है, आनन्द उसके उच्चतर स्वभाव की सिद्धि का। अत आत्म-सिद्धि के साथ-साथ आनन्द की भावना अवश्य होती है। पर इसका यह अर्थ नहीं है कि आनन्द ही मनुष्य के जीवन का लक्ष्य है। आनन्द नैतिक उत्थान का संकेत मात्र है।

यह मत आदर्शवादी (Idealistic) है। इसमें सुखवाद की भाति केवल इच्छा की तुष्टि या कान्ट के बुद्धिवाद की भाति विवेक का आदेश-पालन ही नहीं अपितु सम्पूर्ण स्व की तुष्टि बतलाया जाता है। इच्छाओ का भी महत्व है अतः उन्हें बुद्धि के अधीन कर उनके नियंत्रण से ही पाशविक आत्मा और बुद्धिमय आत्मा, दोनो की सिद्धि होती है। इससे ही सम्पूर्ण स्व सिद्ध होता है। इसलिए जहा सुखवाद का सिद्धान्त है 'आत्म-तुष्टि (self-gratification)', बुद्धिवाद का 'आत्म-बलिदान (self-sacrifice)', आत्मपूर्णतावाद का 'आत्म-सिद्धि (self-realisation)', है। सुखवाद की आत्म-तुष्टि मे आत्मा का अर्थ है पाशविक आत्मा, बुद्धिमय आत्मा नहीं। बुद्धिवाद के आत्म-बलिदान में भी आत्मा का अर्थ है पाशविक स्व (animal self) और यहा इस स्व को दमन करने का आदेश दिया गया है। आत्म-सिद्धि मे आत्मा का अर्थ है सम्पूर्ण आत्मा—पाशविक और विवेकशील।

इस मत के अनुसार समाज की प्रकृति अवयवी (organic) है। समाज और व्यक्ति का सम्बन्ध वैसा ही है जैसा शरीर का उसके अगों के साथ। यदि शरीर स्वस्थ्य है तो अग भी स्वस्थ्य हैं और यदि अग ठीक है तो शरीर भी। समाज शरीर की भाति है और व्यक्ति इसके आत्म-चेतन अग हैं। दोनो मे विरोधी नहीं हैं। व्यक्ति अपने नैतिक आदर्शों को समाज में ही सिद्ध कर सकता है। अत आदर्श समाज मे ही मनुष्य पूर्ण हो सकता है। यदि समाज खराब है तो मनुष्य उच्चतम शुभ को कैसे प्राप्त कर सकता है? अत. उच्चतम शुभ वैयक्तिक नहीं सामान्य शुभ (common good) है।

आत्मपूर्णतावाद, स्वार्थवाद (Egoism) और परार्थवाद (Altruism) का समन्वय करता है। स्वार्थवाद के अनुसार व्यक्तिगत सुख और सामाजिक

सुख में विरोध है। प्रत्येक मनुष्य व्यक्तिगत सुख चाहता है। परार्थवाद के अनुसार सामाजिक सुख मनुष्य का आदर्श होना चाहिए। उनके अनुसार भी व्यक्तिगत सुख और सामाजिक सुख में विरोध है। पर आत्मपूर्णतावाद के अनुसार समाज और व्यक्ति में विरोध का सम्बन्ध नही है। इसलिए व्यक्तिगत सुख और सामाजिक सुख विरोधी नही हैं। समाज के सुख मे ही व्यक्ति का सुख है। उच्चतम शुभ सामान्य शुभ है। इस तरह यह मत स्वार्थवाद और परार्थवाद में समन्वय स्थापित करता है।

आत्मपूर्णतावाद बुद्धिवाद और सुखवाद के झगडे का अन्त कर देता है। सुखवाद के अनुसार सुख ही जीवन का परम आदर्श है। सुख इच्छाओं की पूर्त्ति से होता है, अत सुखवाद के अनुसार कामनाओं की पूर्ति ही नैतिक जीवन का आधार है। यह मत इन्द्रियो के अधिकार को मानता है और मनुष्य के स्वभाव का उसे ही महत्वपूर्ण अग वतलाता है। बुद्धिवाद बुद्धि के आदेशों के अनुसार आचरण करना ही परम धर्म मानता है। यह बुद्धि के अधिकार को मानता है और मानव-स्वभाव मे उसे ही महत्वपूर्ण बतलाता है। अत इस मत के अनुसार कामनाओं का हनन ही उचित है। ये दोनों मत एकागी हैं। आत्मपूर्णतावाद के अनुसार कामनो और बुद्धि दोनो ही मानव स्वभाव के आवश्यक अग हैं। इसलिए बुद्धि विना कामना के खोखली है, कामना विना बुद्धि के अधी है। एक दूसरे के विना अपूर्ण है। किसी एक को सन्तुष्ट करना अपने एक अग को ही अधिक महत्व देना है। अत सम्पूर्ण आत्मा की सिद्धि ही जीवन का ध्येय होना चाहिए। यहा सम्पूर्ण आत्मा का अर्थ मनुष्य की कामना और विवेक दोनों है। कामनाओं को बुद्धि के आदेशों के अनुसार तुष्ट करना चाहिए। यह मत कामनाओ का दमन नहीं वताता, उनका परिमार्जन और परिष्कार वताता है। बुद्धि के द्वारा उनका नियमन होना चाहिए। अत सुख-प्राप्ति जीवन का लक्ष्य नही है। पूर्णता प्राप्त करने पर मनुष्य को आनन्द की अनुभूति होती है। आनन्द और सुख में उन्होंने अन्तर माना है। सुख इन्द्रिय-तृप्ति से होती है, अतः वह क्षणिक है। आत्म-सिद्धि से आत्म-संतोष होता है, जिसे आनन्द कहते हैं।

इसी प्रकार कामनाओं का दमन भी उचित नहीं है। पर कामनाओं से वासनाओं को पृथक कर देना आवश्यक है। इस अर्थ में आत्मबलिदान अर्थात् केवल पाशविक इच्छाओं को वर्जित करना, त्याग देना, उचित माना जा सकता है। इस तरह आत्मपूर्णतावाद, बुद्धिवाद और सुखवाद, दो विरोधी मतों में सामञ्जस्य स्थापित कर देता है। इसीलिए कहा गया है कि इस मत के मूलमंत्र आत्म-सिद्धि (self-realisation) में आचार-शास्त्र के सभी विरोधक मतों का समन्वय हो जाता है।

इस मत को आत्म-प्रसादवाद (Eudoemonism) भी कहा जा सकता है। आत्म-प्रसादवाद के अनुसार आत्मलाभ ही जीवन का आदर्श होना चाहिए। आत्म-लाभ केवल आत्मोत्सर्ग (self sacrifice) के द्वारा ही सम्भव है। बुद्धिमय आत्मा (raıonal self) के लाभ के लिए हमें पाशविक आत्मा का त्याग या अपनी उच्चतर प्रकृति के लिए अपने हीन स्वभाव को हटा देना आवश्यक है। हमें अपने व्यापक या सामाजिक रूप की प्राप्ति के लिए व्यक्तिगत रूप का बलिदान करना आवश्यक है। उच्चतर आत्मा का विकास, साथी, परिवार, राज्य आदि से विरक्त होकर नहीं, बल्कि उनके द्वारा ही सम्भव है। इस प्रकार समाज के द्वारा ही मानव व्यक्तित्व का पूर्ण विकास हो सकता है। मनुष्य का परम कल्याण व्यक्तिगत और सामाजिक कल्याण है। इसे ही आत्म-प्रसाद या लाभ कहते हैं। यही धारणा आत्मपूर्णतावाद की भी है।

आत्मपूर्णतावाद के अनुसार भी अन्तःकरण (conscience) नैतिक नियमों का निर्माण कर उन्हें अपने उपर लादती है। पर इनके अनुसार अन्तःकरण सम्पूर्ण आत्मा है। इन्होंने अन्त अनुभूतिवादियों की भांति अन्तःकरण को कोई विशेष नैतिक शक्ति नहीं माना है। मनुष्य की सच्ची आत्मा, बुद्धिमय आत्मा, अन्तःकरण, नियमों को अपने ही उपर लादती है। यह नियम किसी अंश-विशेष का नहीं। यदि ऐसा होता तो ये नियम बाह्य होते।

नैतिक-बाध्यता (moral obligation) के विषय में उनका मत है कि बुद्धिमय आत्मा पाशविक आत्मा को कर्त्तव्य के लिए बाध्य करती है। नैतिक बाध्यता कहीं बाहर से नहीं आती, जैसे, राज्य, समाज आदि के द्वारा। मनुष्य की नैतिक चेतना में अभिन्न रूप से नैतिक बाध्यता का भी अस्तित्व रहता है। जब नैतिक प्रगति होती है तो उसका लोप नहीं होता। लोप इसलिए नहीं होता कि हम आदर्श के समीप बढते जाते हैं पर उसे पूर्ण रूप से प्राप्त नहीं कर सकते। यदि आदर्श वास्तविक हो जाय तो वह आदर्श कैसे रहेगा? अत आदर्श और वास्तविकता मे सदा संघर्ष होगा और नैतिक बाध्यता वर्तमान रहेगी।

प्लेटो, अरस्तू, हेगेल, ग्रीन, ब्राडले आदि इस मत के प्रवर्त्तक हैं। इनका दृष्टिकोण भारतीय मत के समकक्ष है।

हेगेल की इसी सम्बन्ध में उक्ति है, **जीने के लिए मरो (Die to live)**। मध्ययुगी ईसाई धर्म मे इसका अर्थ यह है कि आत्मा की मुक्ति के लिए शरीर को शूली पर चढ़ा दो (crucify the flesh)। आत्मा की रक्षा के लिए शरीर का नाश आवश्यक है। वही आत्मा के पूर्ण विकास के रास्ते मे रोड़े का काम करता है। पर हेगेल ठीक इसी अर्थ मे इसका प्रयोग नहीं करता। उसके अनुसार मनुष्य के पूर्ण विकास के लिए उसके व्यक्तिगत आत्मा की मृत्यु आवश्यक है। बुद्धि के विकास के लिए इन्द्रियो का दमन आवश्यक नही है; उनका नियन्त्रण होना चाहिए, जिसमे धीरे-धीरे उनका लोप हो जाय। जीना और मरना दोनो विरोधात्मक प्रतीत होते हैं। पर यहाँ इसका अर्थ है उच्चतर जीवन के लिए हीन जीवन की मृत्यु।

एक दूसरी उक्ति है, **व्यक्ति बनो (Be a person)**—मनुष्य में कामना भी है और बुद्धि भी। कामनाएं व्यक्तिगत होती हैं, और बुद्धि सामान्य। कामनाएँ हमे अन्य व्यक्तियो से पृथक करती हैं और बुद्धि सामान्यीकरण। बुद्धि के कारण ही मनुष्य व्यक्ति है। इस मत के अनुसार बुद्धिमय जीवन का विकास होना चाहिए अर्थात् सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास। व्यक्तित्व का

विकास स्वयं लक्ष्य है, किसी अन्य लक्ष्य का साधन नही। इसलिए कहा गया है कि व्यक्ति बनो और दूसरे के व्यक्तित्व का सम्मान करो।

इसी सम्बन्ध मे ब्राडले की उक्ति है' **मेरा स्थान और उससे सम्बन्धी कर्त्तव्य (My Station and its duties)**'। उसके अनुसार हर आदमी का समाज मे एक विशेष स्थान है और उससे ही सम्बन्धी कार्य है। हर व्यक्ति की शक्ति समान नहीं होती। इसलिए हर आदमी सभी कार्य नहीं कर सकता है। आदमी, डाक्टर, प्रोफेसर, इन्जीनियर सभी नही हो सकता। अपनी शक्ति के अनुसार उसका समाज मे अपना नियत स्थान है। उस स्थान के अपने कर्त्तव्य भी हैं। कोई मनुष्य अपने स्थान के अनुसार ही अपनी शक्तियों का विकास कर सकता है। इसीमे उसका कल्याण है और पूर्ण विकास भी सम्भव है।

आत्मपूर्णतावाद का प्रमाण

सभी पदार्थों मे, जिसमे कोई क्रिया होती है, शुभ या अच्छाई उसकी क्रिया में होती है, उस वस्तु मे नही। वंसी वजानेवाला, एक गेंद खेलनेवाला या कलाकार, सभी की अपनी-अपनी क्रियाएँ हैं। इसलिए एक अच्छा वंसी वजानेवाला वह है जो अच्छी वंसी वजाए, अर्थात् अपनी क्रिया मे सिद्धस्त हो—जिसने पूर्णता प्राप्त कर लिया हो। एक अच्छा गेंद खेलनेवाला वह है जो वहुत अच्छा खिलाड़ी हो अर्थात् अपने काम मे पूर्णता प्राप्त किए हो। क्या मनुष्य की कोई क्रिया नहीं है?

मनुष्य जीवित शरीर मात्र नहीं है। पौधो मे भी जीव है, शरीर है, अत ये मनुष्य की विशेषताएँ नहीं हैं। प्रत्यक्ष या चेतना की शक्ति (वासना) पशुओं में भी है अत वह भी उसकी विशेषता नही है। विवेक-शक्ति ही मनुष्य की विशेषता है। इसी शक्ति का प्रयोग उसका विशेष काम है। अतः एक अच्छा आदमी वह है जो अपने काम मे पूर्ण या सिद्ध हो अर्थात् अपनी विवेक शक्ति का पूर्ण विकास किए हुए हो। इसका अर्थ यह हुआ कि बुद्धिमय आत्मा

का पूर्ण विकास ही नैतिक आदर्श है। पर इसका अर्थ यह नही है की पाशविक आत्मा का दमन कर दिया जाय।

हर चीज की अच्छाई उससे अद्भूत लाभ मे है। एक छूरी अच्छी है इससे कि उससे लाभ है।' यह काटने का काम करती है। उसी प्रकार शरीर का लाभ क्या है? इसका उत्तर है, जीवन के लिए। पर जीवन का लाभ क्या है? वहुत से विचारक यहीं रुक जाते हैं। पर जीवन का लाभ आत्मपूर्णता प्राप्त करने मे है। इसलिए यदि मनुष्य को केवल यंत्र की भाति माना जाय तव ठीक काम करना ही उसका शुभ है। यदि मनुष्य को शरीर मात्र माना जाय तो ठीक से जीना ही उसका शुभ है। पर यदि मनुष्य को व्यक्ति अर्थात् व्यक्तित्वयुक्त माना जाय तो व्यक्तित्व का विकास ही उसका शुभ है।

सारांश

(i) बाह्य नियमवाद बाह्य नियमों को चरम नैतिक आदर्श मानता है, अतः यह दोषपूर्ण है। सुखवाद और बुद्धिवाद अपूर्ण हैं, इसलिए कि वे मनुष्य-स्वभाव के अंग-विशेष की ही महत्ता मानते हैं। आत्म-पूर्णतावाद के अनुसार मनुष्य के दोनो अंग महत्वपूर्ण हैं। अतः सम्पूर्ण आत्मा का विकास ही उच्चतम शुभ है और इसे ही जीवन का चरम लक्ष्य मानना चाहिए।

(ii) सम्पूर्ण आत्मा के विकास का अर्थ है सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास।

(iii) आत्म-सिद्धि (**self realisation**) ही के द्वारा पूर्णता प्राप्त किया जा सकता है। आत्म-सिद्धि का अर्थ है सम्पूर्ण शक्तियों का विकास।

(iv) आत्म-सिद्धि से आत्म-सन्तोष होता है। अतः आत्म-सन्तोष या आनन्द नैतिक जीवन का संकेत है।

(v) यह आदर्शवादी मत है। इसमे कामनाओ का दमन करना नहीं, अपितु उसे बुद्धि के द्वारा नियंत्रण करना बताया गया है।

(vi) समाज अवयवी है। अतः व्यक्तिगत शुभ और सामान्य शुभ में विरोध नहीं है। सामान्य शुभ ही उच्चतम शुभ है।

(vii) यह मत स्वार्थवाद और परार्थवाद का समन्वय करता है।

(viii) इसमें सुखवाद और बुद्धिवाद में भी सामञ्जस्य स्थापित होता है। आचार-शास्त्र के सभी विरोधी मतो का समन्वय इस मत में पाते हैं।

(ix) इस मत को आत्म-प्रसादवाद (Eudoemonism) भी कहा जाता है। आत्मलाभ, आत्मबलिदान (self-sacrifice) के द्वारा ही सम्भव है।

(x) अन्तःकरण सम्पूर्ण आत्मा है।

(xi) नैतिक बाध्यता का अर्थ है बुद्धिमय आत्मा का पाशविक आत्मा को बाध्य करना।

(xii) हेगेल के कथन, 'जीने के लिए मरो' और 'व्यक्ति बनो' और ब्राडले का कथन 'मेरा स्थान और उससे सम्बन्धी कर्त्तव्य' इस मत के सूत्र हैं।

(xiii) इस मत का प्रमाण यह है कि किसी वस्तु की अच्छाई उसके कार्य की अच्छाई पर निर्भर है। मनुष्य विवेकशील है, इसलिए उसका विकास ही शुभ है।

समालोचना—

(i) बहुत से विचारकों ने इस मत के विरुद्ध भी स्वार्थवाद का दोष आरोपित किया है। इसमें आत्मा की पूर्णता ही जीवन का लक्ष्य बतलाया गया है। यदि कोई व्यक्ति अपनी आत्मा की पूर्णता चाहता है तो जड़ में वह भी स्वार्थी ही है। पर इस दोषारोपन मे तत्त्व नहीं है। वास्तव में इस मत मे यह स्पष्टतया बता दिया गया है कि व्यक्ति और समाज मे विरोध नहीं है, अत सामान्य शुभ ही उच्चतम शुभ है।

(ii) यह मत आदर्शवादी दर्शन पर आश्रित है।

(iii) इस मत में विरोधी मतो का समन्वय होता है। इन्हीं कारणों से यह मत अन्य मतों की अपेक्षा मान्य प्रतीत होता है। पर इसके विरुद्ध भी आपत्तिया हैं।

(a) समाज को आत्मपूर्णतावाद अवयवी मानता है। समाज और व्यक्ति का वही सम्बन्ध बतलाया गया है जो शरीर और उसके अगो मे है। पर यह मत मान्य नहीं है। इसका विवरण समाज दर्शन मे देखें।

(b) यह मत आत्मा की पूर्णता या आत्मसिद्धि या सम्पूर्ण व्यक्तित्व का विकास मानव जीवन का चरम लक्ष्य तो बतलाता है पर कौन से कर्म से इस लक्ष्य की पूर्ति होगी, यह स्पष्ट नहीं होता। मनुष्य के जीवन मे ऐसे अवसर भी आते हैं जहाँ स्पष्ट रूप से यह जान लेना कि इसीसे आत्म-सिद्धि होगी, कठिन है। आत्मसिद्धि तो जीवन का लक्ष्य मान्य है पर दैनिक जीवन मे कर्मों का चुनाव कैसे किया जाय, यह स्पष्ट नहीं होता। अत इस मत को सैद्धान्तिक (theoretical) रूप से मान्य कहा जा सकता है पर व्यावहारिक (Practical) रूप में अस्पष्ट (vague)। मूल्य के सिद्धान्त (Theory of Value) के द्वारा ही यह सिद्धान्त व्यावहारिक रूप मे प्रयुक्त हो सकता है।

आत्मपूर्णतावाद और सुखवाद

	आत्मपूर्णतावाद	सुखवाद
(a)	सम्पूर्ण आत्मा की सिद्धि ही इसका सिद्धान्त है।	आत्मा के एक तत्त्व की तुष्टि इसका सिद्धान्त है—पाशविक आत्मा की।
(b)	बुद्धि ही जीवन का पथ पर्दशक है। यही कामनाओ का नियंत्रण करता है।	कामनाएं जीवन का मार्ग बताती हैं।
(c)	बुद्धि और कामना की संगति ही जीवन का आदर्श है।	सुखो का यान्त्रिक योग (mechanical sum total) ही जीवन का आदर्श है।

(d) आत्म-सिद्धि (self-realisation) इसका मूल मंत्र है।	आत्म-तुष्टि (self-gratification) इसका मूल मन्त्र है।
(e) आत्म-सिद्धि के लिए आत्म-वलिदान अर्थात् कामनाओं का वलिदान भी आवश्यक हो जाता है।	प्रत्येक इच्छा की तुष्टि आवश्यक है। विवेक कामना की चेरी है।
(f) आत्म-सिद्धि से आनन्द की अनुभूति होती है। अत आनन्द परम लक्ष्य है।	इच्छाओं की तुष्टि से सुख का अनुभव होता है। अत सुख ही जीवन का परम लक्ष्य है।

Typical Questions

1. How does the ethics of self-realisation reconcile Hedonism with Rationalism, and Egoism with Altruism ?
2. 'We can realise the true self or the complete good by realising social ends. We must realise ourseeves by sacrificing ourselves' Explain this statement
3. 'As the watchword of Hedonism may be said to be self gratification and that of Rationalism self-sacrifice, so the watchword of Perfectionism may be said to be self-realisation' Explain th's fully.
4. What is the significance of the expressions (a) Be a person and (b) Die to live.
5. Explain the chief features of Perfectionism as an ethical theory.

6 'The good of man lies in the identification of the individual Will with the Universal Will.' Explain this statement.

7. The essence of good is to satisfy demand. So the essence of the highest good is to satisfy the highest demand. Explain this with reference to the theory of self-realisation.

8. 'Self-sacrifice is necessary for self-realisation'. Explain and discuss

9. Hedonism is the ethics of Sensibility, Rationalism is the ethics of Reason and Perfectionism is the ethics of Personality. Explain.

13 Write explanatory notes on:

(a) Happiness is the index of morals.

(b) My station and its duties.

चौदहवाँ परिच्छेद

मूल्यवाद

(Standard as value)

मूल्य का अर्थ

साधारणतः मूल्य शब्द कहने से ही पैसे का विचार आ जाता है। यह एक अर्थशास्त्रीय-प्रत्यय (economic concept) माना जाता है। पर मूल्य का अर्थ इतना संकुचित नहीं है। यदि हमारे पास किसी की भेंट की हुई एक रूमाल है तो उसे भी हम मूल्यवान मानते हैं हालांकि उसका दाम बहुत कम है। बात यह है कि मानव जीवन एक चयनात्मक क्रिया है। हम अमुक काम करते हैं, दूसरा नहीं। हम वैसे ही कर्म करते हैं जो हमें अच्छे लगते हैं। खराब कर्मों को भी कर्त्ता अच्छा ही समझ कर करता है। जिसे हम अच्छा या शुभ समझते हैं उसी को मूल्यवान भी मानते हैं। जो हमारे लिए शुभ (good) है वही हमारे लिए मूल्यवान है। अतः जिस प्रकार अच्छा या शुभ आचार-शास्त्र का मौलिक प्रत्यय है, उसी प्रकार मूल्य भी है। जो हमें अच्छा लगे वही आपको भी अच्छा लगे, यह आवश्यक नहीं है। अत जो हमारे लिए मूल्यवान है वह आपके लिए नहीं भी हो सकता है। इसीलिए साधारणतः मूल्य का अर्थ है वह जो हमारी इच्छा को तृप्त करे। मानवीय-इच्छा या आवश्यकताओं की तृप्ति करनेवाली सभी वस्तुएँ मूल्यवान हैं या शुभ (good) हैं। अन्न मूल्यवान है इसलिए कि उससे हमारी क्षुधा की तृप्ति होती है। सुखवादियों का भी यही मत है।

साधारणत ऐसा भी देखा जाता है कि जिस पदार्थ से मनुष्य की आवश्यकता या इच्छा की पूर्ति होती है उससे उसके जीवन की रक्षा या वृद्धि भी होती है, जैसे, अन्न, घर आदि। इसलिए मूल्य का एक

दूसरा अर्थ भी लगाया जाता है। कोई भी पदार्थ जिससे जीवन की रक्षा और वृद्धि हो वह मूल्यवान है। इस परिभाषा में एक कठिनाई है। आदि मानव की इच्छाएं सीमित थी, अत यह निर्णय करना सरल था कि किससे जीवन की रक्षा और वृद्धि होगी। आज की सभ्यता जटिल है। मनुष्य की आवश्यकताएं अनेक है और लक्ष्य भी भिन्न-भिन्न। इसलिए यह निर्णय करना कि किससे जीवन की रक्षा और वृद्धि होगी कठिन है। दूसरी बात यह है कि जीवन की रक्षा और वृद्धि जिससे हो वह मूल्यवान है, पर जीवन का अर्थ क्या है? क्या हम पशुओं की तरह सिर्फ जीना चाहते हैं या अच्छी तरह जीना चाहते हैं? मनुष्य केवल जीना नही चाहता वह अच्छा जीवन चाहता है। अत. जीवन स्वयं शुभ या अच्छा नहीं है; जीवित रहने से जिस उद्देश्य या लक्ष्य की प्राप्ति होती है उससे जीवन मूल्यवान होता है अर्थात् जिसके कारण जीवन अच्छा या शुभ होता है वह मूल्यवान है। इसलिए जिससे आत्म-लाभ या आत्म-विकास होता है वह मूल्यवान है। यही मत आत्मपूर्णतावादियों का है। मनुष्य केवल इच्छाओं की गठरी नही है। इसलिए जो इच्छा की पूर्ति करता हो वह आरम्भ मे मूल्यवान प्रतीत होता है पर वास्तविक मूल्य उसका नहीं। मनुष्य पशु नहीं है कि जिससे उसके जीवन मात्र की रक्षा हो उसे ही मूल्यवान माना जाय। इच्छाएँ स्वयं मूल्यवान नहीं हैं। उनका मूल्य इस कारण से है कि वे हमारे जीवन के रक्षक हैं। जीवन स्वयं मूल्यवान नहीं। जिस तरह का जीवन व्यतीत किया जाता है उसपर उसका मूल्य निर्भर है अर्थात् मूल्य उस उद्देश्य में है जिसके अनुसार जीवन व्यतीत हो रहा है। मनुष्य मे इच्छाएं रहती हैं, वह जीना भी चाहता है, पर वह एक व्यक्ति (person) है। अतः उसीका मूल्य होगा जिससे उसके पूर्ण व्यक्तित्व का विकास हो। इसलिए आत्म-सिद्धि में ही मूल्य का समावेश है।

मूल्य का वर्गीकरण

(क) साधक मूल्य और तात्त्विक मूल्य (Instrumental and Intrinsic value)

कुछ पदार्थ ऐसे होते हैं जिनका कोई मूल्य नहीं होता। उनका मूल्य इसलिये होता है कि उनसे किसी मूल्यवान लक्ष्य की प्राप्ति होती है। सम्पत्ति मूल्यवान स्वत नहीं है। इसका मूल्य इसलिए है कि इससे सुख की प्राप्ति होती है। कपड़ा स्वत: मूल्यवान नहीं है। इसका मूल्य इसलिए है कि इससे जाड़ा, धूप, आदि से हम बचते हैं। ये साधन रूप मे इष्ट होती हैं। उनकी इच्छा हम स्वयं उनके लिए नहीं करते अपितु किसी उद्देश्य की पूर्ति के लिए करते हैं। उनमें स्वत: मूल्य का समावेश नहीं है। ये साधक मूल्य (instrumental value) हैं।

तात्त्विक मूल्य वह है जो स्वत मूल्यवान हो, जैसे, सत्य, शील, आदि। वे इसलिए मूल्यवान नहीं हैं कि उनसे किसी अन्य मूल्यवान लक्ष्य की प्राप्ति होती है। ये साधन रूप में नहीं, साध्य रूप मे इष्ट है। इनकी इच्छा हम स्वयं उन्हीं के लिए करते हैं। उनकी कामना इसलिए नहीं की जाती कि उनसे किसी अन्य लक्ष्य की पूर्ति होगी। वे स्वत मूल्यवान हैं। सुखवादियों के अनुसार सुख का तात्त्विक मूल्य है। कांट ने शुभ संकल्प (Good will) का तात्त्विक मूल्य बतलाया है। सत्य, सौंदर्य, विवेक आदि का भी तात्त्विक मूल्य बतलाया जाता है।

(ख) विधायक और विघातक मूल्य
(Positive and Negative Value)

हमारे जीवन का चरम आदर्श एक अभावात्मक (negative) आदर्श नहीं हो सकता। हमें क्या नहीं करना चाहिए यह तो क्या करना चाहिए के विचार से ही निश्चित होना है। अत क्या करना चाहिए (आदर्श) एक विधायक प्रत्यय का विचार है। इस प्रकार वह जो आदर्श की प्राप्ति मे सहायक हो उसका विधायक (positive) मूल्य है। जो आदर्श प्राप्ति की बाधक वस्तु है उसका विघातक (negative) मूल्य है। उच्चतम शुभ (Highest good) का उच्चतम विधायक मूल्य होता है।

(ग) स्थायी और अस्थायी मूल्य
(Permanent and Transient Value)

कुछ पदार्थों से हमें क्षणिक सुख मिलता है। उनका अस्थायी मूल्य है। इन्द्रियजन्य सुखों का अस्थायी मूल्य है। पर बुद्धि के द्वारा प्राप्त आनन्द अपेक्षाकृत स्थायी होता है। उसका स्थायी मूल्य है।

(घ) उत्पादक और अनोत्पादक मूल्य।
(Productive and Unproductive Value)

बहुत से पदार्थ हैं जिनका प्रयोग में ही शेष हो जाता है। जितना उनका प्रयोग हो उतना ही वे घटते जाते हैं, जैसे, सम्पत्ति आदि भौतिक पदार्थ। इनका अनोत्पादक मूल्य है। पर कुछ ऐसे भी वस्तु हैं जिनका वितरण होने से वृद्धि होती है, जैसे, ज्ञान। इनका उत्पादक मूल्य है।

मानवीय मूल्यों की सूची और उनका क्रम (Order)

मूल्य का अर्थ जान लेने के बाद हमें यह भी जान लेना चाहिए कि (i) मानवीय मूल्य कितने हैं और (ii) उनका क्या क्रम होना चाहिए। आत्म-पूर्णता किसी एक कर्म द्वारा प्राप्त नहीं होता। मनुष्य आजीवन कर्म करता रहता है। कर्म करने का अर्थ है भिन्न वस्तुओं को प्राप्त करने की इच्छा करना। अतः हमें यह जानना चाहिए कि संसार के प्रत्येक पदार्थ का मूल्य होगा और उनमें चरम आदर्श की दृष्टि से, किसका कम और किसका अधिक मूल्य होना चाहिए। मान लें हमें परीक्षा देने और सिनेमा देखने में कोई एक करना है तो किसका मूल्य अधिक है? यदि इसी प्रकार सम्पूर्ण पदार्थों का मूल्य निर्धारित कर लिया जाय तो हमारा नैतिक पथ स्पष्ट हो जायगा।

मानवीय मूल्यों की सूची—संसार के प्रत्येक पदार्थ जिनकी हम इच्छा करते हैं अर्थात् मानवीय मूल्यों का अर्बन ने आठ प्रकार माना है :—

(१) शारीरिक मूल्य (Bodily Value)—जिससे शारीरिक आवश्यकताओं की पूर्ति होती है, अन्न, भोजन आदि।

(२) आर्थिक मूल्य (Economic Value)—धन, सम्पत्ति, आदि।

(३) मनोरंजन का मूल्य (Value of Recreation)—खेल आदि मन लगाने की सभी वस्तुएं।

(४) साहचर्य का मूल्य (Value of Association)—मित्रता आदि।

(५) चारित्रिक मूल्य (Character Value)—सच्चाई, ईमानदारी आदि।

(६) सौंदर्य-सम्बन्धी मूल्य (Aesthetic Value)—कला, सुन्दरता, चित्रकारी आदि।

(७) बौद्धिक-मूल्य (Intellectual Value)—ज्ञान।

(८) धार्मिक मूल्य (Religious Valuc)—ईश्वर, आत्मा, आदि।

ऊपर के वर्गीकरण मे सारे मानवीय मूल्य चले आते हैं। मनुष्य के सभी कर्म इसके अन्दर हैं। वह जिस वस्तु को भी चाहता हो उसका मूल्य इसमें अवश्य होगा। अब, इन मूल्यों मे कोई व्यक्ति एक मूल्य का अधिक महत्त्व देता है, दूसरा किसी अन्य का। इसलिए, साधारणत किस क्रम (order) मे इनका महत्त्व है, पहले यह देखना चाहिए।

इन मूल्यों मे शारीरिक, आर्थिक और मनोरजन के मूल्य से शारीरिक आवश्यकताओ की पूर्त्ति होती है। इनसे हमारी 'शारीरिक-अह' (bodily self) की तुष्टि होती है। अत इन्हे शारीरिक मूल्य (Bodily Value) कहा जा सकता है। चारित्रिक और साहचर्य के मूल्य से हमारी सामाजिक आवश्यकताओ की पूर्ति होती है। इनसे हमारी 'सामाजिक-अह' सिद्ध होती है। अत इन्हें सामाजिक मूल्य (Value of Sociality) कहा जा सकता है। सौंदर्य-सम्बन्धी, बौद्धिक और धार्मिक मूल्य एक साथ रखे जा सकते हैं। उनसे हमारी आध्यात्मिक-

अह की आकांक्षाएं तृप्त होती हैं। अत उन्हें आध्यात्मिक-मूल्य (Spiritual Value) कहते हैं।

इस प्रकार मूल्य तीन हुए :—

(१) शारीरिक मूल्य ((Bodily Value)
(२) सामाजिक मूल्य (Value of Sociality)
(३) आध्यात्मिक मूल्य (Spiritual Value)

फिर इन तीनो को भी दो ही वर्गों मे रखा जा सकता है—जैविक-मूल्य (Organic Value) और अति-जैविक-मूल्य (Hyper-organic Value) मे। जैविक-मूल्य वह है जो जीवन की रक्षा का साधक हो। अतः शारीरिक मूल्य जैविक (organic हैं। जो सामाजिक तथा आध्यात्मिक अर्थात् मनुष्य के शरीर से उच्च प्रकृति को तृप्त करते हो वे अति-जैविक मूल्य हैं। इसलिए इसमें सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य हैं।
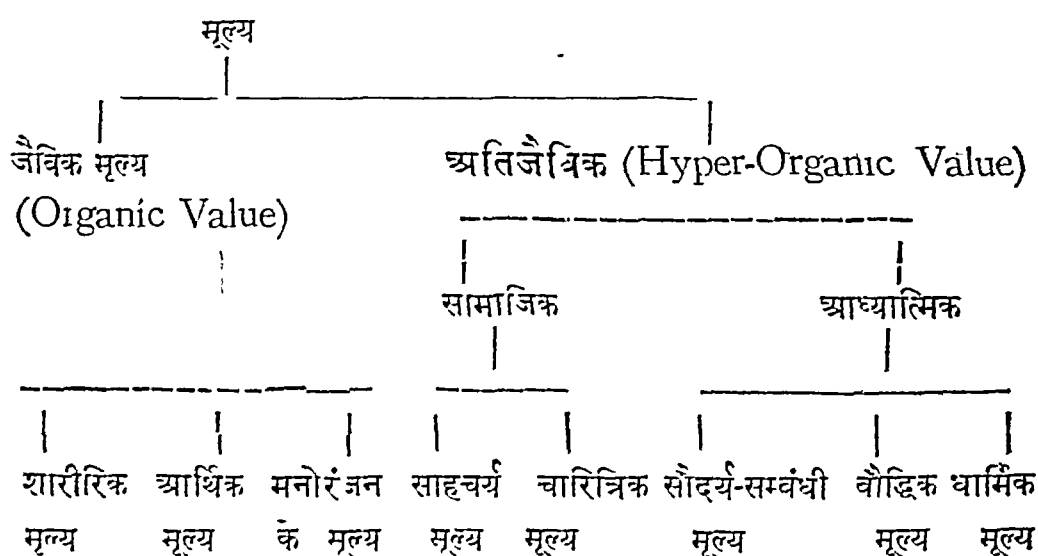
साधारणत शारीरिक और आर्थिक मूल्य बहुत ही आवश्यक माने जाते हैं। यदि अन्न न मिले या पैसे नहीं हों तो मनुष्य का जीना सम्भव नहीं है। इसलिए जीवन के लिए इनका प्रथम महत्व है। अन्य मूल्य इस दृष्टि से कम महत्वपूर्ण हैं। यदि किसी से मित्रता न हो, या चरित्र खराब हो तो कम से कम

वह जी तो अवश्य ही सकता है। पर महत्व की दृष्टि से क्रम उल्टा हो जाता है। मनुष्य के उच्चतर स्वभाव और उसकी आवश्यकताओं की पूर्ति के लिए सबसे महत्वपूर्ण धार्मिक, तब बौद्धिक, तब सौंदर्य-सम्बन्धी मूल्य हैं। इस प्रकार क्रम उल्टा हो जाता है। इसलिए प्रश्न यह है कि मूल्य का महत्व किस दृष्टिकोण से माना जाय—'जीवन की रक्षा के दृष्टिकोण से' या 'अच्छे जीवन के दृष्टिकोण से'?

जैविक मूल्य से जीवन की रक्षा और वृद्धि होती है। अत, इस दृष्टि से वे आवश्यक और महत्वपूर्ण हैं। पर उनका साधक मूल्य है। वे स्वतः मूल्यवान नहीं हैं। अन्न, कपड़ा, घर, सम्पत्ति, आदि का मूल्य साधन के रूप में है। वे मूल्यवान इसलिए हैं कि उनसे अन्य साध्यों को प्राप्ति होती है। क्रीडा, आदि (मनोरंजन के मूल्य) भी इसलिए मूल्यवान हैं कि उनसे अन्य लक्ष्यों की पूर्ति होती है। इसलिए ये तीनों, शारीरिक, आर्थिक, मनोरंजन-सम्बंधी मूल्य, साधक हैं और इनका मूल्य इसलिए है कि उनसे जीवन मात्र की रक्षा होती है। पर जीवन स्वयं अच्छे जीवन का साधन है। इसलिए जैविक-मूल्य सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य का साधन है। इनसे आत्मपूर्णता कम मात्रा में प्राप्त होती है क्योंकि मनुष्य एक जीव मात्र नहीं, सामाजिक और विवेकशील जीव है। पर इसका यह अर्थ नहीं लगाना चाहिए कि जैविक मूल्य बेकार है। यदि मनुष्य भूखा हो या उसमें प्राण रहे ही नहीं तो आत्मपूर्णता का प्रश्न ही नहीं उठता। इसलिए अन्य मूल्यों का यह आधार है। आत्मपूर्णता की दृष्टि से अलबत्ता अन्य मूल्यों से इसका महत्व कम है।

चारित्रिक और साहचर्य-मूल्य—शारीरिक मूल्य से जीवन की रक्षा होती है। वे जीवन की रक्षा के लिए आवश्यक हैं। सामाजिक मूल्य भी आवश्यक हैं। मनुष्य सामाजिक जीव है। अत यह भी उसकी प्रकृति की माग के अनुकूल है। आध्यात्मिक मूल्य का भी अपना महत्व है। मनुष्य विवेकशील सामाजिक जीव है। उसमें विवेक आवश्यक ही नहीं बल्कि वही उसको व्यक्तित्व प्रदान करता है। अत आध्यात्मिक मूल्य मनुष्य की उच्चतम प्रकृति की माग के

अनुकूल है। यह तात्त्विक (intrinsic) मूल्य भी है और साधक भी। सहकारित्व, मैत्री, प्रेम, आदि और साहस, संयम, आदि, साहचर्य और चारित्रिक मूल्य स्वतः मूल्यवान हैं और साथ-साथ वे अन्य लक्ष्यों की प्राप्ति के लिए साधन भी हैं। अतः वे जैविक मूल्य से श्रेष्ठ हैं। उनसे मनुष्य की सामाजिक प्रकृति की आवश्यकताएं तृप्त होती हैं। अत. इन्हें प्राप्त करना भी आत्म-पूर्णता के लिए आवश्यक है। उन्हें भी आध्यात्मिक मूल्य कहा जा सकता है क्योंकि वे जैविक अर्थात् जीवन की रक्षा मात्र के साधन नहीं हैं। पर वास्तव में सौंदर्य-सम्बन्धी, बौद्धिक तथा धार्मिक मूल्य को ही आध्यात्मिक मूल्य कहा जाता है।

आध्यात्मिक मूल्यों मे बौद्धिक मूल्य बहुत शीघ्र ही ग्राह्य है। ज्ञान का बौद्धिक मूल्य है। ज्ञान साधक मूल्य भी है और तात्त्विक भी। ज्ञानोपार्जन से मनुष्य को अच्छी नौकरी या अन्य कार्य मिल जाते हैं, फलस्वरूप शारीरिक और आर्थिक मूल्यों के लिए वह साधन हो जाता है। इससे सामाजिक मूल्य भी प्राप्त होता है। ज्ञानशील होने पर मनुष्य की अहं भावना समाप्त हो जाती है और मनुष्य समाज के सदस्यों से मैत्री, सहानुभूति आदि की भावना रखता है। इसके अतिरिक्त ज्ञान से चरित्र भी शुद्ध होता है और मनुष्य साहस, शील आदि धर्म अर्जित करता है। पर ज्ञान का मूल्य स्वतः भी है। इससे मनुष्य की बुद्धि को सन्तोष मिलता है। आत्मपूर्णता की यह एक शर्त है। बिना बुद्धि के विकास के आत्म-पूर्णता हम कैसे प्राप्त कर सकते हैं? सौन्दर्य-सम्बन्धी मूल्य उतना ग्राह्य नहीं है। यह सभी मनुष्य मे भिन्न मात्रा या अंशों मे वर्तमान रहता है। मनुष्य एक चादर ही नहीं चाहता अपितु एक सुन्दर चादर चाहता है। चूंकि यह मनुष्य में सहज रूप मे वर्तमान है, अत· सम्पूर्ण आत्मपूर्णता के लिए यह आवश्यक है। यह तात्त्विक मूल्य है। इससे किसी साध्य की प्राप्ति नही होती। सम्पूर्ण आत्मपूर्णता का अर्थ है मनुष्य की सारी प्रवृत्तियां, शक्तियां, जन्मजात प्रवृत्तिया, इच्छाओं और बुद्धि का विकास। इसके लिए धार्मिक मूल्य

सबसे अधिक महत्त्वपूर्ण है। हर मनुष्य को पूर्णता प्राप्त करने की प्रवृत्ति रहती है। यह प्रवृत्ति मनुष्य के उच्चतम स्वभाव (highest nature, विवेकशीलता से निकलती है। मनुष्य की इस प्रवृत्ति को तृप्ति धार्मिक मूल्य से होती है। धर्म में मनुष्य पूर्ण को ही आदर्श बनाता है, जैसे, ईश्वर आदि को। इसलिए मनुष्य की आत्मसिद्धि के लिये यह सबसे महत्वपूर्ण है। इसका तात्त्विक मूल्य है। इस बात का ध्यान रखना चाहिए कि कोई मूल्य तात्त्विक है या साधक यह उसके अर्थ ही पर निर्भर है।

मूल्य का वर्गीकरण और उनका क्रम जान लेने के बाद हमें यह देखना चाहिए कि मूल्य को किस आधार पर चुनना चाहिए।

मूल्य के नियम या आदर्श (Laws or Norms of Value)

मनुष्य अपनी तृप्ति चाहता है। उसमें जीव होने के नाते इच्छाएं उत्पन्न होती हैं। उसमें कुछ इच्छाएं सामाजिक होने के नाते उत्पन्न होती हैं और कुछ आकांक्षाएं विवेकशील अर्थात् आध्यात्मिक होने के कारण हैं। इसलिए 'अपनी तृप्ति' का अर्थ है सम्पूर्ण इच्छाओं और आकांक्षाओं की तृप्ति। इसे ही आत्मसिद्धि कहा जाता है। आत्मसिद्धि किसी एक कर्म के करने से प्राप्त नहीं होती। इससे तो केवल उस दिशा का ज्ञान होता है जिस ओर हमें बढ़ना चाहिए। इस रास्ते पर कम महत्तावाले मूल्य उच्च महत्तावाले मूल्य के बीच कभी-कभी अन्तरद्वन्द्व हो जाता है। इसमें कम मूल्यवाले का बलिदान (त्याग) आवश्यक है। जहा कहीं भी हमें 'यह करें या वह करें' के बीच चुनना हो तो निम्न मूल्यवाले का त्याग या बलिदान कर देना आवश्यक है, नहीं तो हमारी उच्चतम प्रकृति तृप्त नहीं होगी। इसलिए प्रश्न है कि कर्मों के पसन्द (preference) में किस नियम या आदर्श से काम लेना चाहिए जिसमें उद्देश्य (आत्मपूर्णता) की सिद्धि हो। इसे ही मूल्य के संगठन का सिद्धान्त (Principles of organisation of value) कहा जाता है। ये सिद्धान्त तीन हैं —

(१) तात्त्विक मूल्य (Intrinsic value) साधक मूल्य (Instrumental value) से उत्कृष्ट माने जाते हैं।

(२) स्थायी मूल्य (Permanent value) अस्थायी मूल्य (Transient value) से उत्कृष्ट माने जाते हैं।

(३) उत्पादक मूल्य (Productive value) अनोत्पादक मूल्य (Unproductive value) से उत्कृष्ट माने जाते हैं।

ये तीनों सिद्धान्त व्यावहारिक और सहज हैं। हम अपनी साधारण क्रियाओं में इन्हीं का प्रयोग करते हैं। जिस लक्ष्य के लिए कोई क्रिया की जा रही है वह क्रिया से अधिक महत्वपूर्ण है। मूल्यांकन के सभी सिद्धान्तों में इन्हीं का प्रयोग होता है। शारीरिक, आर्थिक और मनोरंजन-सम्बन्धी मूल्य साधक-मूल्य हैं। वे स्वतः मूल्यवान नहीं हैं। वे अन्य लक्ष्यों की पूर्ति के साधन मात्र हैं। हम जीने के लिए खाते हैं, खाने के लिए नहीं जीते। यदि खाने के लिए ही मनुष्य जीता तो उसमें और पशुओं में क्या भेद होता? सामाजिक मूल्य, साहचर्य और चारित्रिक मूल्य, तात्विक मूल्य भी हैं और साधक भी। वे स्वतः मूल्यवान हैं और उनसे अन्य लक्ष्यों की पूर्ति भी होती है। आध्यात्मिक मूल्य में बौद्धिक मूल्य, तात्त्विक और साधक दोनों हैं। पर सौन्दर्य-सम्बन्धी तथा धार्मिक मूल्य तात्त्विक हैं। वे स्वतः मूल्यवान हैं। इसलिए पहले नियम के अनुसार आध्यात्मिक मूल्य उच्चतम है। सामाजिक-मूल्य उससे गौण है और जैविक-मूल्य सबसे निम्न कोटि का। दूसरा सिद्धान्त भी जैविक मूल्य के गौण धर्म को स्पष्ट कर देता है। शारीरिक-मूल्य से हमें अल्पस्थायी अर्थात् क्षणिक सुख मिलता है पर बौद्धिक क्रियाएं हमें चिरस्थायी आनन्द देती हैं। इन्द्रियां शीघ्र ही श्रान्त हो जाती हैं और सुख के साथ बार-बार आनेवाली उत्तेजना बन्द हो जाती है। बौद्धिक क्रियाएं टिकाऊ होती हैं। इसलिए सामाजिक और आध्यात्मिक मूल्य स्थायी हैं। इसलिए दूसरे नियम के अनुसार भी आध्यात्मिक मूल्य उच्चतम और जैविक गौण हैं।

शारीरिक मूल्य अनोत्पादक होता है। उनके प्रयोग से उनका अन्त हो जाता है। अन्न का प्रयोग करें वह समाप्त हो जायगा। पर सामाजिक या आध्यामित्क मूल्य, जैसे, साहस, मैत्री, ज्ञान, सौंदर्य, धर्म आदि का प्रयोग होने से उनकी वृद्धि होती है। इनके बाटने से इनका भण्डार घटता नही बढ़ता ही है। ज्ञान दान दें, ज्ञान बढ़ेगा, घटेगा नहीं। धार्मिक आचरण करें, धर्म बढ़ेगा, घटेगा नहीं। ये वैयक्तिक नहीं है। ये किसी व्यक्ति की सम्पत्ति नही है। ये व्यक्ति और देश की सीमाओं के परे हैं। जितना वे सार्वजनिक होगें उतनी उनकी वृद्धि होती है। वे उत्पादक मूल्य हैं। इसलिए तीसरे सिद्धान्त के अनुसार भी शारीरिक मूल्य का गौण धर्म और आध्यात्मिक मूल्य का उत्कृष्ट धर्म स्पष्ट हो जाता है।

इन सिद्धान्तों से यह स्पष्ट हो जाता है कि शारीरिक मूल्य, सामाजिक मूल्य की अपेक्षा गौण है। सामाजिक मूल्य भी आध्यात्मिक मूल्य की अपेक्षा गौण हैं।

उपर्युक्त विवेचना से यही निष्कर्ष निकलता है कि गौण और मुख्य मूल्य मे हमे मुख्य मूल्यो को अपनाना चाहिए। जहा कोई मानसिक द्वन्द्व हो वहा कर्मों का इसी सिद्धान्त के अनुसार मूल्याकन कर, श्रेयस्कर मूल्यों का पालन करना चाहिए।

प्रत्येक मूल्य से मनुष्य की आत्मा तृप्त होती है। पर निम्न कोटि के मूल्य से केवल हीन स्वभाव या आत्मा की ही तृप्ति होती है, अत. उनसे अधिक मात्रा में आत्म-सिद्धि नहीं होती। श्रेयस्कर मूल्यों से मनुष्य का उच्चतर स्वभाव या आत्मा तृप्त होता है, अत उनसे आत्म-सिद्धि अधिक मात्रा मे होती है। इससे यह स्पष्ट है कि शारीरिक मूल्यो को भी बेकार या महत्वहीन नहीं माना जा सकता। आत्मसिद्धि सभी से होती है, किसी से कम, किसी से अधिक। शारीरिक मूल्य भी आवश्यक हैं। कभी-कभी तो उनका मूल्य आध्यात्मिक मूल्य से भी बढ जाता है। किसी भूख से मरते हुए मनुष्य के लिए शारीरिक

गौण की ही प्रधानता दी जाय तो वह आचरण अशुभ है। पर इस सिद्धान्त का प्रयोग समझ कर करना चाहिये। कभी-कभी गौण मूल्य भी मुख्य या महत्वपूर्ण हो जाता है और महत्वपूर्ण मूल्य, गौण। यदि किसी निर्दोष को चोरों से बचाना है और उस मौके पर झूठ बोलना पड़े तो यह शुभ कर्म होगा। यहां सत्य चारित्रिक मूल्य है और इसे निकृष्ट मूल्य के लिए छोड़ देना पड़ता है। अतः कर्मों के मूल्यांकन में परिस्थितियों का ध्यान रखना आवश्यक है। कोई भी कर्म स्वतः खराब या अच्छा नहीं होता। जीवन की प्रत्येक क्रिया स्वतः नीति-शून्य है। दूसरी क्रियाओं के सम्बन्ध में वे शुभ या अशुभ होती हैं। यौनि-सम्बन्ध स्वयं बुरा नहीं है पर अन्य क्रियाओं की तुलना में यह निकृष्ट है। उत्कृट मूल्य हो और इसमें यदि यही चुना जाय तब यह कर्म बुरा होगा। यह मत नैतिक-तटस्थतावाद (thical Neutralism) भी कहा जा सकता है।

समालोचना

(1) यह मत आत्मपूर्णतावाद का पूरक है। कैसे कर्मों से पूर्णता प्राप्त होगी, इसे यह मत स्पष्ट कर देता है।

(11) नैतिकता के व्यवहारिक समस्याओं को यह सुलझा देता है। किसी भी आदर्श को मान लेने पर यह कठिनाई हमारे सामने रह जाती है कि कैसे आचरण से वह आदर्श प्राप्त होगा। पर इसमें जो नियम बताए गए हैं उनसे यह कठिनाई बहुत अशों में दूर हो जाती है। हमें क्या करना चाहिए अर्थात् कर्त्तव्य-ज्ञान, हमें क्या रखना चाहिए अर्थात् अधिकार-ज्ञान और हमें क्या होना चाहिए अर्थात् धर्म ज्ञान, इससे स्पष्ट हो जाता है।

उपसंहार

भिन्न मापदंडो की आलोचनाओं से यह निष्कर्ष निकाला जा सकता है कि वे मनुष्य को गलत राह पर ले जाते हैं। पर ऐसा निष्कर्ष निकालना भूल है। वास्तविकता तो यह है कि सब में सत्य का अंश मिलता है।

बाह्य नियमवाद—बाह्य नियम नैतिकता का चरम मापदंड नही हो सकता, यह सत्य है। ऊपर से लादा गया जीवन का आदर्श किसी भी विवेकशील व्यक्ति को मान्य नही होगा। यदि व्यावहारिक दृष्टिकोण से देखा जाय तो सभी मनुष्य पूर्णत· विवेकशील नहीं होते। उनकी अन्तरात्मा या विवेक-शक्ति इतनी विकसित नहीं रहती कि वे सही-सही भले और बुरे का ज्ञान स्वयं प्राप्त कर लें। अतः उनके लिए जटिल परिस्थितियो मे बाह्य आदेश ही उपयुक्त होता है। फिर, मनुष्य सामाजिक है, अत समाज, धर्म, राज्य आदि के नियम का पालन नीति-विरुद्ध नही कहा जा सकता। इसके अतिरिक्त नैतिक चेतना का विकास जन्म के समय ही नहीं हो जाता। जब तक यह चेतना विकसित नही हो जाती, बाह्य आदेश ही कर्मों के निर्णय मे काम देते हैं। अत एक सीमा के अन्दर बाह्य नियम भी नैतिक आदर्श के रूप मे सत्य हैं।

अन्तःअनभूतिवाद—इसका सिद्धान्त भी अशत मान्य है। नैतिकता बाह्य सत्ताओ की इच्छा पर निर्भर नहीं माना जा सकता है, यह सत्य है। इसके अतिरिक्त यह भी सत्य है कि मनुष्य के परिमार्जित अन्त करण उसे भले और बुरे का सही ज्ञान प्रदान करते हैं। पर अन्त करण के आदेशो को अन्तिम मान लेना भूल है।

बुद्धिवाद—कान्ट का यह मत कि वासनाओ और कामनाओं का दमन नैतिकता के लिए आवश्यक है, भ्रान्तियुक्त है। पर उसने यह ठीक ही कहा है कि विवेक मनुष्य की उच्चतम शक्ति है और उसके आदेशो का पालन आवश्यक है। इसके अतिरिक्त उसने यह भी ठीक ही बतलाया है कि कर्त्तव्य को कर्त्तव्य समझ कर करना चाहिए, सुख के लिए नहीं?

सुखवाद—जितनी आपत्तिया सुखवाद के विरुद्ध की जाती हैं उतनी किसी के विरुद्ध नहीं। पर इस मत में भी सत्य का अश है। बुद्धिवाद में नैतिकता का कोई कारण नहीं बताया जाता पर सुखवाद मे नैतिकता का कारण बतलाया गया है। कोई कर्म इसीलिए शुभ है कि उससे सुख मिलता है। दूसरी बात यह

है कि अन्य पूर्व मापदंडो की भांति भावना को यह नैतिक जीवन से निकाल नहीं देता बल्कि उसको उच्चतम स्थान देता है। इसमें अतियुक्ति यही है कि भावना को ही इसमें श्रेष्ठता दी गई है।

स्वार्थसुखवाद--इसमें भी सत्य का अंश यह है कि नैतिक कर्मों से व्यक्ति को आनन्द की अनुभूति होती है। परार्थवाद से सत्य का अंश यह है कि व्यक्ति को अपने शुभ के लिए अन्य को विरोधी नहीं मानना चाहिए। सामान्य शुभ ही मनुष्य का आदर्श होना चाहिए।

आत्मपूर्णतावाद—इसमें सभी मतों का समन्वय स्थापित हो जाता है। इसमें यह ठीक ही बतलाया गया है कि मनुष्य का चरम आदर्श पूर्णता प्राप्त करना ही होना चाहिए। यह आदर्श आत्म-सिद्धि से ही प्राप्त होना है। आत्म-सिद्धि मनुष्य की प्रत्येक शक्तियों के विकास में है। अतः कामनाओं का दमन नहीं, बुद्धि द्वारा उनका नियन्त्रण होना चाहिए। व्यक्तिगत शुभ और सामान्य शुभ में विरोध नहीं है। नैतिक आदर्श प्राप्त कर लेने पर व्यक्ति को आनन्द की अनुभूति होती है। पर यह मत भी व्यावहारिक दृष्टि से अस्पष्ट है। उच्चतम आदर्श अर्थात् पूर्णता की प्राप्ति के लिए कौन सा कर्म करना चाहिए ?

मूल्यवाद–इससे आत्मपूर्णतावाद की अस्पष्टता दूर हो जाती है। इसमें कर्मों के मूल्य मापने का स्पष्ट सिद्धान्त बतलाया गया है।

इस प्रकार सभी मतों में सत्य का अंश मिलता है।

Typical Questions

1. Explain the meaning of Value What are the different values of life ?

2 Explain the principles of the organisation of values

3. Explain the chief features of Value as the standard of morality

4 Distinguish between Intrinsic and Instrumental Value Positive and Negative Values

5 Has the highest good the highest value? Explain

6 What contributions have the different theories made to the solution of the ethical problem? Explain briefly

7. Each of the principal ethical theories has contributed some valuable element to the whole of ethical thought! Explain

---

पन्द्रहवाँ परिच्छेद

नैतिक दायित्व (Moral Obligation)

उचित कर्मों की ओर मनुष्य का दायित्व है। जिन कर्मों को हम उचित जानते हैं उनका आचरण हमारा दायित्व हो जाता है। हमें वैसे कर्मों को करना चाहिए। 'चाहिए' की भावना ही दायित्व है। उचितता के साथ चाहिए या दायित्व लगा हुआ है। यदि ऐसा न हो तो उचितता का कोई अर्थ ही नही हो। अब हमे यह विचारना है कि 'दायित्व' का स्वरूप क्या है। क्यो उचित कर्मों में दायित्व है अर्थात् उचित कर्मों को क्यो करना 'चाहिए'? इसके विषय में भिन्न विचार हैं।

वैधानिक मत (Legal Theories)–इस मत के अनुसार 'चाहिए' की भावना वाह्य आदेशो से उत्पन्न होती है? ये आदेश राज्य के समाज के या ईश्वर के हो सकते हैं। वे नैतिक नियमो को दण्ड का भय और पुरस्कार के प्रलोभनों से हम पर लागू करते हैं। अत 'चाहिए' की भावना हममे डर और प्रलोभन से उत्पन्न होती है।

उपरोक्त मत अमान्य है। यदि डर और प्रलोभन से चाहिए की भावना उत्पन्न होती है, तो उससे हमारा चरित्र व्यक्त नहीं होता। अत 'चाहिए' या 'दायित्व' की भावना का मूल स्रोत वाह्य सत्ता नहीं हो सकता।

अन्त:अनुभूतिवाद (Intuitionism)—इस मत के अनुसार कर्मों के नैतिक गुण (उचितता-अनुचितता) कर्मों मे ही निहीत रहते हैं और उनका ज्ञान अन्त करण के द्वारा होता है। उचितता मे ही दायित्व लगा हुआ है। कोई कर्म उचित है इसीलिए उसे करना भी चाहिए। चाहिए का स्रोत कोई वाह्य नियम नहीं है। उचितता और 'दायित्व या चाहिए' एक ही तत्त्व के दो पहलू हैं। कोई कर्म उचित है इसीलिए उसका पालन हमारा दायित्व है। यह दायित्व या

चाहिए की भावना डर, प्रलोभन या स्वार्थ की पूर्ति आदि विचार से उत्पन्न नहीं होती। दायित्व नैतिक भावनाओं के द्वारा व्यक्त होता है। अन्तःकरण जिन-जिन कर्मों को उचित बताता है उसके प्रति हमारा झुकाव होने लगता है। इस-लिए दायित्व का आधार अन्त करण है। पर मार्टीन्यू ने बतलाया है कि चाहिए की भावना केवल कर्मों की उचितता से नहीं बल्कि ईश्वर के आदेशों के कारण उत्पन्न होती है।

उपरोक्त मत वैधानिक मत से तो अवश्य ही श्रेष्ठ है पर यह दायित्व की भावना की पूर्ण व्याख्या नहीं करता। कर्मों के उचित होने से ही हममें करना चाहिए की भावना क्यों हो जाती है, इसका उत्तर नहीं मिलता। मार्टीन्यू का विचार तो वैधानिक मत से मिलता जुलता है, अतः कुछ अंशों में इसके दोष उनके मत मे भी है।

सुखवाद (Hedonism)—सुखवाद के दो रूप हैं, स्वार्थमूलक (Egoistic) और परार्थमूलक (Altruistic)। दायित्व के विषय मे दोनों में भिन्न विचार हैं।

स्वार्थमूलक सुखवाद (Egoistic Hedonism)—इस मत के अनुसार वैसे ही कर्म उचित हैं जिनसे स्वार्थ-सुख की प्राप्ति होती है। उचित कर्मों को अवश्य करना चाहिए। 'करना चाहिय या दायित्व' की भावना स्वार्थ-प्रेम के कारण उत्पन्न होती है। उचित कर्मों की ओर हम इसीलिए प्रेरित होते हैं कि वैसे कर्मों से स्वार्थ-सिद्धि होती है। परोपकार, दया, सहानुभूति आदि के आच-रण मे भी स्वार्थ-सुख प्राप्ति के लक्ष्य से ही प्रेरणा मिलती है। इसलिए नैतिक दायित्व का स्रोत स्वार्थ-प्रेम है।

उपरोक्त मत अमान्य है क्योंकि मनुष्य केवल स्वार्थी नहीं होता। अतः ऐसा विचारना कि स्वार्थ-प्रेम की भावना से ही 'उचित कर्मों को करना चाहिए' की भावना उदय होती है, भूल है।

परार्थमूलक सुखवाद (Altruistic Hedonism)—इस मत के अनुसार मनुष्य में सहानुभूति या सामाजिक भावना विद्यमान है। वैसे कर्म जिनसे सामान्य सुख प्राप्त हो, उचित हैं। अत· उचित कर्मों की ओर 'करना चाहिय (दायित्व)' की

भावना इसीसे होती है कि हममें सामाजिक भावना वर्तमान है। अतः दायित्व का स्रोत मनुष्य की सामाजिक भावना है। हम इसीलिए उचित कर्मों मे दायित्व महसूस करते हैं कि उचित कर्मों के पालन से ही हमारी सामाजिक भावना की तुष्टि होती है।

परार्थवाद में भी दोष हैं। सुखवाद का शुद्ध रूप वास्तव में परार्थवाद हो ही नहीं सकता। इस सम्बन्ध में मिल के मत की आलोचना सुखवाद परिच्छेद में देखे।

आदर्शवाद (Idealistic theories)—आत्मपूर्णतावाद (Perfect-ionisim)—इस मत के अनुसार वैसे ही कर्म उचित हैं जिनसे आत्म-सिद्धि या आत्मपूर्णता प्राप्त होती है। इसलिए उचित कर्मों का पालन इसीलिए आवश्यक हो जाता है कि उनके द्वारा आत्मसिद्धि की प्राप्ति होती है। आत्मसिद्धि की भावना मनुष्य मे निहीत है। मनुष्य अपनी प्रकृति की सिद्धि चाहता है। अतः आत्मपूर्णता की भावना से, जो मनुष्य का स्वभाव है, 'उचित कर्मों को करना चाहिये' की भावना की उत्पत्ति होती है। नैतिक दायित्व का मूल स्रोत मनुष्य की अपनी आध्यात्मिक प्रकृति है। इसलिए उचित कर्मों के लिए वाह्य आदेश नहीं वल्कि अपना अपने पर आदेश ही मनुष्य को प्रेरित करता है।

मनुष्य सीमित तथा अपूर्ण है। अत उसकी आन्तरिक आकांक्षा तथा चेष्टाएं आत्मपूर्णता की ओर लगी हुई हैं। यही उसकी प्रकृति है। उचित कर्मों से आत्मपूर्णता की प्राप्ति होती है अत उसके पालन के लिए अपनी प्रकृति से ही वाध्यता या दायित्व महसूस करता है। मैकेंजी ने ठीक ही कहा है कि दायित्व कोई वाह्य आदेश नहीं है वल्कि वास्तविक आत्मा अर्थात् मनुष्य की वास्तविक प्रकृति या स्वभाव की ध्वनि है। अन्तरात्मा की ध्वनि यही है कि अपूर्ण आत्मा वास्तविक आत्मा नही है। पूर्णता हमारी वास्तविक प्रकृति है। अत कर्त्तव्य का आदेश है कि हम अपनी वास्तविकता को प्राप्त करें (to thine own self be true) अर्थात् वैसे कर्म करें जिनसे पूर्णता प्राप्त हो। इसी अर्थ में यह कहा जाता है कि मनुष्य नैतिक नियमों से वधा है। अत नैतिक दायित्व आत्मआदिष्ट (self-imposed) है। दायित्व का आधार मनुष्य की वास्तविक प्रकृति है।

Exercises

1 Explain the nature and ground of Moral obligation

2. Discuss the various theories of the source of moral obligation.

3. What is meant by moral obligation ? What is the true seat of moral authority ?

सोलहवाँ परिच्छेद

अधिकार, कर्त्तव्य तथा सद्गुण (Right, Duty and Virtue)

१. अधिकार (Rights) और कर्त्तव्य (Duties)

✓ जो हमें करना चाहिए, वही हमारा कर्त्तव्य है। अत: हम कर्त्तव्य से बंधे हुए हैं। यह एक प्रकार का नैतिक-ऋण है, जो हमें चुकाना है। यह ऋण अपने प्रति या अन्य व्यक्तियों के प्रति अर्थात् कर्त्तव्य अपने प्रति या अन्य व्यक्तियों के प्रति होता है। जो कर्त्तव्य हमारा अन्य व्यक्तियों के प्रति है, वही उनकी हमसे माग है। उसे पाना उनका हक है। इसे ही अधिकार कहते हैं। अतः अधिकार नैतिक मागें हैं। जो हमारा अन्य के प्रति कर्त्तव्य है वही उनका अधिकार है और इसी प्रकार जो उनका कर्त्तव्य है वह हमारा अधिकार है। अधिकार और कर्त्तव्य सापेक्ष हैं।

अधिकार और कर्त्तव्य व्यक्तियों के सम्बन्धों पर निर्भर हैं अर्थात् समाज पर। अधिकार और कर्त्तव्य, दोनों समाज द्वारा स्वीकृत हैं। स्वयं किसी व्यक्ति को समाज से अलग कोई अधिकार नहीं है। समाज ही उसे कुछ अधिकार प्रदान करता है। सामाजिक अन्तःकरण या जनमत ही अधिकारों की रक्षा करता है। सामाजिक-हित और उसी के अन्तर्गत वैयक्तिक हित के लिए ही कर्त्तव्य और अधिकार हैं। इस प्रकार कर्त्तव्य और अधिकार सदैव समाज के आपेक्षिक हैं।

समाज में भिन्न व्यक्ति होते हैं और उनसे भिन्न सम्बन्ध होते हैं, अत. व्यक्ति के कर्त्तव्य और अधिकार भी भिन्न-भिन्न हैं।

मनुष्य के अधिकार

किसी व्यक्ति के निम्नलिखित अधिकार हैं —

(१) जीने का अधिकार

(२) स्वतंत्रता का अधिकार

(३) सम्पत्ति का अधिकार

(४) समझौता का अधिकार

(५) शिक्षा का अधिकार

वास्तव में आत्मरक्षा और आत्मविकास ही सबसे मौलिक और सामान्य अधिकार है। स्वतंत्रता, सम्पत्ति, समझौता तथा शिक्षा आत्मविकास के ही साधन हैं। अत. मौलिक अधिकार ये दो ही हैं—आत्मरक्षा और आत्मविकास।

मनुष्य के कर्त्तव्य

अधिकार का सम्बन्ध कर्त्तव्य से है। यदि मनुष्य के निश्चित अधिकार हैं तो उसके निश्चित कर्त्तव्य भी हैं। मनुष्य के निम्नलिखित कर्त्तव्य हैं :—

(१) जीवन का सम्मान

(२) स्वतंत्रता का सम्मान

(३) सम्पत्ति का सम्मान

(४) चरित्र का सम्मान

(५) सत्य का सम्मान

(६) सामाजिक व्यवस्था का सम्मान

(७) प्रगति का सम्मान

मनुष्य के उपरोक्त सभी कर्त्तव्य उसके दो मौलिक अधिकारों से ही निकलते हैं। वास्तव में मनुष्य का एक ही सर्वोच्च कर्त्तव्य (one supreme Duty) है—बुद्धिमय आत्मा की सिद्धि और उसके अन्तर्गत सभी मूल्यों की भी। सभी कर्त्तव्य इसीसे निकलते हैं।

कर्त्तव्यों का वर्गीकरण

मनुष्य के सभी कर्त्तव्यों को तीन वर्गों में बाटा जा सकता है—

(१) स्वय के प्रति कर्त्तव्य, (२) अन्य के प्रति कर्त्तव्य और (३) ईश्वर के प्रति कर्त्तव्य।

(१) स्वयं के प्रति कर्त्तव्य (Duties to self)-- इसमे शारीरिक, आर्थिक, बौद्धिक, सौन्दर्य-सम्बन्धी तथा नैतिक कर्त्तव्यो का समावेश है। जीवन-रक्षा, स्वास्थ्य-रक्षा तथा विनोद शारीरिक कर्त्तव्यो में हैं। धन उपार्जन आर्थिक कर्त्तव्य है। ज्ञानोपार्जन तथा बुद्धि का विकास मनुष्य का बौद्धिक कर्त्तव्य है। सौन्दर्य की सृष्टि और प्रशंसा सौंदर्य-सम्बन्धी कर्त्तव्य है। आत्म-संयम और आत्म-विकास हमारे नैतिक कर्त्तव्य हैं।

दूसरों के प्रति कर्त्तव्य (Duties to others)–इसमे पेड-पौधे, पशु, समाज के अन्य व्यक्ति, परिवार, देश और मनुष्यत्व के प्रति कर्त्तव्यों का समावेश है।

ईश्वर के प्रति कर्त्तव्य (Duties to God)–ईश्वर के प्रति श्रद्धा, उसकी पूजा तथा आत्म-समर्पण ईश्वर के प्रति कर्त्तव्य है।

कर्त्तव्यो का विरोध तथा कर्त्तव्याकर्त्तव्यशास्त्र (Conflict of Duties and casuistry) —

कभी-कभी विशेष कर्त्तव्यों मे विरोध मालूम होता है। सच बोलना कर्त्तव्य है पर कभी ऐसी परिस्थिति भी आती है जब सच बोलना ही दूसरों की हत्या में सहायक हो जाता है। ऐसी स्थिति मे दो कर्त्तव्यों मे विरोध जान पड़ता है। पर ऐसा विचार करना भ्रमात्मक है। किसी भी परिस्थिति मे एक ही निश्चित कर्त्तव्य होता है। अत कर्त्तव्यों मे विरोध विचार करना भूल है। ऐसी स्थिति समस्या की जटिलता और वासनाओ तथा पक्षपात के कारण उत्पन्न होती है। इन्हीं के कारण निश्चित कर्त्तव्यो का ज्ञान नहीं होता। यह अनिर्णय की अवस्था रहती है। ऐसी स्थिति के लिए विशेष नियम नहीं निर्धारित किए जा सकते। परिस्थितियो के विश्लेषण से ही ऐसी दुविधा दूर हो सकती है।

मध्यकालीन विचारकों ने विशेष परिस्थितियों मे मनुष्य के निश्चित कर्त्तव्यों और अकर्त्तव्यो के नियम बतलाया है। इसे कर्त्तव्याकर्त्तव्यशास्त्र (Casuistry)

कहा जाता है। पर ऐसे शास्त्र की अब मान्यता नहीं है। इसमें कई कठिनाइयां हैं। सबसे पहले तो यह कि आचरण के विशेष-नियम बनाना कठिन है और किन-किन विशेष परिस्थितियों में उन नियमों का अपवाद होता है यह निश्चय करना तो असम्भव ही है। इसके अतिरिक्त यह शास्त्र कर्म के बाह्य रूप पर ही ध्यान देता है। उसमे केवल यह विचारा जाता है कि कर्त्ता का कर्म किस नियम के अनुसार हुआ, यह नही कि कर्म का प्रयोजन, लक्ष्य आदि क्या है। इसलिए यह शास्त्र नैतिकता से स्वतंत्रता को निकाल देता है। वास्तव में यह वैधानिक दृष्टिकोण को प्रोत्साहित करता है।

सद्गुण (Virtues)

कर्त्तव्यों के अभ्यासपूर्वक आचरण से सद्गुणात्मक प्रवृत्तियां उदय होती हैं। अभ्यास के द्वारा कर्त्तव्य सद्गुण उत्पन्न करता है। सद्गुण अर्जित मानसिक प्रवृत्ति है। यह चरित्र की उत्कृष्टता है। कर्त्तव्य मे ही सद्गुण व्यक्त होता है। सद्गुण सहज प्रवृत्ति (जन्मजात) नही है। यह वैसी प्रवृत्ति है जो अभ्यास के द्वारा अर्जन किया जाता है।

सद्गुण का स्वरूप—अरस्तू के अनुसार सद्गुण एक स्थायी मानसिक अवस्था है, जिसकी उत्पत्ति संकल्प से होती है और जिसका आधार विवेक द्वारा निर्धारित जीवन का सर्वोच्च आदर्श है। यह नैतिक नियम के अनुकूल कर्मों के अभ्यास के द्वारा अर्जित प्रवृत्ति या चरित्र है। यह कोई जन्मजात प्रवृत्ति नहीं। यह एक अर्जित प्रवृत्ति है। यह चरित्र की उत्कृष्टता है। इसका प्रकाशन कर्त्तव्यों में होता है। कर्त्तव्य और सद्गुण सापेक्षिक हैं। एक ही तथ्य के ये दो पहलू हैं।

चूंकि सद्गुण का उद्भव कर्त्तव्यों के अभ्यासपूर्वक आचरण से होता है, अतः इसके लिए कर्त्तव्यों का ज्ञान और उसका आचरण दोनों आवश्यक हैं। इसलिए सुकरात का विचार कि सद्गुण ज्ञान है (virtue is knowledge) और अरस्तू का विचार कि सद्गुण अभ्यास है (virtue is habit), दोनों सत्य

हैं। कर्मविहीन सद्गुण या ज्ञान-विहीन सद्गुण दोनों ही सत्ताहीन हैं। सद्गुण में ज्ञान और कर्म दोनों का समावेश है।

अभ्यासपूर्वक कर्त्तव्यों का पालन ही सद्गुण है। अभ्यासपूर्वक कर्त्तव्यों का पालन तभी सम्भव है यदि मनुष्य अपने मनोवेगों, वासनाओं पर संयम रखे। वासनाओं का संयम विवेक (Reason) अर्थात अपनी उच्चतर प्रकृति और निम्नतर प्रकृति में सामंजस्य स्थापित करने से ही सम्भव है। अतः विवेक और वासनाओं के सामजस्य-स्थापना से ही कर्त्तव्य का सम्पादन हो सकता है। ऐसे सामंजस्य से ही आत्मोपलब्धि होती है और इसीलिए उससे वास्तविक सुख अर्थात् आनन्द की अनुभूति होती है। अत. कर्त्तव्यों के अभ्यासपूर्वक सम्पादन से अर्थात् सद्गुण से आनन्द का भाव होता है। अरस्तू के अनुसार सद्गुण आपेक्षिक मध्यावस्था को ग्रहण करने का अभ्यास है (virtue is the habit of choosing the relative mean) जिसे बुद्धि और व्यावहारिक व्यक्ति निर्धारित करते हैं। सद्गुण चुनाव का अभ्यास है जिसका लक्षण है संयम तथा व्यक्ति की परिस्थितियों और योग्यताओं के अनुसार माध्यममार्ग का चुनाव। माध्यममार्ग दोनों का मध्यवर्ती है, एक अत्यधिक (Excess) दूसरा अत्यल्प। अत सद्गुण मध्य दशा है। बहुत से सद्गुण दो छोरों के मध्यवर्ती होते हैं—साहस, भीरुता और आत्म-साहस के मध्य की सुनहरी मध्यावस्था (golden mean) है। माध्यम मार्ग निरपेक्ष नही है। यह व्यक्ति की योग्यता और परिस्थितियों को ध्यान में रख कर ही निर्धारित करना चाहिए। अतः यह सापेक्षिक है। अरस्तू का विचार बहुत अशों में सत्य है। पर माध्यम मार्ग का ग्रहण आवश्यक है या नही यह स्वयं सापेक्षिक है। किसी परिस्थिति में माध्यम मार्ग का ग्रहण स्वयं एक दोष हो जाता है, जैसे देश-प्रेम की भावना में माध्यम मार्ग का चुनाव। अत माध्यम मार्ग के चुनाव में यथार्थ परिस्थितियों का ध्यान आवश्यक है।

सद्गुण अनेक हैं, पर सभी एक सर्वोच्च सद्गुण के भिन्न पहलू हैं। सर्वोच्च नैतिक नियम का पालन मनुष्य का सर्वोच्च कर्त्तव्य है। इसी कर्त्तव्य के अभ्यासपूर्वक सम्पादन से सर्वोच्च सद्गुण का उद्भव होता है।

सद्गुणों का वर्गीकरण (Classification of Virtues)

सद्गुणों को तीन वर्गों में रखा जाता है —

(i) आत्मविषयक (Self-regarding)

(ii) परविषयक (Other-regarding) और

(iii) आदर्श-विषयक (Ideal-regarding)

(i) **आत्म विषयक सद्गुण** (Self-regarding Virtues)–ये सद्गुण कर्त्ता के अपने शुभ के साधक हैं। इसके अन्तर्गत (क) साहस (Courage), (ख) संयम (Temperance), (ग) मिहनत और अध्यवसाय (Industry and perseverence , और (घ) अल्प व्ययता (Frugality) के सद्गुण है।

(ii) **पर-विषयक सद्गुण** (Other-regarding or Altruistic Virtues)–ये अन्य व्यक्तियों के मंगल के साधक हैं। इनके अन्तर्गत न्याय (Justice) और परोपकार (Benevolence) के सद्गुण हैं।

(iii) **आदर्श विषयक सद्गुण** (Ideal-regarding Virtues)–ये किसी आदर्श के साधक हैं, जैसे सत्य, शुभ तथा सौंदर्य आदि के इसके अन्तर्गत (क) बौद्धिक आदर्शों के प्रति आकांक्षा, (ख) सौन्दर्य विषयक आदेशों के प्रति आकांक्षा तथा (ग) नैतिक आदर्शों के प्रति आकांक्षा, के सद्गुण हैं।

वास्तव में व्यक्तिगत शुभ और सामाजिक शुभ में विरोध नही है, वल्कि एक दूसरे के पूरक है। व्यक्तिगत शुभ मे ही सामाजिक शुभ निहीत है और सामाजिक शुभ मे ही व्यक्तिगत शुभ की कल्पना की जा सकती है। इसलिए उपरोक्त वर्गीकरण वैज्ञानिक नहीं है। पर कुछ सद्गुण मनुष्य के व्यक्तिगत जीवन से अधिक सम्बन्धित है और कुछ उसके सामाजिक जीवन से। इसलिए वे मनुष्य के पृथक सम्बन्धों पर जोर देते हैं। इस अर्थ मे उन्हे आत्मविषयक और पर-विषयक स्वीकार किया जा सकता है।

मुख्य सद्गुण (Cardinal Virtues)--प्लेटो ने चार सद्गुणों को मौलिक बतलाया है। सभी अन्य सद्गुण इन्ही चारो पर आश्रित रहते हैं। इन्हे इसीलिए उन्होने मुख्य सद्गुण (cardinal virtues) कहा है। ये चार मुख्य सद्गुण, बुद्धिमता (Wisdom), साहस (Courage), संयम (Temperance) और न्याय (Justice) हैं। इन चारो को प्लेटो ने व्यापक अर्थ में व्यवहार किया है। सभी सद्गुण इन्ही चारो से व्युत्पन्न होते हैं।

Exercises

1 What is the relation of rights to duties? Explain

2 How are duties classified? Has each right a corresponding duty?

3 What are the fundamental rights of an individual? Explain them.

4. Explain the relation between Duties and Virtues.

5 Discuss the statement, virtue is a mean between two extremes Explain the Platonic Cardinal Virtues.

6 Write notes on,—
   (a) Virtue and knowledge
   (b) Self-regarding & Altruistic Virtues.
   (c) Virtue and Prudence.
   (d) Cardinal Virtues

सत्रहवाँ परिच्छेद

अन्तःकरण या नैतिक-शक्ति

(Conscience or Moral Faculty)

अन्तःकरण वह मानसिक शक्ति है जिसके द्वारा हमलोग उचित और अनुचित में भेद करते हैं। यह वह प्रकाश है जिससे कर्मों के नैतिक गुणों का ज्ञान होता है। और हमलोगों के जीवन का नैतिक मार्ग स्पष्ट होता है। जिस शक्ति से हमलोगों को कर्मों के नैतिक गुणों का बोध होता है वही अन्तःकरण है। अतः अन्तःकरण नैतिक-शक्ति है। अन्तःकरण के स्वरूप के विषय में भिन्न मत हैं।

(१) वैधानिक मत (Legal theories)—इस मत के अनुसार नैतिक गुणों के ज्ञान के लिए साधारण मानसिक शक्तियों के अतिरिक्त कोई विशेष मानसिक शक्ति नहीं है। वाह्य सत्ता द्वारा आदिष्ट नियम ही नैतिक नियम हैं। वैसे कर्म जो उन नियमों के अनुकूल होते हैं, उचित और विपरीत होते हैं तो अनुचित हैं। अतः कर्मों का औचित्य-अनौचित्य नियमों से अनुकूलता या विपरीतता पर निर्भर है। इसलिए औचित्य-अनौचित्य अर्थात् नैतिक गुणों के ज्ञान के लिए कोई विशेष शक्ति नहीं बल्कि साधारण मन शक्ति ही है। साधारण अनुभव, बुद्धि तथा कल्पना ही से नैतिक गुणों का ज्ञान होता है। अतः अन्तःकरण या नैतिक-शक्ति साधारण बुद्धि है।

नैतिक गुणों के विषय में वैधानिक मत अमान्य है, अतः अन्तःकरण के विषय में भी यह विचार भ्रान्तियुक्त है।

(२) अन्तःअनुभूतिवाद (Intuitionalism)—इस मत के अनुसार नैतिक गुण कर्मों में ही निहीत हैं, कर्म-फल या किसी वाह्य सत्ता पर से निर्भर नहीं। इन गुणों का ज्ञान अन्तःकरण के द्वारा होता है। अन्तःकरण के स्वरूप के विषय में अन्तःअनुभूतिवादियों के भिन्न विचार हैं।

(क) नैतिक-इन्द्रियवाद (Moral Sense theory)—इस मत के अनुसार अन्त करण एक आन्तरिक इन्द्रिया है जिससे मनु। को नैतिक गुणों का तत्काल प्रत्यक्ष हो जाता है। जिस प्रकार रंग, रूप, ध्वनि आदि का प्रत्यक्ष आख, कान आदि इन्द्रियों के द्वारा होता है, वैसे ही नैतिक गुणो के प्रत्यक्ष के लिए विशेष नैतिक इन्द्रिय है। यही अन्त:करण है। मार्टीन्यू, हचीसन आदि का यही विचार है।

नैतिक-इन्द्रियवाद मे कई कठिनाइया हैं। यह नैतिक निर्णयो की विविधता की, या नैतिक निर्णयों में भूलों की व्याख्या नही कर सकता। इस मत की सविस्तार व्याख्या के लिए 'नैतिक इन्द्रियवाद' मत की आलोचना देखें। *

(ख) सौन्दर्य-इन्द्रियवाद (Aesthetic sense theory)—कुछ अन्त अनुभूतिवादियों के अनुसार औचित्य सुन्दरता है और अनौचित्य कुरूपता। अन्त:करण सौन्दर्य विषयक इन्द्रिय है। जिस ज्ञान-इन्द्रिय से हमलोगों को वस्तुओं के सौन्दर्य का ज्ञान होता है उसीसे कर्मों के नैतिक गुण अर्थात् सुन्दरता या कुरूपता का ज्ञान होता है। यह विचार हचीसन तथा सेफ्टसबरी का है।

इस मत मे अनेक कठिनाइया हैं। नैतिक गुण सौन्दर्य विषयक गुण नहीं है। इसके अतिरिक्त इस मत को मान्यता देने से नैतिक मापदड में समरूपता सम्भव नहीं है, क्योंकि सुन्दरता के विषय में समरूप विचार सम्भव नही है। फिर यदि नैतिक गुण सौन्दर्य विषयक गुण है तो उसमें कर्त्तव्यता, पश्चाताप आदि भावनाओं का समावेश कैसे होता है?

---

* नैतिक इन्द्रियवाद के अनुसार अन्त करण से भूल नहीं होती। इसमें सहज में ही नैतिक गुणों को ग्रहण कर लेने की क्षमता है। अतः यह शिक्षित नहीं किया जा जकता। कांट का भी यही विचार है। कुछ अन्त अनुभूतिवादियों के अनुसार अन्त.करण नैतिक गुणों को ग्रहण करने मे भूल नही करता पर बुद्धि नैतिक नियमों के प्रयोग में भूल कर सकती है। कुछ विचारको के अनुसार आरम्भ में अन्त करण अविकसित रहता है अत इसे शिक्षित और विकसित किया जा सकता है।

(घ) **तर्कवाद या बुद्धिवाद** (Dianoetic View) उपरोक्त तीनों मतों के अनुसार अन्त.करण इन्द्रिय के रूप मे विचारा गया है। पर यह मत अन्तःकरण को बुद्धिमूलक विचारता है। अन्त.करण कोई इन्द्रिय नहीं, वल्कि मनुष्य का विवेक है। इसके द्वारा तत्काल नैतिक गुणों का प्रत्यक्ष हो जाता है। इसमें कभी भूल नहीं होती। नैतिक निर्णय अनुमानजन्य है। नैतिक निर्णयों में नैतिक नियमों के गलत प्रयोग से भूल होती है। अत. इस हद तक अन्त.-करण मे सुधार किया जा सकता है। यह मत कडवर्थ और क्लार्क का है।

(ङ) **बटलर का मत** :— बटलर के अनुसार मानव प्रकृति मे तीन तत्त्व हैं— स्वार्थ-प्रेम, परोपकार और अन्त करण। ये तीनों बुद्धिमूलक सिद्धान्त हैं। अन्तःकरण, स्वार्थ प्रेम तथा परोपकार से श्रेष्ठ है। यह इन पर शासन करता है। जितना इसे अधिकार है उतना वल होता, जितनी इसमे प्रभुता है उतनी शक्ति होती तो यह संसार का शासक होता। यह मानव प्रकृति का सर्व-श्रेष्ठ बुद्धिमूलक तत्त्व है।

(च) **मानव प्रकृति का सामान्य तत्त्व** .— रसकिन के अनुसार मानव प्रकृति मे जो सामान्य तत्त्व है, वही अन्त करण है। यह किसी व्यक्ति-विशेष का अन्त करण नहीं, वल्कि सामान्य या व्यापक नैतिक-शक्ति है।

(छ) **कांट का मत** : — कांट के अनुसार अन्त करण कोई इन्द्रिय नहीं, वल्कि एक बौद्धिक शक्ति है। पर कांट ने बौद्धिक शक्तियों का दो विभाजन किया है, एक ज्ञान-शक्ति, दूसरी नैतिक-शक्ति या व्यावहारिक बुद्धि (Practical Reason)। व्यावहारिक बुद्धि ही अन्त करण है। इसी के द्वारा मनुष्य को नैतिक गुणों का तत्काल ज्ञान होना है। अन्त करण से भूल नही होती। नैतिक नियमों के प्रयोग मे भूल होना सम्भव है।

तर्कवाद से लेकर कांट के मत तक सभी अन्त करण को बुद्धिमूलक विचारते हैं। पर इनके विचारों से यह स्पष्ट नहीं होता कि उचित कर्मों को क्यों उचित बताया जाता है।

(३) सुखवाद (Hedonistic View)– सुखवाद के अनुसार मानव-जीवन का चरम लक्ष्य सुख प्राप्ति होना चाहिए। अत वैसे कर्म शुभ हैं जिनसे सुख मिलता हो और वे अशुभ है जो दुख के साधक हैं। सुखवाद के भिन्न रूप ह, अतः नैतिक शक्ति के विषय में उनके भिन्न विचार है।

(क) स्वार्थमूलक सुखवाद (Egoistic Hedonism)– इस मत के अनुसार आत्म-सुख प्राप्ति ही मनुष्य का चरम लक्ष्य होना चाहिए। वैसे ही कर्म उचित है, जिनसे आत्मसुख की प्राप्ति होती है। अत कर्मों के नैतिक गुण को पहचानने के लिए कोई विशेष आन्तरिक शक्ति नहीं है। यह तो मनुष्य का अनुभव बतलाता है कि कैसे कर्मों से उसे सुख की अनुभूति होती है। अपने भूत अनुभव के आधार पर यह अनुमान द्वारा जाना जाता है कि किस कर्म से सुख मिलेगा। अत नैतिक गुणों का ज्ञान अनुभव के आधार पर बुद्धि के द्वारा होता है। इसलिए अन्त करण या नैतिक शक्ति कोई आन्तरिक शक्ति नहीं, बल्कि मनुष्य की दूरदर्शिता है।

(ख) परार्थवाद (Altruism)–इस मत के अनुसार सामान्य सुख या अधिकतम व्यक्तियों की सुख प्राप्ति मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य है। अतः वैसे कर्म उचित हैं, जिनसे सामान्य या अधिकतम व्यक्तियों को सुख मिलता हो। ऐसे कर्मों का ज्ञान अनुभव के आधार पर ही केवल नहीं हो सकता बल्कि अन्य व्यक्तियों की भावनाओं को समझकर ही हो सकता है। अत नैतिक गुणों का ज्ञान बुद्धि और भावना दोनों से होता है। नैतिकशक्ति मे दोनो तत्त्व हैं। अन्त करण या नैतिक शक्ति परोपकार की भावना है। वेन के अनुसार अन्तःकरण राजनैतिक नियम के प्रति सम्मान का भाव है जो सामान्य सुख का आरोप करता है।

बेन्थम अन्त करण को एक काल्पनिक सत्ता मानता है।

(ग) विकासात्मक सुखवाद (Evolutionary Hodonism)–इस मत के अनुसार अन्त करण एक सामाजिक प्रवृत्ति है। यह पूर्वजों से आनुवंशिक नियम के द्वारा व्यक्ति को प्राप्त होता है। यह व्यक्ति मे जन्मजात है पर जाति

के द्वारा अर्जित है। अन्तःकरण व्यक्ति के अन्दर जनता की वाणी है। लेस्ली स्टीफन के अनुसार अन्तःकरण जाति की सार्वजनिक आत्मा की वाणी है जो हमें उसके मंगल की शर्तों को पूरा करने को आदिष्ट करती है।

स्वार्थ सुखवाद नैतिकता और स्वार्थ प्रेम को एक मानता है पर ऐसा विचारना भूल है। परार्थ सुखवाद वास्तव में स्वार्थ सुखवाद का ही एक रूप है। अतः इनके विचार अमान्य हैं। विकासात्मक सुखवाद का विचार कि अन्तःकरण अर्जित सहानुभूति है दोषपूर्ण है।

(४) आत्मपूर्णतावाद (Perfectionism)– इस मत के अनुसार आत्मपूर्णता ही मानव जीवन का चरम धर्म है। वैसे कर्म उचित हैं जिनसे आत्मपूर्णता की ओर हम अग्रसर होते हैं। ऐसे कर्मों का ज्ञान विवेक (Reason) के द्वारा होता है - ऐसा विवेक जिसे नैतिक आदर्श के समझने की शक्ति हो। अन्तःकरण मनुष्य की विवेकात्मक अन्तर्दृष्टि है, जिससे मनुष्य को मानव के नाते क्या कर्त्तव्य है इसका ज्ञान प्राप्त होता है। यह मनुष्य का पूर्ण व्यक्तित्व है।

अतः अन्तःकरण मनुष्य की साधारण शक्तियों से भिन्न कोई अपूर्व व्यक्तिक आन्तरिक शक्ति नहीं है, वल्कि मनुष्य का आन्तरिक विवेक है। अन्तःकरण सम्पूर्ण स्व या आत्मा है। यह वास्तविक आत्मा की ध्वनि है। आरम्भ में यह अविकसित रहता है। धीरे-धीरे ही अन्तःकरण का विकास होता है। *

---

* कुछ विचारकों ने अन्तःकरण और नैतिक-शक्ति में अन्तर माना है। स्टूअर्ट के अनुसार अन्तःकरण केवल अपने आचरण से सम्बन्धित है और नैतिक-शक्ति अपने आचरण के साथ-साथ अन्य व्यक्तियों के आचरण से भी। यह भेद भ्रामक है क्योंकि अपने कर्मों में और अन्य के कर्मों में एक ही मानसिक प्रक्रिया से नैतिक गुणों का ज्ञान होता है।

सुखवादियों ने भी अन्तःकरण और नैतिक शक्ति में भेद वतलाते हुए कहा है कि अन्तःकरण भावात्मक है और नैतिक शक्ति बुद्धिमूलक। यह विचार

अन्तःकरण और दूरदर्शिता
(Conscience and Prudence)

अन्तःकरण और दूरदर्शिता साधारणतः विरोधक विचारे जाते हैं। दूरदर्शिता स्वार्थपरता सिखलाती है पर अन्तःकरण परोपकारिता। दूरदर्शिता का सम्बन्ध स्वार्थ-प्रेम से है, अन्तःकरण का कर्त्तव्य से। अन्तःकरण कर्मों का नैतिक मूल्यांकन करता है, दूरदर्शिता कर्मों को इस दृष्टि से आंकती है कि उससे हमें कितना सुख या दुख मिलेगा। अन्तःकरण सच्ची आत्मा की मांगों को पूरा करता है, दूरदर्शिता हमारी भावनाओं को। अन्तःकरण मनुष्य के स्वभाव में सामञ्जस्य लाता है, दूरदर्शिता उसका ह्रास करती है। अन्तःकरण चरित्र को बल देता है, दूरदर्शिता उसे बलहीन बनाता है।

दूरदर्शिता का संकीर्ण अर्थ लेने से ही उपरोक्त भेद किया गया है। यदि सुख प्राप्ति के लिए कर्मों के तत्काल परिणाम का विचार किया जाय तो उपरोक्त अर्थ ठीक है। पर वास्तविक सुख तो तात्कालिक सुख नहीं है। इसलिए दूरदर्शिता तो इसीमें है कि हमें वास्तविक सुख मिले जो कर्मों के तात्कालिक और भविष्य परिणाम को ध्यान में रखकर ही आंका जा सकता है। अतः दूरदर्शिता वास्तव में बुद्धिमता होना चाहिए, जिसका अन्तःकरण से विरोध नहीं है।

Exercises

1. Analyse the nature of conscience
2. Discuss the different views of conscience
3. What is conscience ? Is it true to say that an erring conscience is a chimera ?
4. Point out the relation between Conscience and Prudence Is conscience teachable ?

मिल का है। पर मिल ने नैतिक शक्ति को तो बिल्कुल गणनात्मक विचार लिया है। सुख और दुख की गणना नैतिकता का लक्षण नहीं है। अतः मिल का मत भी मान्य नहीं है। अन्तःकरण और नैतिक शक्ति में अन्तर नहीं है। उसके स्वरूप के विषय में भिन्न मत हो सकते हैं।

अठारहवाँ परिच्छेद

दण्ड और पुरस्कार

(Punishment and Reward)

दण्ड और पुरस्कार को नैतिक प्रेरणा कहा गया है। पुरस्कार के प्रलोभन से अच्छे आचरण करने के लिए हम बाध्य होते हैं और दण्ड के भय से बुरे आचरण का परित्याग किया जाता है। इसलिए दण्ड और पुरस्कार को मिल और बेन्थम ने नैतिक प्रेरणा कहा है। अब प्रश्न है कि दण्ड और पुरस्कार का क्या आधार है ?

दण्ड और पुरस्कार के विषय मे मत :—दण्ड और पुरस्कार के विषय मे भिन्न मत हैं।

(क) **प्रतिकारवाद**—दण्ड और पुरस्कार से तभी लाभ सम्भव है जब वे मनुष्य के नैतिक विचारो को प्रभावित करें। यदि मानव अपराध के फल उसको दण्ड के रूप मे मिले तो उस दुराचार को परित्याग करने की प्रेरणा मिलती है। इसलिए पुरस्कार और दण्ड का आधार न्याय होना चाहिए। मनुष्य को उसके दुराचारों का उचित दण्ड और उसके अच्छे कर्मो का उचित पुरस्कार मिलना चाहिए। इसी मत को प्रतिकारवाद कहा जाता है। यहा यह प्रश्न उपस्थित होता है कि दण्ड देने मे जिन परिस्थितियों मे अपराध किया जाता है उनका विचार करना चाहिए या नहीं ? इसके विषय मे दो मत हैं :—

(क) **कठोरवाद** (Rigorism)—इस मत के अनुसार कोई दण्ड या पुरस्कार उसी अंश मे होना चाहिए जिस प्रकार का कर्म किया गया है। यदि कर्म बहुत ही खराब हो तो दण्ड भी उतना ही कडा हो और यदि कर्म उतना खराब नहीं हो तो दण्ड भी उसी अंश मे कम हो। पर दण्ड या पुरस्कार के वितरण में परिस्थिति का ध्यान नही रखना चाहिए। किस परिस्थिति के कारण या किन-किन वजहों से किसी ने अपराध या अच्छा कर्म किया है उनका ध्यान दण्ड या

पुरस्कार के वितरण मे नहीं होना चाहिए। दण्ड और पुरस्कार का सम्बन्ध केवल कर्मों की तुच्छता या गम्भीरता से होनी चाहिए। गम्भीर अपराधों का गम्भीर दण्ड हो और तुच्छ अपराधों का तुच्छ दण्ड। यह आँख केलिए आँख और दात के लिए दात का सिद्धान्त है।

यह विचार दोषपूर्ण है। मनुष्य किसी कर्म को यदि अनिच्छा से करता है या वाह्य प्रभाव में पड़कर करता है तो उसके लिए नैतिक दृष्टि से वह जिम्मेवार नहीं है। इसलिए किसी आचरण के निर्णय मे वाह्य तथा आन्तरिक परिस्थितियों का भी ध्यान रखना चाहिए। यदि एक मनुष्य अपने मरते बच्चे को खिलाने के लिए मिठाई चुरा लेता है और एक दुराचारी अपने स्वाद के लिए मिठाई चुराता है तो दोनो के कर्म तो एक ही है पर परिस्थितिया भिन्न हैं, इसलिए लक्ष्य भी भिन्न है। दोनों के अपराधों के लिए एक ही प्रकार का दण्ड देने मे निर्णय दोषपूर्ण हो जाता है।

(ब) शान्त मत (Mollified view)–इस मत के अनुसार दण्ड या पुरस्कार के वितरण मे कर्मों की वाह्य परिस्थितियो को ध्यान मे रखना चाहिए। न्याय करने मे सम्पूर्ण परिस्थिति को जाच लेना आवश्यक है। यदि किसी ऐसी वाह्य परिस्थिति से प्रभावित हो, जिस पर अपना अधिकार नही है, कोई अपराध किया जाय तो दण्ड उसी मात्रा मे घट जाना चाहिए।

(ख) निवर्त्तनवादी मत (Preventive Theory)–इस मत के अनुसार दण्ड का लक्ष्य है कि कोई फिर उस अपराध को नहीं करे। अपराधी को दण्ड केवल उसीको वैसे अपराधो से रोकने के लिए नहीं अपितु भविष्य मे भी वह अपराध रुक जाय, इसलिए दिया जाता है। किसी कर्म के पुरस्कार का लक्ष्य है कि उस कर्म को मनुष्य भविष्य मे करे। चोरी और डकैती के लिए दण्ड इसलिय दिया जाता है कि वैसे कर्म फिर न हो।

इस मत मे भी दोष है। किसी अपराधी को दूसरो के लिए दण्ड नहीं दिया जाना चाहिए। किसी व्यक्ति को दूसरो का साधन मात्र नहीं मानना चाहिए। मनुष्य कोई वस्तु नहीं वरन् एक सामाजिक व्यक्ति है और समाज का एक अंग है। उसे साधन मात्र मान लेना दोषपूर्ण होगा।

(ग) **सुधारवाद** (Reformative view)– इस मत के अनुसार किसी अपराधी को दण्ड प्रतिकार की भावना से नहीं अपितु उसके ही सुधार की भावना से होना चाहिए। दण्ड का लक्ष्य स्वयं अपराधी को शिक्षित करना है। अपराधी को उसी के हित में दण्ड दिया जाता है, दूसरों के हित नहीं। अतः दण्ड का लक्ष्य प्रतिकार नहीं, उपयोगिता है। मनुष्य में सुधार तभी हो सकता है जब अपराध के कारण हटा दिए जाएं। अपराध के कारणों के विषय में दो मत हैं।

(अ) अपराध मानवविज्ञान (Crimiral Anthropology)

(ब) अपराध समाजविज्ञान (Social Criminology)

(अ) पहले मत के अनुसार अपराध एक मानसिक विकार है। यह एक रोग है। शरीर में या मन में किसी प्रकार का विकार हो जाने से मनुष्य कोई अपराध करता है। इसलिए उस अपराधी का सुधार उसे कटघरों में बन्द करने से नहीं अपितु उसकी मानसिक चिकित्सा से हो सकता है।

इस मत में दोष है। प्रत्येक अपराधी को एक किस्म का पागल कहना उचित नहीं जान पड़ता। यह सत्य है कि पागल हो जाने पर मनुष्य अपराध करता है पर इसीलिए हर अपराधी को पागल कहना ठीक नहीं है। एक अपराधी और पागल में अन्तर होता है। पागल को अपने ऊपर कोई अधिकार नहीं रहता पर एक अपराधी में ऐसी बात नहीं मिलती। दूसरे, कोई अपराधी कटघरे में बहुत दिनों तक कष्ट झेल लेना स्वीकार करेगा पर पागलखानों में रखा जाना उसे कदापि प्रिय नहीं होगा।

(ख) इस मत के अनुसार मनुष्य कोई भी अपराध आर्थिक विषमताओं के कारण करता है। समाज में कुछ इस तरह की विषमताएं हैं कि मनुष्य कोई अपराध करने को बाध्य हो जाता है। इसलिए उसे सुधारने के लिए समाज की बुराइयों को दूर करना आवश्यक है।

आलोचना :—कुछ अपराध अवश्य सामाजिक असमानताओं के कारण होते हैं पर सभी के साथ यह सत्य नहीं है। दण्ड सदैव अपराधी का सुधार

नहीं करता। कभी-कभी इससे आदतें पक्की हो जाती हैं। कभी-कभ सहानुभूतिपूर्ण व्यवहार से दण्ड की अपेक्षा अधिक प्रभाव पड़ता है। निवर्त्तन-वाद और सुधारवाद, दोनों का लक्ष्य एक ही है – सुधार। निवर्त्तनवाद समाज का सुधार चाहता है, सुधारवाद उस मनुष्य का जिसने अपराध किया है। दोनों ही का लक्ष्य है लाभ। दण्ड और पुरस्कार का वितरण लाभ के लिए होना है।

वास्तव में दण्ड और न्याय का लक्ष्य होना चाहिए मनुष्य का नैतिक उत्थान। मनुष्य में नैतिक उत्थान उसके सुधार से ही हो सकता है। पर दण्ड या पुरस्कार तभी सफल होते हैं जब मनुष्य में यह भावना आ जाय कि दण्ड या पुरस्कार रूप मे उसे उसके ही कर्मों का फल मिला है। जब तक दण्ड या पुरस्कार से उसकी नैतिक चेतना की जागृति नहीं होती, उसमे सुधार सम्भव नहीं है। सुधार उचित दण्ड या पुरस्कार के वितरण से ही सम्भव है। इसलिए प्रतिकारवाद का मृदु-रूप सन्तोषजनक सिद्धान्त है।

Exercises

1. Explain the different theories of punishment.
2. Explain the meaning and purpose of punishment.
3. Critically examine the different theories of punishment.

उन्नीसवाँ परिच्छेद

नैतिक प्रगति (Moral Progress)

नैतिक प्रगति का अर्थ :— प्रगति का अर्थ है आगे की ओर गति अर्थात् बढना। प्रगति विकास का द्योतक है जिसमे उत्तरोत्तर उच्च अवस्थाओ की प्राप्ति होती जाती है। अत प्रगति एक निरन्तर क्रम है जिसमे धीरे-धीरे किसी लक्ष्य की ओर अग्रसर होते जाना है। यह किसी आदर्श की उत्तरोत्तर प्राप्ति है। नैतिक प्रगति, इसीलिए, नैतिक आदर्श की उत्तरोत्तर प्राप्ति है।

नैतिक प्रगति और नैतिक आदर्श—नैतिक प्रगति नैतिक आदर्श से सम्बन्धित है। नैतिक आदर्श की ओर धीरे-धीरे बढना ही नैतिक प्रगति है। नैतिक आदर्श सीमाहीन है, अत उसकी पूर्ण प्राप्ति नहीं होती। जितनी नैतिक प्रगति होती है, नैतिक आदर्श का विचार उच्च होता जाता है और इस प्रकार जीवन मे निरन्तर नैतिक प्रगति और नैतिक आदर्श में वृद्धि होती जाती है।

नैतिक प्रगति का स्वरूप—नैतिक आदर्श की क्रम-क्रम से प्राप्ति नैतिक प्रगति है। नैतिकता के बीज मनुष्य की प्रकृति मे विद्यमान हैं। मनुष्य स्वभाव से नैतिक है। उन बीजो का विकास नैतिक प्रगति है। नैतिकता का प्रादुर्भाव अनैतिक तथ्यो से नहीं होता। यदि मनुष्य स्वभाव से अनैतिक होता तो नैतिकता की उत्पत्ति कैसे होती? इसीलिए सेद ने ठीक ही कहा है कि नैतिक प्रगति मे नैतिकता है—प्रगतिशील नैतिकता, कभी भी नैतिकता की ओर प्रगति नहीं या नीतिशून्य अवस्था से नैतिकता की अवस्था मे प्रगति नहीं।

नैतिक प्रगति के नियम—व्यक्ति मे या समाज में नैतिक प्रगति कुछ विशेष तरीको से होती है। इसे ही नैतिक प्रगति का नियम कहा जाता है। अब हम उन नियमों का उल्लेख करें।

(i) बाह्य दृष्टिकोण से आन्तरिक दृष्टिकोण को अपनाना—प्रगति की पहली विशेषता यह है कि नैतिक दृष्टिकोण में अन्तर हो जाता है। नैतिक चेतना के विकास से ही कर्मों का मूल्यांकन बाह्य दृष्टिकोण से बदल कर आन्तरिक दृष्टिकोण से होने लगता है अर्थात् लक्ष्य और साधन या प्रयोजन की दृष्टि से। नैतिक निर्णय का विषय आन्तरिक चरित्र हो जाता है, कर्म का परिणाम नहीं। सेद ने कहा है कि नैतिक प्रगति में कर्मों के बाह्य और उपयोगी मूल्यांकन से आन्तरिक और आध्यात्मिक मूल्यांकन की ओर, व्यवहार और परिणाम से चरित्र और कारणों की ओर, करने से होने की ओर, कर्म से व्यक्ति की ओर, अग्रसर होते हैं। जो कर्म मनुष्य कर लेता है उसका मूल्य घटता जाता है और जो वह है उसका मूल्य बढ़ता जाता है।

(ii) कठोर सद्गुणों को मृदु सद्गुणों के अधीनस्थ करना—नैतिक प्रगति की दूसरी विशेषता है कि कठोर सद्गुणों को मृदु सद्गुणों के अधीन किया जाता है। सत्ता या रक्षा के सद्गुणों को मंगल साधक या सौजन्य के सद्गुणों के अधीन किया जाता है। पहले साहस, वीरता, बल आदि सद्गुणों का स्थान उच्च रहता है, पर धीरे-धीरे सहानुभूति, परोपकार, क्षमाशीलता, नम्रता आदि प्रमुख होते जाते हैं।

(iii) सद्गुणों का क्षेत्र-विस्तार—नैतिक प्रगति की तीसरी विशेषता यह है कि इसमें सद्गुणों के क्षेत्र में उत्तरोत्तर विस्तार होता जाता है, विशेष से सामान्य, देशभक्ति और राष्ट्रवाद से मानवता और अन्तर्राष्ट्रीयता की दिशा में। जैसे-जैसे मनुष्य को अपने व्यक्तित्व का ज्ञान होता जाता है वैसे-वैसे अपनी सत्ता से अपने साथियों के साम्य का, मानव नगर में अपनी नागरिकता का बोध होता है। इससे यह स्पष्ट होता जाता है कि सर्वोच्च शुभ सामान्य और सार्वजनिक हित है। स्वार्थ और परार्थ का भेद मिटता जाता है, अत परिवार, राज्य, रंग, जाति के बन्धन से वह मुक्त होता जाता है।

सेठ ने व्यक्ति के उत्तरोत्तर खोज (Discovery of the Individual) को नैतिक प्रगति का नियम कहा है। पहले व्यक्ति को अपने व्यक्ति-रूप का ज्ञान

नहीं था। परिवार और झुण्ड ही नैतिक इकाई थी। व्यक्ति, परिवार आदि झुण्ड में ही विलीन था। जब व्यक्ति को अपना ज्ञान हुआ तो उसने अपने मार्ग पेश की और इस प्रकार कर्त्तव्य और अधिकार निर्धारित हुए। इसी प्रकार परिवार से व्यक्ति और प्रचलन से अन्तःकरण का विकास हुआ। इसलिए नैतिक प्रगति का नियम है व्यक्ति की खोज।

व्यक्ति की नैतिक प्रगति

व्यक्ति की नैतिक प्रगति उसके चरित्र के विकास पर निर्भर है। चरित्र का विकास व्यक्ति की नैतिक प्रगति का द्योतक है।

बाल अवस्था मे मनुष्य की चेतना विकसित नही रहती।। अनुभव के द्वारा उसकी चेतना विकसित होती है। अत बाल अवस्था मे मनुष्य को नैतिक भेदो की चेतना नहीं रहती है। धीरे-धीरे उसे उचित-अनुचित कर्मों की शिक्षा अपने परिवार और समाज के व्यक्तियो से मिलना आरम्भ होता है। तब वह नैतिक भेदो को जान लेता है पर क्यो कोई कर्म उचित या अनुचित है, इसका उसे ज्ञान नहीं रहता। बड़ों का आचार, प्रचलन आदि ही उसके नैतिक आदर्श रहते हैं। जब नैतिक चेतना का और भी विकास होता है तो उन आदेशों और कर्मों की वह स्वय भी मीमांसा करता है। इस प्रकार अपनी नैतिक बुद्धि की कसौटी पर उन्हें कसकर ही उचित-अनुचित का ज्ञानोपार्जन करता है। इस प्रकार प्रचलन से अन्तःकरण, बाह्य आदेशों से आन्तरिक नियमो की ओर वह अग्रसर होता है। यही क्रम है व्यक्तिगत नैतिक प्रगति का।

समाज और मानव जाति में नैतिक प्रगति

समाज मे और मानव जाति मे नैतिक प्रगति सदा प्रचलनात्मक नैतिकता से विवेकयुक्त नैतिकता की ओर होती है। इसलिए किसी प्रगतिशील समाज में व्यक्ति की नैतिक स्वतंत्रता और सत्ता स्वीकार की जाती है। प्रगतिशील समाज में नैतिक दृष्टिकोण आन्तरिक होती है, कठोर सद्गुणो को मृदु सद्गुणों के अधिनस्थ किया जाता है और सद्गुणों का क्षेत्र विस्तृत होता है।

सामाजिक प्रगति और वैयक्तिक प्रगति में विरोध नहीं है। सामाजिक प्रगति व्यक्ति की नैतिक प्रगति मे व्यक्त होता है और व्यक्ति की नैतिक प्रगति सामाजिक प्रगति का द्योतक है। प्रगतिशील समाज मे व्यक्ति की प्रगति के हेतु नैतिक संस्थाएँ स्थापित की जाती हैं, जैसे, स्कूल, सगीत विद्यालय, कचहरी आदि।

अब प्रश्न है कि मानव-जाति मे वास्तविक नैतिक प्रगति हुई है या नहीं? कुछ विचारक विश्व की वर्तमान दशा देख कर विचारते हैं कि सभ्यता आगे नहीं बढी है, बल्कि पीछे की ओर जा रही है अर्थात् मनुष्य मे नैतिक प्रगति नहीं हुई है। मानव जाति आज पहले के समान चरित्रवान नहीं है। उसमें चरित्र के अनेक नए दोष घुस गए हैं। मनुष्य स्वार्थपरायण, कठोर तथा जड़वादी मूल्यों की उपासना करने लगा है। आध्यात्मिक मूल्यों का स्थान भौतिक मूल्यों से निम्न स्तर पर आ गया है।

उपरोक्त विचार कुछ अशो में सत्य है। यह सत्य है कि समाज में अभी भी अनेक बुराइयाँ हैं पर इससे इस निष्कर्ष पर आना कि मानव समाज में नैतिक प्रगति नही हुई, भूल है। मानव समाज के वर्तमान कर्त्तव्याकर्त्तव्य के विचार प्राचीन विचारों से अधिक विवेकयुक्त है। आज की दृष्टि वाह्य कर्मों पर नही बल्कि आन्तरिक चरित्र पर जाती है। मनुष्य के आन्तरिक पक्ष को देख कर ही आलोचक आज की निन्दा करते हैं। पर अन्दर दृष्टि जाना और अपनी कमजोरियों को पता पा लेना ही कम नैतिक प्रगति नही है। आज के नैतिक विचार प्राचीन विचारो की तुलना मे उतने कठोर नहीं हैं। आज हम व्यक्ति की नैतिक स्वतन्त्रता और निर्णयों की महत्ता स्वीकार करते हैं। इतना ही नहीं व्यक्ति का व्यक्ति के रूप में आदर और समानता के भाव का प्रचार जोरो पर हो रहा है। अस्पृश्यता उसीका व्यक्तिकरण है। वसुधैव कुटुम्बकम् के आदर्श की महानता व्याप्त होती जा रही है। राजनीति और रोजगार मे भी नैतिकता का प्रवेश माना जाने लगा है। पंचशील की व्यापकता इसका प्रमाण है। अत हम यह कह सकते हैं कि मानव समाज प्रगतिशील है और इसमें कुछ प्रगति भी हुई है।

Exercises

1 Indicate the nature and course of moral progress.

2 What is meant by moral progress? How is moral progress related to the moral Ideal?

3. What is the criterion of moral progress? Is it true to think that the world is getting morally better?

— o —

बीसवाँ परिच्छेद

भारतीय आचारशास्त्र

भारतीय सभ्यता का इतिहास बहुत ही प्राचीन है। ज्ञान के प्रत्येक क्षेत्र में भारतीयों की प्राचीनकालीन प्रगति के चिह्न मिलते हैं। दर्शन और धर्म के क्षेत्र में तो प्राचीन काल ही में पूर्ण विकास हो चुका था। यूरोपीय दर्शन की प्राय सभी समस्याओं पर भारतीय मनीषियों ने चिन्तन किया है। दार्शनिक समस्याओं का स्रोत मानव जिज्ञासा है और चूंकि सभी देश और काल का मनुष्य मूलत एक है, अत समान समस्याएं ही सामान्यत. उत्पन्न होती है। उन समस्याओं का समाधान भी विरोधात्मक नहीं होता, केवल दृष्टिकोण का अन्तर रहता है। मानव दृष्टिकोण देश की परम्परा पर निर्भर रहता है, जिसका सम्बन्ध विशेष भौगोलिक तथा ऐतिहासिक तथ्यों से है। इन्ही वजहों से आन्तरिक समानता रहने पर भी दार्शनिक विचारों में बाह्य असमानता दिखाई देती है।

भारतीय दार्शनिकों के अनुसार दर्शन तत्त्व (Reality) का साक्षात्कार है। तत्त्व की सिद्धि ही साक्षात्कार है। सिद्ध करने का अर्थ है, अपनी चेष्टाओं या प्रयत्नों या कर्मों द्वारा पाना। कैसे कर्मों से तत्त्व की प्राप्ति सम्भव है? मनुष्य का कर्म कैसा होना चाहिए? मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है? ये सब प्रश्न आचारशास्त्र के हैं, पर ये प्रश्न दर्शन से ही सम्बद्ध हैं। अत यहा आचारशास्त्र दर्शनशास्त्र का ही अग माना जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि आचारशास्त्रीय समस्याओं पर स्वतन्त्र रूप मे यहा विचार नहीं हुआ है। मनु, याज्ञवल्क्य, व्यास और कई अन्य मनीषियों ने मनुष्य के कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार किया है। पर इनके विचार भी तत्त्व-सम्बन्धी विचारों से ही प्रभावित हुए हैं। अत. आचारशास्त्र दर्शनशास्त्र पर आश्रित है। यूरोपीय आचारशास्त्र मे भी अधिकाश विचारकों का यही मत मिलता है। जिन विचारकों ने केवल

मनोवैज्ञानिक आधार पर मनुष्य के कर्मों का या जीवन का आदर्श विचारने का प्रयत्न किया है, उनके मतो मे मौलिक कठिनाई रह गई है—'है' से 'चाहिए' को व्युत्पन्न करने की। जो मनुष्य 'करता है', उससे क्या उसे 'करना चाहिए' नहीं निकलता। अत. आचारशास्त्र की पद्धति दार्शनिक और मनोवैज्ञानिक, दोनों होना चाहिए। भारतीय आचारशास्त्र मे हम ऐसा ही पाते हैं। इसमें तत्त्व की दृष्टि से मनोवैज्ञानिक आधार पर ही मानव कर्त्तव्याकर्त्तव्य का विचार किया गया है। अधिकाश यूरोपीय विचारकों ने भी इसी पद्धति को अपनाया है।

भारतीय आचारशास्त्र मे मानव आदर्श की केवल मीमासा नहीं होती है बल्कि इसको सिद्ध करने का साधन भी बतलाया जाता है। हम किन कर्मों से आदर्श को प्राप्त कर सकते हैं, उस साधन को हमे ज्ञान प्राप्त होता है। मनुष्य का भिन्न परिस्थितियो और भिन्न सामाजिक सम्बन्धो मे क्या कर्त्तव्य है, इसका उल्लेख मिलता है। यहा आचारशास्त्र सम्पूर्ण मानव जीवन का प्रतिबिम्ब है। यहा का दृष्टिकोण व्यावहारिक है। इसमे हम यूरोपीय आचारशास्त्र के दृष्टिकोण मे अन्तर पाते हैं। यूरोपीय विचारको ने केवल सैद्धान्तिक रूप से मानव आदर्श की विवेचना की है। उस आदर्श की प्राप्ति कैसे होगी, उस साधन का विचार नहीं किया जाता। अत. उनका दृष्टिकोण सैद्धान्तिक है। जहा भारतीय आचारदर्शन का लक्ष्य है आदर्श मानव बनाना, वहा यूरोपीय आचारशास्त्र का लक्ष्य है आदर्श का ज्ञान देना। व्यावहारिक दृष्टिकोण भारतीय आचारदर्शन की विशेषता है।

सभी भारतीय दार्शनिक (चार्वाक को छोडकर) एक नित्य नैतिक व्यवस्था मे विश्वास करते हैं। विश्व की नैतिक व्यवस्था का अर्थ यह है कि भौतिक जगत की भाति नैतिक जगत भी वस्तुनिष्ठ तथा वास्तविक है। भौतिक मूल्यों की भाति नैतिक मूल्य भी सत्य हैं, वे मनुष्य के विचार मात्र नहीं हैं। जिस प्रकार भौतिक जगत नियमो मे बद्ध है वैसे ही नैतिक जगत भी अपने नियमों से बद्ध है।

नैतिक जगत का नियम है कर्म-सिद्धान्त। कर्म-सिद्धान्त के अनुसार मनुष्य अपने कर्मों का फल अवश्य भोगता है। मनुष्य जो करता है, उसका फल वही

भोगता है। प्रत्येक कर्म का अनिवार्यत कुछ न कुछ फल होता है चाहे वो शारीरिक, मानसिक अथवा नैतिक ही क्यो न हो। कर्मों के नैतिक मूल्यों का बिना फल दिए लोप नहीं होता। यह विचार नैतिक मूल्यो की अक्षयता में विश्वास रखता है। पर सभी कर्मों का फल तत्काल नहीं मिल जाता। कुछ कर्मों का फल तो फौरन मिल जाता है और कुछ कर्म सचित होकर दूसरे जन्म में फल देते हैं। कर्म तीन प्रकार के हैं, सचित, प्रारब्ध और क्रियमान। किसी व्यक्ति ने अब तक जितना कर्म किया है और जिनका फल अभी नही मिला है, उन्हे संचित कर्म कहा जाता है। जिन सचित कर्मों का फल हमे मिलना आरम्भ हो गया है, वे प्रारब्ध कर्म हैं। वैसे कर्म जो हम कर रहे हैं, जिन्हें हम एकत्रित कर रहे हैं, वे क्रियमान कर्म हैं। इस प्रकार हम पाते हैं कि भारतीय दार्शनिकों के अनुसार अपने कर्म से ही चरित्र, प्रवृत्ति, स्वभाव, इच्छा आदि प्रभावित होते हैं। मनुष्य मे आर्थिक, शारीरिक तथा मानसिक विषमताओं के यही कारण हैं। अपने कर्मों के अनुसार ही मनुष्य बन्धन मे रहता है और उसका पुनर्जन्म होता है। चार्वाक को छोड सभी भारतीय दार्शनिक पुनर्जन्म को सत्य विचारते है। पुनर्जन्म मे मनुष्य के मन तथा शरीर, कुल तथा परिस्थिति उसके पूर्व कर्म पर ही निर्भर रहते हैं। सभी यूरोपीय दार्शनिक पुनर्जन्म का विचार सत्य नही मानते। भारतीय दृष्टिकोण की यह दूसरी विशेषता है।

अपने कर्मों के अनुसार ही मनुष्य का जन्म होता है। पर यह संसार किसी व्यक्ति के लिए एक नैतिक रगमच की भाति है। हर व्यक्ति को अपने जीवन भर कर्म करना है और फिर अपने कर्मों के अनुसार दूसरे जीवन में प्रवेश करना है। इस प्रकार हम कर्म के बन्धन मे जकडे हुए रहते है। ऐसा अज्ञान के कारण होता है। अत: अज्ञान को दूर कर ही हम कर्मों से और फिर पुर्नजन्म से भी छुटकारा पा सकते हैं। संसार दु ख से परिपूर्ण है और इससे छुटकारा पाने का अर्थ है कर्मों के बन्धन से छुटकारा पाना। बन्धन से छुटकारा पाना अर्थात् मोक्ष ही प्रत्येक व्यक्ति का आदर्श है। ऐसा विचार भी चार्वाक को छोड़ सभी भारतीय दार्शनिकों ने माना है, पर यूरोपीय दर्शन मे कुछ विचारकों को छोड अन्य के विचारों मे यह विशेषता नहीं मिलती।

अज्ञान से मनुष्य बन्धन में है और उसे दुख है। अत. ज्ञान से ही छुटकारा सम्भव है। पर ज्ञान का अर्थ भारतीय विचारकों के अनुसार केवल सैद्धान्तिक विचार ही नहीं, बल्कि सत्य की सिद्धि (Realisation of truth) है। सिद्ध करने का अर्थ है प्राप्त करना। अतः कैसे आदर्श को प्राप्त किया जाय, मनुष्य के क्या कर्त्तव्य है, ये ही मुख्य प्रश्न हैं भारतीय आचारशास्त्र के।

भारतीय आचारशास्त्र में भी आदर्श प्राप्त करने के कई साधन विचारे गए है। पर किसी भी आदर्श की पूर्ति समाज में ही रहकर होती है। समाज के कई रूप है—राज्य, परिवार, संस्थाएं आदि। इनके अतिरिक्त मनुष्य की स्वयं कई अवस्थाएं हैं, बाल्यावस्था, युवा अवस्था आदि, फिर हर व्यक्ति एक ही कुल और एक ही स्थान में नहीं रहता। अत प्रत्येक व्यक्ति का अपने स्थान के अनुकूल अलग-अलग कर्त्तव्य है और भिन्न सम्बन्धों के अनुसार भी उनके कर्त्तव्य भिन्न हो जाते है। कर्त्तव्य का सम्बन्ध मनुष्य की क्रियाओं से है। क्या सभी मनुष्य सभी अवस्थाओं में समान क्रियाएं सम्पन्न कर सकते हैं? इसीलिए भारतीय विचारकों ने मानव-जीवन को आश्रम और वर्ण में विभाजित कर दिया है और उन्हीं के अनुसार कर्त्तव्यों का उल्लेख किया है। फिर जो सम्बन्ध किसी मनुष्य का अपने पिता के प्रति है वही कर्त्तव्य अपने मित्र के प्रति या अपने पुत्र के प्रति नहीं होगा। उनका भी विस्तृत उल्लेख भारतीय विचारकों ने किया है। भारतीय आचारशास्त्र सम्पूर्ण मानव जीवन का प्रतिबिम्ब है। एक व्यक्ति का अपने सहचर, ईश्वर या अन्य प्राणियों के प्रति क्या कर्त्तव्य है, इसी बात की इसमें व्याख्या होती है। आचार, व्यवहार, प्रायश्चित तथा अशौच आदि सभी इसके अन्तर्गत हैं। इसलिए सर्वप्रथम हमें वर्ण और आश्रम के भेद को समझ लेना चाहिए, जिन पर हमारे कर्त्तव्य आधारित है।

वर्ण और आश्रम

पुराने ग्रन्थों में वेद ही सबमे पुरातन माना जाता है। उसी काल में आर्यों ने वर्ण-भेद किया था। पुरुष सूक्त में वर्ण-भेद का प्रथम वर्णन मिलता है। भारत में आर्यों के आने पर बताया जाता है कि उनका केवल

एक ही वर्ण था। पर परिस्थितियो के बदलने से उन्होंने चार वर्ण बनाया, ब्राह्मण, क्षत्रिय, वैश्य और शूद्र। यह वर्ण-भेद आरम्भ में कर्मों पर आश्रित था। वैसे लोग, जो ब्रह्म विद्या का पाठ करते थे उन्हे ब्राह्मण, जो देश की रक्षा का भार सम्भालते थे वे क्षत्रिय, जो तिजारत तथा व्यापार करते उन्हें वैश्य और जो दासत्व स्वीकार करते, उन्हे शूद्र बताया जाता था। धीरे-धीरे यह वर्ण-भेद, वंशानुसार परिवर्त्तित हो गया और ब्राह्मण का पुत्र घृणित से घृणित कर्म करने पर भी उसी वर्ण का माना जाने लगा। यही व्यवस्था आज तक है। वास्तव में इस वर्ण-भेद का आरम्भ मे दूसरा लक्ष्य बताया जाता है। प्रत्येक मनुष्य का बँटा हुआ कर्म था और सब एक दूसरे के लिए आवश्यक थे। वर्ण के ही अनुसार सब का कर्त्तव्य निर्धारित था। इसकी चर्चा आगे की जायगी।

वेद के ही अग उपनिषद् हैं। इसी काल मे आश्रम-भेद किया गया है। सम्पूर्ण जीवन को चार आश्रमो में बाँटा गया है—ब्रह्मचर्य, गार्हस्थ्य, वाणप्रस्थ और सन्यास। विद्यार्थी जीवन ही ब्रह्मचर्य आश्रम है। एक या अधिक वेदों का अध्ययन ही इस काल की विशेषता है। पारिवारिक जीवन गार्हस्थ्य आश्रम है। इसमे यज्ञ इत्यादि धार्मिक कर्मकाण्ड के पालन की आशा की जाती है। वाणप्रस्थ आश्रम मे प्रायश्चित, जप तथा उपवास इत्यादि मे समय व्यतीत होता है और सन्यास धारण कर लेने पर अर्थात् जब मनुष्य गृह त्याग देता है तब वह सन्यास आश्रम मे आ जाता है। इस अवस्था मे उसकी कोई सम्पत्ति नहीं रहती और एक ही कामना रहती है, ईश्वर की प्राप्ति। वेद के चारों अग, संहिता, ब्राह्मण, आरण्यक और उपनिषद् चारों आश्रमो के अनुकूल हैं। ब्रह्मचर्य आश्रम के लिए संहिता का याद करना, गार्हस्थ्य आश्रम के लिए ब्राह्मण अर्थात् यज्ञ-तप इत्यादि संस्कारो का पूरा करना, वाणप्रस्थ आश्रम के लिए आरण्यक और सन्यास आश्रम के लिए दर्शन अर्थात् उपनिषद्। इन चारो आश्रमो मे मनुष्य का कर्त्तव्य भिन्न होता है। इसका उल्लेख आगे मिलेगा।

सम्पूर्ण जीवन का चार आश्रमो में बाटना मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी उपयुक्त प्रतीत होता है। मनोवैज्ञानिक दृष्टि से भी मानव जीवन का पहला भाग ही सीखने तथा अनुभव उपार्जन करने के लिए उपयुक्त है। दूसरे भाग मे जब मनुष्य युवा हो जाता है तो उसे विवाहित जीवन व्यतीत करना पड़ता है। वह पारिवारिक जीवन मे ही व्यस्त हो जाता है। फिर ऐसी अवस्था आती है जब वह अपने जीवन की सफलताओं तथा दोषो पर स्वयं विचार करने लगता है। उसे भूत की निस्सारता और जीवन की क्षणभंगुरता के विचार आने लगते हैं। अन्त में उसे विरक्ति की भावना होती है और क्षणभगुर जीवन का विश्वास जम जाता है। साधारणत. मनुष्य के जीवन मे उसकी विचार-धारा की यही गति तथा अवस्थाएं होती हैं। इसीके अनुसार जीवन का चार आश्रमों में विभाजन भी प्रतीत होना है।

इक्कीसवाँ परिच्छेद

भारतीय आचारशास्त्र के मौलिक प्रत्यय

धर्म-अधर्म

धर्म शब्द का कई अर्थों मे प्रयोग होता है। इसका अर्थ प्रकृति, नियम, न्याय, शील, कर्त्तव्य, कर्म इत्यादि है। दार्शनिकों ने भी इसे भिन्न अर्थों में व्यवहृत किया है। मैकेन्जी का मत है कि पहले धार्मिक और नैतिक कर्त्तव्यों में कोई अन्तर नहीं माना जाता था और सभी मान्य आचारण धर्म कहे जाते थे। धर्म शब्द 'धृ' धातु से बना है। धृ का अर्थ है धारण करना। अतः जो धारण करने योग्य हो वही धर्म है। पर जहाँ आचरण का प्रसंग है, वहाँ वैसे कर्म जो वेद, श्रुति इत्यादि शास्त्रों के अनुकूल हो, उन्हे धर्म कहा जाता है। इसका यह अर्थ नहीं है कि जो धर्मशास्त्रों में न मिले वह अधर्म है। जो इन शास्त्रों में निषेध है वही अधर्म है। धर्मशास्त्रों मे मनुष्य के हर प्रकार के कर्त्तव्यों का, आचार, व्यवहार, प्रायश्चित तथा अशौच-संबंधी उल्लेख मिलता है। माता-पिता, परिवार, समाज, राज्य तथा अन्य जीवों के प्रति कैसा आचरण होना चाहिए, ये सभी बातें वहाँ प्राप्य हैं।

श्रुति, स्मृति आदि शास्त्रों में कहे हुए कर्म ही धर्म हैं। श्रुति, वेद है और स्मृति मनु की लिखी हुई बातें। ये प्रतिकूल नही हैं। सभी धर्म उन्ही से प्रकाशित हुए हैं। वेद, स्मृति, सदाचार तथा आत्मा को प्रिय होना, यही धर्म के चार लक्षण हैं।

मीमासा मे 'अलौकिक श्रेयस्साधन' को धर्म कहा गया है। वह साधन जिससे श्रेयस अर्थात् आनन्द हो और क्यों यह फल हुआ अर्थात् ऐसा हुआ यह अलौकिक या अदृश्य हो वही धर्म है। यदि हम कोई कर्म करें और उससे सुख मिले और क्यों यह फल हुआ यह ज्ञात हो तो वह सासारिक दृष्टि से तो धर्म हुआ पर वास्तव में अलौकिक श्रेयस्साधन नहीं हैं, इसलिए वैसे कर्म धर्म नही

हैं। यदि क्रिया और उनके फल का संबंध ज्ञेय नहीं हो तभी वह धर्म है। अत क्या धर्म है और क्या अधर्म है यह वेद की विधि और निषेध पर ही निर्भर है। इसीलिए उन्होने धर्म को चोदनालक्षण वतलाया है। शास्त्रो के आदेशो को चोदना कहा गया है। अत. वेदों के प्रत्यक्ष या अप्रत्यक्ष आदेशो द्वारा ही धर्म-अधर्म का निर्णय किया जा सकता है।

अन्य दार्शनिको ने धर्म का दूसरा अर्थ लगाया है। साख्य के अनुसार धर्म मानस की एक विशेष वृत्ति है। अत इससे पुरुष अछूता है। मानस का विकास प्रकृति से होता है, अत धर्म-अधर्म पुरुष को प्रभावित नहीं करते।

न्याय और वैशेषिक के अनुसार धर्म आत्मा का विशेष गुण है। यह आत्मनिष्ठ है। धर्म कर्मों में नही अपितु आत्मा मे है। अत· अभिसंधि (Intention) पर ही धर्म-अधर्म निर्भर है। यदि अभिसंधि शुद्ध है तव धर्म और दुष्ट है तो अधर्म होगा। इसके विपरीत मीमासा मे धर्म को विषयगत (objective) वतलाया गया है। धर्म कर्म में है न कि आत्मा मे। वैसे कर्म धर्म हैं जो शास्त्रो द्वारा आदेशित हो (चोदना लक्षण)।

धर्मों का वर्गीकरण:-

मनु के अनुसार धर्म (Duty) दो प्रकार के हैं, वर्णाश्रम धर्म और साधारण धर्म। प्रत्येक वर्ण का अलग-अलग कर्त्तव्य है और उसी प्रकार आश्रम का। अत. जिस वर्ण या आश्रम मे कोई मनुष्य है उसका उसीके अनुसार धर्म होगा। यह हुआ वर्णाश्रम धर्म। अत वर्णाश्रम धर्म सापेक्षिक (Relative) है, क्योंकि यह व्यक्ति के वर्ण और आश्रम पर आश्रित है। पर साधारण धर्म सभी मनुष्य के लिए है चाहे वह किसी भी वर्ण या आश्रम में हो। मनुष्य को मनुष्य होने के नाते इसका पालन करना है। अतः यह निरपेक्ष है। वास्तव मे साधारण धर्म और वर्णाश्रम धर्म एक दूसरे के प्रतिकूल नही हैं। प्रत्येक मनुष्य का मनुष्य के नाते कुछ धर्म है और साथ-साथ अपने समाज के प्रति कुछ कर्त्तव्य है। अत ये दो प्रकार के धर्म हुए।

धैर्य, क्षमा, दम, चौर्याभाव, शौच, इन्द्रिय निग्रह, धी, विद्या, सत्य और अक्रोध ये दस साधारण धर्म हैं।

धर्मों की इस सूची से स्पष्ट है कि मनु ने आत्मापूर्त्ति की ओर विशेष ध्यान दिया है। ये सभी धर्म आत्मनिष्ठ हैं और इनके अनुसार कर्त्तव्य करने से आत्म-प्राप्ति ही होगी। यह विचार कर्म सिद्धान्त के अनुकूल है। एक व्यक्ति अपने कर्मों के द्वारा दूसरे के नैतिक उत्थान का साधन नहीं हो सकता। अपने कर्मों का फल मनुष्य अपने ही भुगतता है। प्रत्येक वर्ण और आश्रम के अलग-अलग धर्म हैं। ब्राह्मण का धर्म है पूजा-पाठ तथा अन्य व्यक्तियों को आदर्श-पथ दिखलाना। क्षत्रिय-धर्म है प्रजापालन तथा देश की रक्षा। वैश्य-धर्म है क्रय-विक्रय द्वारा देश को धन-सम्पन्न बनाना और शूद्र का सफाई। इसी प्रकार ब्रह्मचर्य-आश्रम में वेद अध्ययन, गार्हस्थ-आश्रम में यज्ञ तथा संतानोत्पत्ति, वाणप्रस्थ-आश्रम मे जप-तप-उपवास और सन्यास में दर्शन तथा ईश्वर-प्राप्ति। हम इन भारतीय विचार को ब्राडले के मत से तुलना कर सकते हैं।

प्रसस्तपाद ने भी मनु ही की भांति दो प्रकार का धर्म बतलाया है—सामान्य-धर्म और विशेष-धर्म; सामान्य-धर्म हर मनुष्य के लिए है और विशेष-धर्म प्रत्येक वर्ग और आश्रम के लिए।

(a) सामान्य-धर्म—धर्म के प्रति श्रद्धा, अहिंसा भूतहितत्व अर्थात् सभी जीवों की भलाई, सत्य वचन, अस्तेय, ब्रह्मचर्य, अनुपधा, क्रोध वर्जना, स्नान, शुचि, द्रव्य सेवन, विशिष्ट देवता-भक्ति, उपवास और अप्रमाद।

(b) विशेष धर्म भी दो प्रकार के होते हैं, वर्ण-धर्म और आश्रम-धर्म। फिर वर्ण-धर्म भी दो प्रकार के हैं; एक वैसे जो सभी वर्णों के लिए सामान्य हैं और दूसरे विशेष।

.. धृति क्षमा दमोऽस्तेयंशौचमिन्द्रिय निग्रह।
धीर्विद्या सत्यमक्रोधो दशकं धर्म-लक्षणम्॥

(i) सामान्य वर्ण-धर्म हैं—यज्ञ, अध्ययन और दान।

(ii) विशेष वर्ण-धर्म ब्राह्मण के लिए—प्रतिग्रह (दान स्वीकार करना), अध्यापन और यज्ञ। क्षत्रिय के लिए प्रजापालन, असाधुनिग्रह और युद्ध से नहीं भागना।

वैश्य के लिए—क्रय, विक्रय, कृषि, पशु-पालन और शूद्र के लिए असंत्रिका क्रिया।

(c) आश्रम-धर्म—यों तो सभी आश्रमों के लिए लम्बी सूची है पर ब्रह्मचर्य-आश्रम के लिए मुख्य धर्म है ब्रह्मचर्य पालन, गुरु सेवा तथा अध्ययन, गृहस्थ-आश्रम के लिए संतान की उत्पत्ति तथा यज्ञ, वाणप्रस्थ आश्रम के लिए वल्कलादि धारण, केश धारण, कंद मूल खाना तथा अतिथि सत्कार में जो बच जाय वह खाना और सन्यास आश्रम में पहुंचने पर सभी यम और नियमों का पालन करना।

मीमांसा में दूसरी दृष्टि से धर्म का दो प्रकार बतलाया गया है, लौकिक और शास्त्रिक या पारमार्थिक। लौकिक कर्म दृष्टार्थक और पारमार्थिक कर्म अदृष्टार्थक हैं।

शास्त्रिक कर्म दो प्रकार के हैं—काम्य कर्म और नित्यनैमित्त कर्म। काम्य कर्म सापेक्षिक है। यदि किसी विशेष फल की आकांक्षा से कोई कर्म किया जाय तो वह काम्य कर्म होगा। नित्यनैमित्त कर्म निरपेक्ष हैं। नित्य-कर्म सभी काल के लिए आवश्यक हैं और नैमित्त कर्म कोई विशेष निमित्त आने पर, जैसे संध्या नित्य-कर्म है पर सूर्य या चंद्रग्रहण के अवसर पर गंगा-स्नान नैमित्त कर्म। शास्त्रिक कर्म निषेधात्मक या विधात्मक दोनों हो सकते है।

रामानुज के अनुसार ईश्वर ही नैतिक आदर्श है और मनुष्य के धर्म उसीसे व्युत्पन्न होते हैं। ईश्वर में आदर्श रूप मे निम्नलिखित कल्याणकारी गुण है—शक्ति देना, अज्ञानी को ज्ञान देना, क्षमा और सहृदयता। अतः मनुष्य के भी यही धर्म है।

धर्म और कर्त्तव्य

कर्त्तव्य शब्द कृ धातु से व्युत्पन्न हुआ है जिसका अर्थ है करना। अतः कर्त्तव्य का अर्थ है किया जाने योग्य कर्म। वैसे कर्म जो मनुष्य को करना चाहिए वे ही उसके कर्त्तव्य हैं।

कर्त्तव्य के साथ 'चाहिए' की भावना निहीत है। कर्त्तव्य द्वारा निर्दिष्ट कर्मों को किया जाय या नहीं पर 'उसे करना चाहिए' की भावना हममें रहती है। यह भावना मनुष्य की प्रकृति पर ही निर्भर है। मनुष्य की प्रकृति नैतिक है और इसीलिए उसके स्वभाव से ही ऐसी भावना उत्पन्न होती है। यही विचार यूरोपीय दर्शन में आत्मपूर्णतावादियों का है।

प्रत्येक मनुष्य का वातावरण और उसका व्यक्तित्व दूसरे मनुष्यों से भिन्न होता है। अत. देश, काल और पात्र के अनुसार ही मनुष्य का कर्त्तव्य निर्धारित होता है।

किसी विशेष देश और काल में मनुष्य को क्या करना चाहिए, वही उसका कर्त्तव्य है। कर्त्तव्य धर्म से ही व्युत्पन्न किया जा सकता है। धर्म सामान्य सिद्धान्त रूप मे है और कर्त्तव्य उन्हीं के अनुसार विशेष कर्म। क्षमा धर्म है पर किसी विद्यार्थी ने यदि हमारी निन्दा की तो उसको क्षमा कर देना हमारा कर्त्तव्य है। धर्म से ही कर्त्तव्य निकलते हैं। दोनो मे विरोध नहीं है। कर्त्तव्य धर्म के विपरीत नहीं हो सकता।

पाप-पुण्य

पुण्य का अर्थ है वह क्रिया जिससे आत्म-प्राप्ति हो और वह जिससे आत्म-प्राप्ति में सहायता न मिले उसे पाप कहा जाता है। धर्म के अनुसार आचरण से ही मनुष्य को आत्म-प्राप्ति होती है। अतः धर्मानुकूल कर्मों को पुण्य और धर्म विपरीत अर्थात् अधर्म को ही पाप कहा जाता है। धर्म के अनुकूल का अर्थ है शास्त्रों के अनुकूल। अत शास्त्र-विरुद्ध कर्मों के करने से पाप और उनके अनुकूल कर्मों के आचरण से पुण्य होता है। सत्य, अहिंसा, क्षमा आदि का मार्ग पुण्य और झूठ, हिंसा आदि पाप हैं।

चरित्र के दोष का वाहरी रूप पाप और सद्‌गुणों का वाहरी रूप पुण्य है। पुण्य नैतिक शुभाचरण का नाम है और पाप नैतिक दुराचरण का। पुण्य और पाप शुभाचरण और दुराचरण द्वारा अर्जन किए गए गुणों को भी कहा जाता है, जैसे उसने पुण्य कमाया है या तुम्हे पाप होगा। इसी अर्थ में वह व्यक्ति जो सदा शुभाचरण करता है उसे पुण्यात्मा और सदा दुराचार करनेवाला पापात्मा कहा जाता है।

मन, वचन और कर्म तीनो से पाप या पुण्य हो सकता है। बहुधा मानसिक-पाप पाप नहीं माना जाता, पर ऐसा समझना भूल है। विचार का भी प्रभाव मनुष्य के चरित्र पर पड़ता है; अत विचार अनैतिक होने से भी चरित्र कलुषित हो जाता है। मन, वचन और कर्म तीनो की शुद्धता चरित्र की शुद्धता के लिए आवश्यक है। कर्मों का ही फल मनुष्य के भविष्य पर पड़ता है; अत पुण्य करने से आनन्द और पाप से पुनर्जन्म तथा कष्ट होता है। यह आवश्यक नहीं है कि पुण्य और पाप कर्मो का फल इसी जीवन में मिले। ऐसे वहुत से कर्म हैं जिनका फल दूसरे जीवन मे मिलता है और कुछ कर्मों का इसी जीवन में।

पाप और पुण्य चरित्र के वाहरी रूप हैं; अत वे सापेक्षिक हैं। जो पाप या पुण्य किसी विशेष परिस्थिति मे हैं वह दूसरी परिस्थिति मे वैसे नहीं भी हो सकते हैं।

पुण्य-पाप मनुष्य की अभिसन्धि (Intention) पर ही निर्भर है। पर कुछ विचारकों ने कर्म फल पर ही पाप-पुण्य का निर्णय छोड़ा है। वैसे कर्म जिनसे सुख मिलता है, पुण्य और वैसे जिनसे दु:ख, पाप। पर यह विचार उचित नहीं प्रतीत होता। वहुत से कर्म जो अधर्म हैं उनसे भी सुख मिलता है पर उन्हे पुण्य नहीं कहा जा सकता। अत पुण्य-पाप कर्म फल पर नहीं अपितु अभिसन्धि पर ही आश्रित हैं। यदि अभिसन्धि विशुद्ध (Pure) है तब पुण्य और यदि समक्लेशाग है तब पाप होता है।

समक्लेशाग अभिसन्धि के दो स्वरूप हो सकते हैं—(१) आर्त्त (दुखदायी) जैसे, अमनोजन, दु ख से भागने का प्रयत्न या सुख से बिछुड़ने पर उसे पाने का प्रयत्न या वेदना या अप्राप्त ऐश्वर्य की प्राप्ति का संकल्प (निदान), (२) रौद्र (हिंसात्मक) जैसे हिंसा, अनर्त, स्तेय, विषय संरक्षण।

इसी प्रकार विशुद्ध अभिसन्धि के दो स्वरूप हो सकते हैं—(१) धर्म का ध्यान और (२) सुख का ध्यान।

उपर्युक्त मत पाश्चात्य अन्त अनुभूतिवाद (Intuitionism) से मिलता है। वे सुखवादियों (Hedonists) के मत से सहमत नही है कि नैतिक निर्णय कर्म फल पर आश्रित है बल्कि वे उद्देश्य को ही नैतिक निर्णय का आधार बतलाते हैं।

कुछ विचारकों ने पाप-पुण्य की कई कोटियाँ बतलाई हैं, जैसे पाप, अतिपाप और महापाप, पुण्य, अतिपुण्य और महापुण्य।

निःश्रेयस

श्रेय का अर्थ है कल्याणकर। अत नि श्रेयस का अर्थ है परम कल्याण-कारी अवस्था। मनुष्य का कल्याण का अर्थ है दु ख से निवृत्ति अतः परम-कल्याणकारी अवस्था वह है जिसमें कभी दु ख नहीं अर्थात् मुक्ति। मोक्षावस्था ही निःश्रेयस है। नि श्रेयस परमशुभ (Highest good) है। नि श्रेयस निरपेक्ष श्रेय है। श्रेय दो प्रकार के हैं, सापेक्ष और निरपेक्ष। वैसे कल्याणकारी कर्म जो किसी उच्च लक्ष्य के साधन हैं सापेक्ष श्रेय हैं। वह जो स्वत· साध्य हो, साधन नहीं, सर्वोच्च शुभ या नि श्रेयस है। यही मानव जीवन का चरम लक्ष्य है।

श्रेय और प्रेय में अन्तर होता है, हालांकि साधारणत: इस भेद को हम भूले रहते हैं। जो प्रिय (Pleasant) है उसे प्रेय कहा जाता है और जो श्रेयस्कर (Good) हो वह श्रेय है। प्रेय केवल आनन्ददायक है, पर श्रेय से आत्म-संतोष होता है। दोनों से सुख लाभ

होता है पर प्रेय का सम्बन्ध विषय सुख से है तथा श्रेय का अपरोक्ष सुख से। आत्मप्रीति या आत्मसंतोष ही श्रेय है। इससे आत्मा को सुख प्राप्त होता है। वास्तव में मनुष्य जो भी कर्म करता है वह आत्मप्रीति अर्थात् आत्मसंतोष के लिए ही। पति अपनी पत्नी को इसलिए प्रिय है कि उससे आत्मसंतोष होता है। धन, मान, मर्यादा आदि हम आत्मसंतोष के लिए ही चाहते हैं। आत्मप्रीति ही सभी कामनाओं का मूल है। पर वैसे सुख जो विषयों की कामना करके प्राप्त करना चाहते हैं, प्रेय है। वैसे सुखों से वास्तविक आनन्द नहीं होता। मनुष्य की शारीरिक प्रवृति उसे प्रेय की ओर आकर्षित करती है पर उसकी आध्यात्मिक प्रकृति श्रेय की ओर। श्रेय और प्रेय मिश्रित रूप में मनुष्य के सामने उपस्थित होते है। अज्ञानी प्रेय को चुनते है और उससे सुख की आशा करते हैं। ज्ञानी मनुष्य ही श्रेय का चुनाव करते है। मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य है वास्तविक सुख या आत्म-संतोष। यही निश्रेयस (Highest good) है। ज्ञान से ही निश्रेयस प्राप्त हो सकता है। अविद्या से ही हम केवल प्रेय अर्थात् विषय-सुख की कामना करते हैं। सुख और दुःख सापेक्षिक हैं। अत सुख के साथ दुःख भी अवश्य ही होगा। प्रेय से विरक्त होकर ही निश्रेयस प्राप्त किया जा सकता है। अविद्या के कारण ही मनुष्य श्रेय और प्रेय का भेद नहीं जानता। ज्ञान हो जाने पर यह भेद स्पष्ट हो जाता है। आत्मलाभ या आत्म-संतोष या आत्म-प्राप्ति ही निश्रेयस है।

मोक्षावस्था:— अधिकतर विचारकों ने मोक्ष को ही निश्रेयस माना है। पर मोक्षावस्था क्या है इसके विषय में भिन्न-भिन्न मत हैं।

वैशेषिक मत:— उनके अनुसार मनुष्य को अनुभव के कारण ही दुःख होता है। अत: आत्मा की अनुभवरहित अवस्था ही मुक्ति है। यह तभी सम्भव है जब आत्मा का सभी गुणों से विच्छेद हो जाय। गुण नौ हैं—बुद्धि, सुख, दुख, इच्छा, द्वेष, प्रयत्न, धर्म, अधर्म, और संस्कार। आत्मा मुक्तावस्था में इनसे मुक्त रहता है। इसलिए मोक्षावस्था आत्मा में चेतना का भी

अभाव रहता है। आत्मचेतना से ही मुक्ति प्राप्त होती है। उस अवस्था में न सुख होता है और न दुख होता है—केवल संतोष, वह भी चेतन रूप मे नहीं।

न्याय मत उपर्युक्त मत से मिलता है। नैयायिक उस अवस्था में सन्तोष को भी स्थान नहीं देते। सुख और दुख सापेक्षिक हैं, अत मोक्षावस्था में केवल सुख की ही कल्पना करना निर्मूल है। यदि सुख होगा तो दुख भी अवश्य ही होगा। अत अनुभवरहित अवस्था ही मोक्षावस्था है।

साख्य मत के अनुसार भी अनुभवरहित अवस्था ही मोक्षावस्था है। वास्तव में सुख और दुख मानस मे ही होता है। मन प्रकृति का विकसित रूप है। अविवेक के कारण जब आत्मा (पुरुष) मन से एकाकार कर लेता है तब प्रतीत होता है कि सुख और दुख उसीमे होता है। पर विवेक ज्ञान के द्वारा पुरुष और प्रकृति का भेद ज्ञात हो जाने पर आत्मा सुख और दुख अर्थात् अनुभवों से मुक्त हो जाता है।

पूर्व मीमासा के अनुसार प्रत्येक शरीर मे भिन्न भिन्न आत्माएं हैं। आत्माओं में चेतन और जड अश दोनों हैं। इसका चेतन अश ही अनुभवकर्त्ता है। इसके अचेतन अश में ही अनुभवों मे परिवर्त्तन होता है। यह परिवर्त्तन अनादि और नित्य है। अत आत्मा अनुभवों से निवृत नहीं हो सकता। इसलिए अनुभव से निवृति सम्भव नहीं है। अनुभवरहित अवस्था जड़ावस्था है। मोक्षावस्था की वैसी कल्पना नहीं की जा सकती। नित्य सुखाभिव्यक्ति ही मोक्षावस्था है

वेदान्त मत के अनुसार मोक्षावस्था आनन्दावस्था है। सुख दो प्रकार को हैं, एक अनुभवजन्य सुख और दूसरे अपरोक्ष सुख। जब आत्मा और परमात्मा का भेद मिट जाता है अर्थात् "मै" और ब्रह्म का द्वैत मिट जाता है, जब आत्मा परमात्मा एक हो जाते हैं तब अपरोक्ष सुख अर्थात् आनन्द होता है। वही मोक्षावस्था है।

पुरुषार्थ

पुरुषार्थ शब्द दो शब्दों 'पुरुष' और 'अर्थ' के संयोग से बना है। अतः पुरुषार्थ का अर्थ हुआ जो पुरुष के लिए लाभदायक हो। जिस लक्ष्य से मनुष्य कोई कर्म करता है वह उसे लाभदायक प्रतीत होता है। अत: व्यक्ति के कर्मों के लक्ष्य को ही पुरुषार्थ कहा जाता है। जिनके लिए मनुष्य की चेष्टाएं होती हैं, वे ही उसके पुरुषार्थ हैं। चार्वाक को छोड़ अन्य भारतीय दार्शनिकों ने मनुष्य के कर्मों का चार लक्ष्य बतलाया है, काम, अर्थ, धर्म और मोक्ष। ये ही चारों मनुष्य के पुरुषार्थ हैं।*

काम मनुष्य का मौलिक पुरुषार्थ है। काम शब्द सामान्य अर्थ में व्यवहृत होता है या विशेष अर्थ में। सामान्य अर्थ में विषयानुभवजन्य सुख काम है अर्थात् वाह्य वस्तु जो सुखद प्रतीत हो उसके अनुभव की इच्छा काम है। काम के अन्तर्गत केवल इन्द्रियजन्य सुख ही नहीं बल्कि मानसिक सुख भी आ जाता है। सुख और आनन्द दोनों इसके अन्तर्गत हैं। किसी सुखप्रद वस्तु की इच्छा काम है जो चाहा जाय। विशेष अर्थ में काम का अर्थ है लिंग-क्रिया। इसी अर्थ में काम-वासना में लिप्त मनुष्य को कामी कहा जाता है। पर यह सुख भी इन्द्रियजन्य सुख ही है, अतः काम के सामान्य अर्थ में चला आता है।

जब मनुष्य के कर्मों का लक्ष्य धन या सम्पत्ति की प्राप्ति हो तो उसे अर्थ कहा जाता है। मनुष्य को जीने के लिए किसी न किसी प्रकार की सम्पत्ति आवश्यक है, जमीन, रुपया या कोई अन्य सम्पत्ति। जीने की प्रवृत्ति जन्मजात है। अतः सम्पत्ति की इच्छा भी मौलिक इच्छाओं में है। धर्म का अर्थ है

* चारों पुरुषार्थों के लिए अलग-अलग शास्त्र भी है, कामशास्त्र, अर्थ-शास्त्र, धर्मशास्त्र और मोक्षशास्त्र। कामशास्त्र मे वात्स्यायन का काम-सूत्र, अर्थशास्त्र मे चाणक्य के विचार, धर्मशास्त्र मे मनुस्मृति और मोक्षशास्त्र के लिए उपनिषद, गीता आदि प्रामाणिक हैं।

धारण करने योग्य कर्म। अत जब मनुष्य नैतिक कर्मों के आचरण की इच्छा करता है तो उसे ही धर्म कहते हैं। कर्त्तव्यों का पालन, नियमानुकूल अर्थात् शास्त्रों के अनुकूल कर्म की इच्छा ही धर्म है।

संसार के बन्धनों से छुटकारा की इच्छा ही मोक्ष पुरुषार्थ है। संसार दुखमय है। दुख से मनुष्य छुटकारा चाहता है। पर जब तक कर्म-बन्धन से छुटकारा न हो जाय पुनर्जन्म होगा ही और मनुष्य बन्धन अर्थात् दुख में रहेगा। ससार से छुटकारा और दुख से निवृत्ति ही मोक्ष कहा जाता है। मनुष्य इसकी भी इच्छा करता है। अत यह भी एक पुरुषार्थ है। दुख मनुष्य के अज्ञान के कारण होता है। अज्ञान दूर होने से मुक्ति प्राप्त होती है। मोक्षावस्था में दु ख से छुटकारा हो जाता है। पर मोक्ष और काम मे अन्तर है। काम से सुख सीमित है पर मोक्ष से असीमित। मोक्ष मे बाह्य पदार्थों की प्राप्ति से सुखानुभूति नहीं होती। जैन, बौद्ध, साख्य तथा वेदान्त के अनुसार मोक्ष इसी जीवन मे प्राप्त किया जा सकता है। उस अवस्था को जीवन-मुक्ति कहा जाता है। मोक्षावस्था के सम्बन्ध मे दार्शनिकों के विचार भिन्न हैं।

इन पुरुषार्थों मे कौन मुख्य है और कौन गौण? स्वाभाविक प्रवृत्ति की दृष्टि से पहला स्थान काम का तब अर्थ, फिर धर्म और बाद मे मोक्ष का है। बाह्य वस्तुओं की प्राप्ति से सुख की अभिलाषा स्वाभाविक है। अर्थ की कामना भी सामान्य और साधारण है। धर्म और मोक्ष बाद मे आते हैं। पर आदर्श जीवन की दृष्टि से पुरुषार्थों का क्रम वैसा नहीं है। धर्म और अर्थ मानव-जीवन के मुख्य लक्ष्य नहीं हैं। ये काम और मोक्ष के साधन मात्र हैं। काम और मोक्ष दोनों चरम लक्ष्य हैं। पर इन दोनों मे भी मोक्ष ही सर्वोच्च लक्ष्य है। मोक्ष ही परम पुरुषार्थ या निश्रेयस है। धर्म हालाकि मानव-जीवन का चरम लक्ष्य नहीं है, पर उसे अर्थ, काम और मोक्ष तीनों मे आवश्यक विचारा गया है। बिना धर्म के अर्थ या काम पुरुषार्थ नहीं विचारा जा सकता। सम्पत्ति या धन पुरुष का लक्ष्य है। पर अधर्म के साधन से सम्पत्ति ग्रहण करना वास्तविक पुरुषार्थ नहीं है। इसी आधार पर कहा गया है कि अपनी

आवश्यकताओं से अधिक प्राप्त करने की चेष्टा पाप है। इसी प्रकार धार्मिक वृत्तियों के द्वारा वाह्य वस्तुओं की प्राप्ति से सुखकामना ही पुरुषार्थ है। धर्म के अभाव से अर्थ और काम की इच्छा मनुष्य को दूपित वना देती है और वे इच्छा के योग्य अर्थात् पुरुषार्थ नही रहते। अत सभी पुरुषार्थों का अपना-अपना क्षेत्र है और अपने क्षेत्र से अतिक्रमण करने पर वे इच्छनीय अर्थात् पुरुषार्थ नही रहते।

उपरोक्त विचार से यूरोपीय आचारशास्त्र के मूल्यवाद की तुलना की जा सकती है। अर्वन ने मानवीय मूल्यों को आठ वर्गों मे रखा है और उन्हें आत्मपूर्णता की दृष्टि से धार्मिक मूल्यों को सर्वोच्च वतलाया है।

—::o::—

बाईसवाँ परिच्छेद

आचारशास्त्र का मनोवैज्ञानिक आधार

प्रवृत्ति (Volition)

विषय-प्रवेश

आचार शास्त्र मे कर्त्तव्य का विचार किया जाता है। मनुष्य को क्या करना चाहिए तथा उसके जीवन का चरम लक्ष्य क्या है, किन साधनो से उस लक्ष्य की प्राप्ति सम्भव है, इसका इसमें ज्ञान मिलता है। पर किन चेष्टाओं से मनुष्य चरम लक्ष्य या निःश्रेयस को प्राप्त कर सकता है, इसका विचार करने के लिए हमें मनुष्य की प्रकृति तथा चेष्टाओं के स्वरुप को जानना आवश्यक है। यह विषय मनोविज्ञान का है। अतः कर्मों का विश्लेषण, उसके स्वरुप का विचार आदि आचारशास्त्र के मनोवैज्ञानिक आधार हैं। यूरोपीय दार्शनिकों ने भी आचारशास्त्र मे कर्मों का विश्लेषण तथा कार्यस्रोत आदि का विस्तारपूर्वक विचार किया है।

प्रवृत्तिः—

मनुष्य के कर्म दो प्रकार के होते हैं। जीवनपूर्वक और इच्छा-द्वेष-पूर्वक। जीवनपूर्वक कर्म मनुष्य की स्वयं संचालित क्रियाएं हैं, जैसे छींकना स्वास लेना, इत्यादि। ऐसे कर्मों मे सचेतन प्रयत्न का अभाव है। ये क्रियाए शरीर या जीव के पोषन के लिए आवश्यक हैं। ऐसी क्रियाओं में धर्म-अधर्म का प्रश्न नहीं होता। इनमें मनुष्य की इच्छा निहीत नहीं है।

इच्छा-द्वेष-पूर्वक कर्म मनुष्य के सचेतन प्रयत्न हैं। ये मनुष्य के एच्छिक कर्म हैं। इनमे लक्ष्य तथा लक्ष्य के चुनाव आदि की चेतना रहती है। इनमें मनुष्य का संकल्प निहित है। ऐसे ही कर्मों में धर्म-अधर्म का विभेद

होता है। वैसी क्रिया जिसमें संकल्प किया गया हो प्रवृत्ति है। प्रशस्तपाद के अनुसार ऐसे कर्मों का लक्ष्य है हित प्राप्ति अर्थात् शुभ का चुनाव और अहित परिहार अर्थात् अशुभ को न चुनना। दूसरे शब्दों में इच्छाद्वेषपूर्वक कर्म में मनुष्य को कर्म फल की चेतना रहती है और वह हित प्राप्ति और अहित परिहार के लक्ष्य से चुनाव करके प्रयत्न करता है। दिनकर भट्ट ने कर्मों का (कृति का) तीन भेद बतलाया है, प्रवृत्ति, निवृत्ति तथा जीवनयोनि प्रयत्न। जीवनयोनि प्रयत्न स्वयं संचालित क्रियाएं हैं। प्रवृत्ति और निवृत्ति, दोनों ही ऐच्छिक कर्म हैं। प्रवृत्ति में शुभ को प्राप्त करने की इच्छा और निवृत्ति में अशुभ परिहार होता है पर विस्तृत अर्थ में दोनों को प्रवृत्ति ही कहा जा सकता है, इसलिए कि दोनों ऐच्छिक कर्म हैं। ऐसे कर्मों में अर्थात् प्रवृत्ति में दिनकर भट्ट के अनुसार केवल चेतन चुनाव ही नहीं, बल्कि इस चुनाव में मनुष्य स्वाधीन है (स्वेच्छाधीन), इसकी चेतना रहती है। अत प्रवृत्ति या ऐच्छिक कर्म में संकल्प-स्वातंत्र्य की चेतना रहती है।

आचारशास्त्र का सम्बन्ध प्रवृत्ति अर्थात् ऐच्छिक कर्म से है। अत: हमें प्रवृत्ति का स्वरूप जान लेना चाहिए।

प्रभाकर ने प्रवृत्ति में निम्नलिखित तथ्यों को माना है —

(i) **कार्यता ज्ञान:**—कर्म करने के पहले क्रिया की चेतना होती है। सर्वप्रथम यही चेतना उत्पन्न होती है।

(ii) **चिकीर्षा (Desire)**—फिर इस बात की चेतना होती है कि यह क्रिया की जा सकती है।

(iii) **कृति या प्रवृत्ति (Volition)**—कार्य को स्व से एकीकरण कर लेना कृति है। इसमें कार्यताज्ञान, चिकीर्षा भी शामिल है।

(iv) **चेष्टा:**—इसके बाद शारीरिक क्रियाएं आरम्भ होती है। इन्हें चेष्टा कहा जाता है।

(v) **क्रिया**—अन्त में क्रिया की पूर्णावस्था आती है।

प्रभाकर के अनुसार कार्यताज्ञान मे क्रिया की चेतना होती है पर इसमें क्रिया की चेतना अर्थात् अप्राप्त वस्तु की चेतना मात्र नहीं वल्कि ऐसे वस्तु की केवल चेतना रहती है जिसका स्व से एकीकरण हुआ है। इसके अतिरिक्त कार्यताज्ञान में केवल क्रिया की चेतना नही, वल्कि उस कार्य को करने की योग्यता है और हमें उसे अवश्य करना है, इसकी भी चेतना रहती है। किसी वस्तु के विचार मात्र से उसकी प्राप्ति का संकल्प नही होता। इसमे 'मै कर सकता हू और मुझे अवश्य करना है' की चेतना रहती है।

कार्य करने की इच्छा चिकीर्षा है। उस प्रकार की इच्छा जिसके कृति द्वारा प्राप्त करने की तथा प्राप्त करने की योग्यता है इसकी, चेतना रहती है, चिकीर्षा है। इसमे कृतिसाध्यतज्ञान अर्थात् यह क्रिया की जा सकती है की चेतना रहती है। प्रभाकर चिकीर्षा में इष्टसाधनताज्ञान का अभाव वतलाते हैं। यह क्रिया हमारे शुभ का साधन है, इसकी चेतना इष्टसाधनताज्ञान है। नैयायिकों ने चिकीर्षा में इष्टसाधनताज्ञान का भाव भी वतलाया है। जव किसी क्रिया की इच्छा होती है तो यह चेतना भी वर्तमान रहती है कि उससे हमे सुख (इष्ट) मिलेगा। प्रभाकर कान्ट की भांति चिकीर्षा में भावना का अभाव वतलाते हैं, इसलिए इसमें हित की भावना का अभाव माना गया है।

प्रभाकर के अनुसार कृति में चिकीर्षा, कार्यताज्ञान के अतिरिक्त स्वविशेषण वत्ताप्रतिसंधान का भी भाव है। इष्टसाधनता के स्थान पर वे वतलाते हैं कि कृति में अप्राप्त वस्तु और स्व का एकीकरण रहता है।

प्रभाकर ने प्रवृत्ति को भावात्मक क्रिया के रूप में माना है जिसमें शुभ की प्राप्ति के लिए कर्म किए जाते हैं। पर प्रवृत्ति का व्यापक अर्थ लिया जाता है—सभी ऐच्छिक कर्म के रूप में, जिसमें शुभ की प्राप्ति और अशुभ के परिहार के लिए कर्म किए जाते हैं। इसलिए नैयायिकों ने प्रवृत्ति में चार तथ्यों को आवश्यक माना है।

(1) चिकीर्षा—(Desire)

(ii) कृतिसाध्यता ज्ञान—(the consciousness that it can be done)

(iii) इष्टसाधनता ज्ञान—(the consciousness that it is conducive to my good)

(vi) उपादान प्रत्यक्ष (the perception of means to attain the end)

चिकीर्षा—जब भी मनुष्य किसी कर्म का संकल्प करता है तो उसे कुछ करने की इच्छा होती है।

यदि चिकीर्षा न हो तो संकल्प कैसे होगा? चिकीर्षा के मूल में हैं हमारे राग और द्वेष। इनकी व्याख्या पीछे होगी।

कृतिसाध्यता ज्ञान—बिना स्वयं-शक्ति-चेतना के ऐच्छिक क्रिया नहीं हो सकती। "मै इस काम को कर सकता हूँ" इसकी चेतना कार्य के संकल्प के पहले आवश्यक है। इसीलिए ऐसे कर्मों का जो हमारी शक्ति के परे हैं हम संकल्प नहीं करते।

इष्टसाधनता ज्ञान—किसी क्रिया को करने के पहले यह भी चेतना रहती है कि यह श्रेय (good) है। किसी भी कर्म को कोई इसलिए करता है कि उसे वह श्रेय समझता है। इसमे बलवदनिष्ट अनुबन्धित्व ज्ञानाभाव भी रहता है अर्थात् किसी अहित की चेतना का अभाव। दूसरे शब्दों में जब हम किसी बात का संकल्प करते हैं तो हमे उससे किसी प्रकार का अहित होगा इस बात की चेतना का अभाव रहता है। यदि इस बात से अहित होगा इसकी चेतना रहे तो हम वैसे कर्मों को करें ही नही।

आत्महत्या इत्यादि की जड़ मे भी ऐसे ही बातें रहती हैं। मनुष्य को किसी भी कारण से इस बात की चेतना नही रहती कि इससे उसका अहित होगा और दूसरी बात कि वह समझता है कि इसीमे उसकी भलाई है।

कौनसी वात कत्र श्रेय good) है यह समय और स्थान पर आश्रित है। कोई वात अभी हमें ठीक जचें पर दूसरे समय ऐसा नही भी हो सकता है। अत. जिस वात की प्रवृत्ति अभी और यहाँ हो वह दूसरे समय और दूसरे स्थान पर नहीं भी हो सकती है।

कौन-सी वात श्रेय (good) है यह स्वयं मनुष्य के राग-द्वेष पर निर्भर है इसलिए किस वात की हमें प्रवृति होगी इसका मूल है राग और द्वेष।

उपादान प्रत्यक्ष—संकल्प करने के समय मे कैसे अर्थात् किस साधन (means) का प्रयोग किया जायगा यह निश्चित कर लिया जाता है, तभी कार्य अर्थात शारीरिक क्रिया आरम्भ होती है।

प्रभाकर और नैयायिको के मतों मे इष्टसाधनता ज्ञान को लेकर फर्क हो जाता है। यूरोपीय दार्शनिकों के अनुसार भी इच्छा मे अप्राप्त वस्तु शुभ है, इसकी चेतना वर्तमान रहती है। पर सभी प्रवृत्ति मे कार्यताज्ञान, चिकीर्षा तथा कृति का समावेश वतलाते हैं।

राग और द्वेष

प्रवृत्ति के मूल मे राग और द्वेष हैं। इन्हीं से प्रवृत्ति का उदय होता है जिस वस्तु से राग होती है उसके प्राप्त करने की तथा जिससे द्वेष है उसे परिहार करने की इच्छा से ही संकल्प का उदय होता है।

राग—किसी अनुकूल पदार्थ की अभिलाषा ही राग है। वैसे पदार्थ के प्रति जिससे सुख मिला हो प्रीति होती है और उन्हे हम प्राप्त करना चाहते हैं। इसी आनन्द भोग की इच्छा को राग कहा जाता है। इसी के कारण हम सासारिक वस्तुओं से आकर्षित होते हैं और उन्हें प्राप्त करने का प्रयत्न करते हैं। राग और कामना मे अन्तर है। कामना उन वस्तुओं की होती है जिसको हमने अभी तक उपभोग नहीं किया है। राग के विभिन्न रूप हैं।

(1) **काम**—यौन भाव (Sexual craving)

(ii) **मत्सर्य**----किसी वस्तु के पृथक करने की अनिच्छा जो देने से भी घट नहीं सकता।

(iii) **स्पृहा**-----सांसारिक पदार्थों को पाने की इच्छा।

(iv) **तृष्णा**----जीने की इच्छा

(v) **लोभ**-----किसी निषिद्ध वस्तु के पाने की इच्छा।

द्वेष (Aversion)—किसी प्रतिकूल पदार्थ के अग्रहण की अभिलाषा द्वेष है। जिस पदार्थ से दुःख की प्राप्ति हुई हो या प्राप्त होने की सम्भावना हो उसके प्रति घृणा या विकर्षण होता है। इसी घृणा भाव को द्वेष कहा जाता है। इसके भी भिन्न रूप हैं।

(i) क्रोध–यह एक प्रज्ज्वलनात्मक भाव है। क्रोध होने पर मनुष्य की बुद्धि काम नहीं करती, उसका चेहरा लाल हो जाता है और अन्य चिन्ह व्यक्त हो जाते हैं।

(ii) ईर्ष्या (Envy)--दूसरे के लाभ को नहीं सहने का भाव।

(iii) असूया (Jealousy)----दूसरे के गुणों के प्रति असत्य भाव।

(iv) द्रोह----दूसरों को कष्ट पहुँचाने का भाव।

(v) अमर्श----दूसरे से बदला लेने का भाव। ऐसा मनुष्य जो यह जानता है कि वह दूसरे से बदला लेने में असमर्थ है वह उस भाव को बहुत दिनों तक छिपाए रहता है।

राग और द्वेष मनुष्य में मोह के कारण होता है। मोह का कारण है अज्ञान। वास्तविकता का ज्ञान नहीं रहने से ही हमें किसी वस्तु के पाने की और किसी को नहीं पाने की भावना होती है और उसीसे प्रवृत्ति का उदय होता है। पाश्चात्य मनोवैज्ञानिकों ने भी मूलतः दो ही प्रवर्त्तक (Motives) बतलाया है; जिससे सुख प्राप्ति हो उससे सन्तोष और आकर्षण और जिससे दुःख हो उससे असन्तोष और विकर्षण।

मनुष्य कोई कर्म करने का संकल्प करता है और चुने साधन द्वारा वह क्रिया भी करता है। उस क्रिया का कोई फल भी होता है। पर मनुष्य संकल्प करने में स्वच्छंद है या नहीं? कर्मों के फल मनुष्य के संकल्प पर निर्भर हैं या बाह्य परिस्थितियों पर? इन समस्याओं पर विचार करना चाहिए।

दैव और पुरुषकार

दैव एक अदृष्ट शक्ति है; दूसरे शब्दों में यह अदृष्टा है। इसका यह अर्थ नहीं कि दैव कोई अद्भुत शक्ति है। पूर्व जन्मों के संचित कर्मों को ही दैव कहा जाता है। अत जब हम दैव को किसी कर्म का कारण बतलाते हैं तो उसका अर्थ है कि हमारे चेतन प्रयत्नों द्वारा वह कर्म नहीं हुआ अपितु वह अदृश्य शक्तियों का फल है अर्थात् हमारे पूर्व कर्मों का फल है।

गीता के अनुसार कर्म में दैव के अतिरिक्त कर्त्ता, उसकी इच्छाओं, उसकी इन्द्रिय तथा शारीरिक शक्तियों का भी प्रभाव पड़ता है। उदाहरणार्थ, अन्न उपजाना, इसके लिए पाँच बातें आवश्यक हैं, जैसे--जमीन जहाँ अनाज उपजाना है, मनुष्य की चिकीर्षा, उपादान जिसका प्रयोग करना है, शारीरिक क्रियाएँ और अनुकूल परिस्थितियाँ। इसमें अनुकूल परिस्थितियाँ ही दैव कही जाती हैं। कर्त्ता पर उसके पूर्व कर्मों का प्रभाव पड़ता है और कर्मों के फल मनुष्य के प्रयत्नों पर नहीं अपितु परिस्थितियों पर निर्भर हैं। यदि पूर्व कर्म अच्छे हैं तो हमारी इच्छाएँ भी शुद्ध होंगी और वर्तमान कर्म भी शुद्ध होंगे। चेष्टा करना हमारे वश में है पर फल बाह्य परिस्थितियों पर निर्भर है। इसीलिए कहा जाता है कि कर्म करना मनुष्य का कर्त्तव्य होना चाहिए फल ईश्वर के अधीन है।

शंकर और रामानुज दोनों ने दैव का अर्थ ईश्वरीय प्रभाव बतलाया है। प्रकृति और मनुष्य सभी में ईश्वर सन्निहित है, अतः उसी के प्रभाव से मनुष्य कोई कर्म करता है। मनुष्य के धर्मों के अनुकूल ही दैव कर्मों का फल भी निश्चित करता है।

पुरुषकार (पौरूप, उद्योग) का अर्थ है किसी मनुष्य का चेतन प्रयत्न। चेतन प्रयत्न का अर्थ है मनुष्य का संकल्प, उसकी क्रियाएँ इत्यादि।

अतः जब कहा जाता है कि पुरूपकार से हमने सफलता प्राप्त की है तो उसका अर्थ है कि हमने अपने प्रयत्नो द्वारा सफलता प्राप्त की है। इस विचार के अनुसार कर्मों की सफलता अपने प्रयत्न अर्थात् स्वतंत्र संकल्प पर ही निर्भर है। हमारे कर्मो मे किसी अदृष्ट शक्ति का प्रभाव नही है।

अतः कर्मों के निश्चयता और उसके फल के सम्बन्ध में दो मत हैं। एक, जो कर्मों को निश्चित करने में और उसके फल के विषय मे दैव का प्रभाव बतलाता है, दूसरा, जो पुरुषकार अर्थात् मानव प्रयत्नो का ही प्रभाव मानता है। पहले मत को भाग्यवाद (Fatalism) भी कहा जाता है और दूसरे को स्वच्छन्दतावाद (Libertarianism)। पहले मत के अनुसार ईश्वर ने जैसा निश्चित किया है या भाग्य में जो पहले से लिखा हुआ है वैसे ही कर्म होंगे मनुष्य के और उसका वैसा ही फल भी होगा। अब किसी उद्देश्य की प्राप्ति में सफलता मिलेगी अथवा नही, यह पहले से निश्चित है। मनुष्य के प्रयत्नों का इसमें कोई मूल्य नहीं है। जो बदा है वही होगा। हमारा संकल्प स्वतंत्र नहीं है। भाग्यवादी पूर्व कर्म फल का महत्व भी बतलाते हैं। मनुष्य की नियति पूर्व निश्चित हैं पर इसमे पूर्व कर्मों के संचित धर्म या अधर्म भी हैं। सारांश यह हुआ कि मनुष्य स्वतंत्र नहीं है; उसका कर्म और उसका फल पूर्व निश्चित है।

दूसरे मत के अनुसार मनुष्य स्वच्छंद है। वह यदि संकल्प करे तो कोई कर्म कर सकता है। वह बाह्य परिस्थितियो पर निर्भर नहीं है। परिस्थितियों को यदि मनुष्य चाहे तो अपने संकल्प से बदल सकता है और इच्छित फल प्राप्त कर सकता है। वे जो दैव-दैव चिल्लाते हैं, आलसी हैं। वे वैसे ही लोग हैं जो काम करने से डरते हैं। अतः इस मत के अनुसार जीवन मे सफलता प्राप्त करने का साधन है पुरूषकार—सचेष्ट प्रयत्न। गीता के अनुसार दैव का महत्व

है और पुरुषकार का भी। मनुष्य निष्क्रिय नहीं रह सकता। वह कोई न कोई क्रिया अवश्य ही करेगा। अत. उसमें अपने स्वार्थ के लिए ही नहीं अपितु जन-साधारण के हित के लिए मनुष्य को कर्म करना चाहिए (Cp. Utilitarianism)। कर्म मनुष्य के हाथ में है। पुरुषकार आवश्यक है पर कर्मफल मनुष्य के अधिकार मे नही है। अत फल की कामना करके नहीं अपितु कर्त्तव्य की भावना से ही कर्म करना चाहिए। कर्मफल मे दैव का ही अधिकार है। साराश यह हुआ कि पुरुषकार में मनुष्य स्वतत्र है पर उसकी सफलता या विफलता अर्थात् फल दैव के अधीन है।*

---

* कर्मण्येवाधिकारस्ते मा फलेषु कदाचन्।

— ० —

तेईसवाँ परिच्छेद

धर्मों का वर्गीकरण

(Classification of Virtues)

मनुष्य का चरित्र उसके कर्मों पर आश्रित है। बुरे कर्मों का वर्जन तथा अच्छे कर्मों का अर्थात् धर्मों का आचरण ही अच्छा चरित्र है। हिन्दू विचारकों के अनुसार ये धर्म (Virtues) पाँच हैं, अहिंसा, सत्य, अस्तेय, ब्रह्मचर्य और अपरिग्रह। इन्ही का आचरण करने से मनुष्य का चरित्र उन्नत होता है और उसीसे राग-द्वेष पर विजय प्राप्त कर मोक्ष-प्राप्ति सम्भव है।

अहिंसा—इसका अर्थ है किसी जीव को किसी प्रकार का कष्ट नहीं पहुँचाना। दूसरे शब्दों में दयाभाव, सहानुभूति तथा न्याय प्रदर्शन करना ही अहिंसा है। जीवो से यहाँ अर्थ है हर प्रकार के जीव। किसी प्रकार के जीव की हिंसा करना ही निकृष्ट कर्म है। सभी जीव मूलत समान होते हैं, अत इसका कोई अपवाद नही होना चाहिए। ऐसा भी नही कहा जा सकता है कि किसी विशेष अवसर पर या विशेष तरीके से किसी जीव को कष्ट पहुँचाना ही हिंसा है।

अहिंसा पालन के लिए अन्य गुणों का होना आवश्यक है, जैसे आत्मबल, आत्मबलिदान इत्यादि का। आत्म-सन्तोषन, स्वार्थ इत्यादि के लिए ही मनुष्य दूसरो को कष्ट पहुँचाता है। अत आत्मबल तथा नि:स्वार्थ से ही अहिंसा का पालन सम्भव है। इसके अतिरिक्त द्वेष भावना को दूर करना भी इसके लिए आवश्यक है क्योंकि इसीसे ही हिंसक प्रवृत्तियो की उत्पत्ति होती है। द्वेष भावनाओं पर विजय आत्मबल द्वारा ही सम्भव है।

वास्तव में हिंसा नहीं करना ही पर्याप्त नही है, अपितु हिंसा के सम्बन्ध मे सोचना तथा बोलना भी अधर्म है। अत प्रिय वचन नही बोलना अर्थात्

कडुवे वचन का प्रयोग करना, दूसरे को हिंसा करने की अनुमति देना या प्रोत्साहित करना अथवा दूसरों को डराना, धमकाना इत्यादि भी हिंसा ही है।

अहिंसा ही सर्वश्रेष्ठ धर्म है। दूसरे धर्मों के पालन में इसका ध्यान रखना आवश्यक है।

सत्य--इसका अर्थ है मिथ्या वचन का परित्याग अर्थात किसी से किसी तरह का झूठ नहीं बोलना। जब हमारे विचार और हमारी वाणी बाह्य जगत के अनुकूल हों, तभी हम उन्हें सत्य कहेंगे। अत जब किसी घटना या विषय को, जिसका स्वरूप प्रमाणों द्वारा निश्चित हो, हम वैसा ही विचार करें और ऐसे शब्दों में कहें कि सुननेवाले को कोई भ्रम न हो, तभी वह सत्य कहा जायगा। इसलिए इसमें दो बातें हैं—

(i) किसी विषय का जैसा वह है वैसा ही विचार ग्रहण करना।

(ii ऐसे शब्दों में व्यक्त करना जिससे अर्थ में भ्रम न हो। निरर्थक शब्दों का प्रयोग, जानबूझ कर भ्रम में रखने की अभिलाषा या वंचना इत्यादि सत्य के प्रतिकूल हैं। इसीलिए वाक्य वाचलता, अर्ध-सत्य इत्यादि मिथ्या की ही कोटि में शुमार हैं।

यदि किसी जीव के अहित के लिए यथार्थ रूप में भी कोई बात कही जाय तो उसे सत्यवादिता नहीं कहा जा सकता। वैसी बात जिसमें दूसरों को कष्ट हो, जब तक वह उसके हित के लिए न हो, सत्य नहीं है। अतः सत्यवादी के लिए प्रियभाषी भी होना आवश्यक है। केवल जो सत्य है उसे कहने से कभी-कभी वाचलता, परनिन्दा इत्यादि भी हो जा सकती है।

अस्तेय--चौर-वृत्ति का वर्जन अर्थात् विना दिए दूसरे के द्रव्य का ग्रहण नहीं करना ही अस्तेय है। वास्तव में विना दिए हुए दूसरे के द्रव्य का ग्रहण नहीं करना ही केवल अस्तेय नहीं अपितु दूसरों के द्रव्य के प्रति मन से आन्तरिक लोभ को हटाना भी इसीके अन्तर्गत है (अस्पृहा रूपम्)। किस अवसर पर दूसरों के द्रव्य का ग्रहण करना

चाहिए, यह शास्त्रों मे बतलाया गया है। उन्हें छोड़कर किसी दूसरे अवसर पर द्रव्य-ग्रहण करना स्तेय है।

विज्ञानभिक्षु के अनुसार द्रव्यों पर किसी प्रकार के अधिकार की प्रवृत्ति ही स्तेय है। अत किसी प्रकार के द्रव्य का ग्रहण करना स्तेय ही कहा जायगा। इसीलिए सासारिक पदार्थों के प्रति अलोभ अस्तेय है।

ब्रह्मचर्य--वासनाओं का परित्याग। बहुधा ब्रह्मचर्य का अर्थ केवल काम वासना का परित्याग ही समझा जाता है। वास्तव मे ब्रह्मचर्य का अर्थ है सभी प्रकार की कामनाओं का त्याग। इनमें केवल गुप्त इन्द्रियों पर ही अधिकार नही अपितु सभी इन्द्रियों पर अधिकार प्राप्त करना होता है।

इसके अतिरिक्त केवल कर्म से ही नही, अपितु मन और वचन से भी वासनाओं का त्याग करना ब्रह्मचर्य पालन कहा जायगा। अतः सभी प्रकार की कामनाओं का मन, वचन और कर्म से परित्याग करना ब्रह्मचर्य है।

अपरिग्रह—सासारिक विषयों से आसक्ति का त्याग। इसके लिए उन सभी विषयों का परित्याग करना पड़ता है जिनके द्वारा इन्द्रिय-सुख की उत्पत्ति होती है। जब हमें यह प्रत्यक्ष हो जाता है कि सासारिक सुख ही दुखों का जड़ है और हम उन्हे त्याग देते हैं तब उसे अपरिग्रह कहा जाता है। धन कमाने, जमा करने, खर्च करने और अन्य सुखों की प्राप्ति से दुख होता है; अत हमे इन विषयों से आसक्ति का त्याग करना चाहिए।

अपरिग्रह अस्तेय से भिन्न है क्योंकि इसमे सभी प्रकार के सासारिक सुखों का परित्याग करना पड़ता है।

समालोचना—

(i) धर्मों के पालन करने मे किसी प्रकार का विभेद नहीं किया गया है। सभी मनुष्य के लिए ये धर्म बतलाए गए हैं। इसका किसी के लिए भी अपवाद नही है।

(ii) इसमे अहिंसा को ही सबसे अधिक महत्व दिया गया है। अतः इसे कठोरवादी (Rigoristic) नहीं कहा जा सकता। अपरिग्रह और स्पृहा का भी इसमे उल्लेख किया गया है। अत यह स्वार्थवादिता और परार्थवादिता का शमन करता है।

(iii) सत्य के विषय में भी यह कह देना आवश्यक है कि केवल वास्तविकता को जानना ही नहीं अपितु उसे ऐसे शब्दों मे कहना कि उसका अर्थ वही रहे, सत्य कहा जाता है। साथ-साथ सत्य अप्रिय नहीं होना चाहिए इस बात पर भी जोर दिया गया है।

— ० —

चौबीसवाँ परिच्छेद

नैतिक मापदंड

(Moral Standard)

किसी भी पदार्थ के मूल्यांकन के लिए किसी मापदंड (Standard) की आवश्यकता होती है। मनुष्य के कर्मों का मापदंड क्या है अर्थात् किस आधार पर किसी व्यक्ति के कर्मों को अच्छा-बुरा इत्यादि कहा जाता है, इसके सम्बन्ध मे पाश्चात्य विचारकों के भिन्न-भिन्न मत हैं पर हिन्दू विचारकों ने मोक्ष को ही निश्रेयस माना है और उसीसे मनुष्य के आचरण का मूल्यांकन भी होता है। पर कुछ विचारको का मत इससे भिन्न है। उन्होंने सुख की प्राप्ति ही मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य बतलाया है। उनके मत को सुखवाद कहा जाता है।

सुखवाद—चार्वाक के अनुसार मनुष्य के ज्ञान का केवल एक ही साधन है, प्रत्यक्ष; अत वैसे पदार्थ जो अनुभव से परे हो, वे वास्तविक नहीं हैं। वास्तव मे हम आत्मा को जड पदार्थ से भिन्न सत्ता मानते हैं पर वह जड़ात्मक अणुओ का सम्मिश्रण है। मृत्यु हो जाने पर शरीर नष्ट हो जाता है और उसीके साथ आत्मा का भी नाश हो जाता है। अत भविष्य जीवन और आध्यात्मिक सुख की कल्पना कोरी कल्पना मात्र है।

आत्मा का नाश हो जाता है अत मुक्ति, स्वर्ग इत्यादि की कल्पना करना भी निरर्थक है। अपने को सासारिक सुख से वंचित रखना क्योंकि उससे हम अर्थात् आत्मा बन्धन मे पड जाता है, ऐसा सोचना केवल भ्रम है। इसलिए मनुष्य को इसी जीवन मे अधिक से अधिक सुख की कामना करनी चाहिए। हमे दुख भी होना है और सुख भी, पर प्रयत्न

यही होना चाहिए कि हम ऐसे कर्म करें जिससे केवल सुख ही मिले। यदि सुख का इसलिए परित्याग कर दिया जाय कि सुख के साथ दुख भी होता है तब वह वैसा ही होगा जैसे चावल न खाया जाय क्योंकि उसमें धान रहता है। वास्तव मे सुख-प्राप्ति ही मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य होना चाहिए।

यावत जीवेत सुखम् जीवेत, ऋणम् कृत्वा घृतम् पीवेत अर्थात् जब तक जीयें सुख से जीवन व्यतीत करें यहा तक कि यदि घी ऋण लेकर भी खाना पड़े तो सुख के लिए वह भी करें। अत सुख ही मानव जीवन का उद्देश्य है। सुख ही उपकार है और दुख अपकार। दूसरे शब्दों मे उपकार या सुख ही नैतिक मापदड भी है। यदि किसी कर्म से उपकार होता है तो वह नैतिक दृष्टि से अच्छा है और यदि अपकार, तो खराब है, अधर्म है। उपकार या अपकार का अर्थ यहा दूसरे का उपकार या अपकार नही वलिक स्वार्थ सुख और स्वार्थ दुख लगाया गया है। चार्वाक स्वार्थवादी हैं, अत वे सुख-प्राप्त करना ही मनुष्य का चरम लक्ष्य वतलाते हैं (तुलना करें Egoistic Hedonism)। वास्तव में सुखवादी स्वार्थवादी ही हो सकता है। पाश्चात्य दर्शन में उपयोगितावाद में हमने दोष पाया है। यदि सुख प्राप्ति ही ध्येय है तो दूसरों को सुख पहुँचाना तो वास्तव में एक ढोंग है। यदि हम दूसरों को सुख चाहते हैं और उसीमे हमें सुख मिलता है तो उस कर्म के पीछे हमारा स्वार्थ है। यदि ऐसी वात नही है अर्थात् स्वयं दुख झेल कर भी दूसरों का उपकार हम चाहते हैं और उसमें हमें सुख नहीं मिलता तो सुख प्राप्त करना हमारा लक्ष्य नहीं कहा जा सकता। इसीलिए मार्टीन्यू (Martinue) ने कहा है कि स्वार्थ से परार्थ नहीं निकल सकता (from each one for himself to each one for others-no road)। यह दोष चार्वाक के विचारों मे हम नहीं पाते।

आत्मा को उन्होंने नश्वर वतलाया है। आत्मा और जड़द्रव्य में वे गुण का भेद नहीं मानते। अत सुख का, गुण की दृष्टि से, वे कोई

विभेद नही करते। उनके लिए कोई भी कर्म जिससे सुख मिलता है, समान है। जिसे निम्न कोटि का माना जाता है वह भी सुख ही है। शारीरिक सुख और मानसिक सुख मे कोई अन्तर नही है क्योकि आत्मा और शरीर मे गुण का भेद नही है। अत. उनका मत पाश्चात्य सुखवाद के निकृष्ट रूप से मिलता है।

कुछ विचारको ने बतलाया है कि चार्वाक का सुख के विषय में दो मत है। एक जो मानसिक सुख को ही वास्तविक सुख बतलाते हैं और दूसरे जो किसी प्रकार के सुख को सुख कहते हैं। पहले को सुशिक्षित और दूसरे को धूर्त चार्वाक कहा जाता है। सुशिक्षित चार्वाक का मत उत्कृष्ट सुखवाद से मिलता है। भारतीय आचारशास्त्र मे परार्थवादी और बुद्धिवादी सुखवाद के विचार भी मिलते हैं पर व्यवस्थित रूप मे नहीं।

समालोचना

(1) चार्वाक का मत उनके ज्ञानशास्त्र पर आश्रित है। उनके अनुसार केवल प्रत्यक्ष ही ज्ञान का आधार है क्योंकि अनुमान, उपमान, शब्द इत्यादि के मूल मे प्रत्यक्ष ही है। पर यह बात उनलोगो ने स्वयं अनुमान द्वारा सिद्ध किया है, अत उनके अनुसार यह मान्य नहीं होना चाहिए। प्रत्यक्ष के आधार ही पर वे आत्मा की अमरता इत्यादि का खंडन करते हैं। पर केवल प्रत्यक्ष ही ज्ञान का साधन नहीं है। अत. आत्मा के विषय मे उनका मत मान्य नही है इसलिए केवल इसी जीवन की बात सोचना और अधिक से अधिक सुख प्राप्ति ही जीवन का ध्येय बताना उचित नहीं है।

(ii) सुख-दुख ही धर्म और अधर्म के मापदण्ड हैं तो दार्शनिक चिंतन करना और शराब पीना अधर्म क्यों माना जाता है? यदि ऐसा मानना गलत है तो सभ्य समाज का अस्तित्व कैसे होगा?

(iii) धार्मिक कर्मों (जैसे, ईश्वर की उपासना) में उतना सुख नहीं मिलता जितना वासनाओ की पूर्ति मे, तब इस मत के अनुसार वैसे कर्म अधर्म हैं और जो अधर्म है वह धर्म।

(IV) यदि केवल सुख ही सुख की कल्पना की जाय तो सुख नहीं मिल सकना। सासारिक द्रव्यों से क्षणिक सुख मिलता है। वे स्थायी नहीं होते इसलिए वास्तविक सुख अर्थात् आनन्द वासनाओं की पूर्ति के द्वारा अप्राप्य है। वासनाओ का अन्त भी नही होता है। अत वह मनुष्य स्थायी सुख नहीं भोग सकना।

(V) सुख और दुख सम्बन्धित हे। सुख विना दुख के संभव नहीं है। सुख की प्राप्ति में जो शारीरिक प्रयत्न होना है उससे दुख ही होता है, अत· केवल सुख अप्राप्य है।

मोक्षवाद:—मनुष्य के जीवन का चरम लक्ष्य मोक्ष है। संसार दुखमय है। दुख से निवृत्ति और सुख की प्राप्ति की कामना स्वाभाविक है। पर कर्मो के वन्धन मे दुख का अभाव नहीं हो सकता। अत· मोक्ष ही निःश्रेयस है।

मोक्ष-साधन

मोक्ष प्राप्त करना ही मनुष्य का चरम लक्ष्य है। इसका अर्थ है दुःखों से मुक्ति। इसके लिए भिन्न विचारकों ने भिन्न मार्ग वतलाए हैं। संयम, निवृत्ति, विवेक-ज्ञान, शास्त्र और निष्काम कर्म इत्यादि ही इसके मार्ग हैं। वास्तव मे ये एक दूसरे के विरोधी नहीं हैं। सभी का लक्ष्य एक है और एक मार्ग का पालन करते हुए भी दूसरे का पालन किया जा सकता है। यदि हम कहे कि एक दूसरे के पूरक है तो अत्युक्ति नहीं होगी।

संयम:—अज्ञान ही मनुष्य के दुःखों का कारण माना गया है। अज्ञान से ही मोह और मोह से राग होती है। राग द्वेष अर्थात् कामनाओं से ही प्रवृत्ति होती है। किसी वस्तु के अनुराग होने पर ही उसकी कामना होती है और कामना ही दुख की जड है। कामनाओ पर विजय प्राप्त करनें से ही दुख का निवारण सम्भव है। राग-द्वेष से निवृत्ति तभी होगी जब इन्द्रियाँ और मन पर अपना अधिकार हो। मन ही इन्द्रियो का संचालक है।

इसीसे संकल्प होता है अत: मन पर विजय प्राप्त करने से ही इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। चित के हरनेवाले विषयों से इंन्द्रियों को रोकना जैसे सारथी घोडे को रोकता है, संयम है। इन्द्रियों के विषय में लगा रहने पर दृष्ट और अदृष्ट दोष होता है। काम, काम से शान्त नहीं होता। इन्द्रियों को जीत लेने पर ही मनुष्य स्थितप्रज्ञ हो जाता है अर्थात् न उसमे राग होता है, न द्वेष। कान, त्वचा, आँख, जीभ, नाक, गुदा, लिङ्ग, पैर, हाथ, वाक् और मन मे पहले पाँच ज्ञानेन्द्रिय हैं और बाकी कर्मेन्द्रिय। मन पर वश करके सभी इन्द्रियों पर विजय प्राप्त की जा सकती है। प्रशंसा या निन्दा सुन कर सुख या दुख देने वाली वस्तु को छूकर, सुंदर या कुरूप वस्तु को देखकर, स्वादयुक्त या अस्वादयुक्त खाकर, सुगंधित या असुगंधित वास को सूंघ कर जिसे हर्ष-विषाद नहीं हो, वही जितेंद्रिय है। यदि एक इन्द्रिय किसी विषय में लगी हुई हो तब वह दूसरे को भी वैसा ही बना लेती है। अतः इन्द्रिय समूह को मन के वश मे कर और मन को रोक कर साधना करना ही संयम हुआ। इसीसे सब पुरुषार्थों की प्राप्ति होती है। वाणी का संयम है सत्य बोलना, बाहु का संयम अपने बाहुबल से पीडा न देना और उदर का संयम जो मिले सो थोडा खाना। संयम सन्याय की शिक्षा नहीं देता। इसमें इन्द्रियो और मन का नियमन आवश्यक है।

विवेक-ज्ञान—सांख्य के अनुसार ज्ञान, भक्ति और कर्म इन तीनों मार्गो में ज्ञान मार्ग ही मुक्ति के लिए प्रमुख है। उन्होंने बतलाया है कि संसार दुखों से परिपूर्ण है। चिर सुख प्राप्त करने के सभी प्रयत्न विफल हो जाते हैं। कम या अधिक अंश में सभी मनुष्य को दुख है। विज्ञान या अन्य शास्त्र मनुष्य को वास्तविक सुख नहीं प्रदान कर सकते। दुख का वास्तविक कारण है अज्ञान। अज्ञान का अर्थ है तत्त्वज्ञान का अभाव। यही दुखों का मूल है। इसीके कारण ऐसा समझा जाता है कि यह हमारा है या तुम्हारा या हमें तकलीफ होती है या सुख होता है। वास्तव मे दो ही मूल तत्त्व हैं, पुरुष और प्रकृति।

विश्व प्रकृति का ही विकसित रूप है और पुरुष शुद्ध चेतन रू है। पुरुष वास्तव में मनुष्य के मनस या अनुभवकर्ता मन से भिन्न है। यह दुख-सुख, धर्म-अधर्म के परे है क्योंकि ये बुद्धि के गुण हैं। पुरुष में क्रिया नहा होती। क्रिया होती है प्रकृति में। जब हम अज्ञान के कारण पुरुष और अपुरुष में भेद नहीं कर सकते तब समझते हैं कि हमें कष्ट होता है। अत दुख वास्तव में अविवेक का कारण है। अज्ञान या अविवेक दूर होता है विवेक से। जब तत्त्व और जो तत्त्व नहीं हैं, उसका भेद स्पष्ट हो जाता है तो, उसी को विवेक-ज्ञान कहा जाता है। विवेक-ज्ञान द्वारा यह स्पष्ट हो जाता है कि पुरुष वास्तव में सुख-दुख से परे है। अत. भेद-ज्ञान अर्थात् तत्त्व और अतत्त्व में भेद का ज्ञान ही तत्त्व-ज्ञान है। पुरुष और प्रकृति का भेद-ज्ञान ही वास्तविक ज्ञान है। विवेक ज्ञान होने पर ही कैवल्य प्राप्त होता है।

अत. सांख्य मतानुसार विवेक-ज्ञान ही मुक्ति का मार्ग है। शंकर के अनुसार एकता का ज्ञान ही मुक्ति मार्ग है। जब आत्मा और ब्रह्म में एकता का ज्ञान हो जाता है तभी मुक्ति प्राप्त होती है।

सांख्य का ज्ञान-मार्ग पर जोर देना पाश्चात्य बुद्धिवाद से मिलता है। उन्होंने भी बुद्धि के नियमों को ही नैतिक नियम बतलाया है। पर सांख्य का विवेक-ज्ञान, बुद्धिवाद की 'बुद्धि' से बिलकुल भिन्न है।

शास्त्र—कुछ विचारकों के अनुसार केवल शास्त्र ही प्रामाणिक है। शास्त्र केवल वर्त्तमान ही का नहीं, अपितु भूत और भविष्य, परोक्ष और अपरोक्ष, समीप और दूर सभी प्रकार की बातों के लिए सत्य हैं। उससे तत्त्व अर्थात् सत्य ज्ञान होता है। इन्द्रियों से इनका प्रमाण अधिक है। इन्द्रियाँ देश और काल से सीमित हैं पर शास्त्र नहीं। तत्त्व का ज्ञान केवल शास्त्रों से ही सम्भव है। शास्त्र के विधिवाक्य सनातन हैं। उन्हीं विधि-वाक्यों के पालन से मनुष्य को तत्त्व का ज्ञान सम्भव है और तभी मुक्ति प्राप्त हो सकती है। मनुष्य का क्या कर्त्तव्य है? उसे क्या करना चाहिये? इन प्रश्नों का उत्तर शास्त्र में ही मिलता है। अतः शास्त्र ही मनुष्य के नैतिक मापदण्ड हैं। यदि हमारा कर्म

शास्त्रों के अनकूल हो तब उसे धर्म और यदि उसके विपरीत है तब अधर्म कहा जायगा।

यह मत कुछ अंशों में पाश्चात्य वैधानिक मत (External law as the standard of morality) से मिलता है। उन्होंने भी बाह्य कानूनों को ही नैतिक मापदण्ड बतलाया है; पर भारतीय दार्शनिकों ने इसे मोक्ष-प्राप्ति का केवल साधन माना हैं। दूसरे, शास्त्रों के वाक्य प्रामाणिक माने गए हैं। वेदों को कुछ लोगों ने अपौरुषेय बतलाया है। ईश्वर ने ही उसकी सृष्टि की है। यह विचार अन्य पाश्चात्य विचारों से भिन्न है।

निवृत्ति

जिस प्रकार स्वप्नावस्था मे स्वप्न की सभी बातें उस समय सत्य प्रतीत होती हैं, पर जाग्रत अवस्था में उसे असत्य माना जाता है उसी प्रकार साधारणतः जिस सृष्टि को सत्य माना जाता है, वह जब वास्तविक ज्ञान होता है, असत्य प्रतीत होती है। साधारण जाग्रत अवस्था को व्यावहारिक और वास्तविक ज्ञानावस्था को पारमार्थिक सत्ता कहा जाता है। व्यावहारिक दृष्टि से हमारे अनुभव सत्य हैं, अनुभवकर्त्ता मन और आत्मा, सत्य है ईश्वर सृष्टिकर्त्ता है। पर पारमार्थिक दृष्टि से सृष्टि माया है, आत्मा और परमात्मा एक है (अहं ब्रह्म)। शंकर के इस मत पर ही उनके आचरण सम्बन्धी मत आश्रित हैं।

सासारिक मनुष्य के लिए सृष्टि सत्य है। अतः उसके लिए शुद्धाचरण का मार्ग ही उचित है। अपने राग और द्वेष के अनुसार ही मनुष्य कर्म करता है। कर्त्तव्यों के प्रति हमारा राग हो और उसीसे हमारी इच्छा की पूर्त्ति भी होनी चाहिए। कर्त्तव्य की भावना से ही मनुष्य को कर्म करना चाहिए। वैदिक विधियों का पालन ही कर्त्तव्य है। इस प्रकार अच्छे कर्मों की प्रवृत्ति और अधार्मिक कर्मों को त्यागना चाहिए। यह प्रवृत्ति मार्ग है। यही कर्म मार्ग भी है। इसमें कर्म करने की आवश्यकता है। इस मार्ग पर चलने से ही आत्म-शुद्धि होती है। पारमार्थिक दृष्टि से सृष्टि असत्य है, भ्रम है। आत्मा

और परमात्मा में अन्तर नहीं। अतः इस अवस्था में हमें कर्मों की निस्सारता स्पष्ट हो जाती है। यदि जगत मिथ्या ही है तो कर्म क्यों? जगत को सत समझ कर ही हम कर्म करते हैं। कर्म तो अज्ञान के कारण ही होता है, इसलिए अच्छे कर्मों से भी हम बन्धन में ही रहते हैं। वास्तविक ज्ञान हो जाने पर अर्थात् माया हट जाने पर कर्मों की आवश्यकता नहीं रहती है। इस अवस्था में वैदिक कर्मों का पालन आवश्यक नहीं है, क्योंकि वह भी कर्म ही है और इससे हम बन्धन में रहते हैं। यही है कर्म-संन्यास की अवस्था। इससे ही निवृत्ति मार्ग कहते हैं। निवृत्ति का अर्थ है सभी कर्मों से छुटकारा। निवृत्ति मार्ग से ही अर्थात् कर्मों से छुटकारा होने पर मुक्ति प्राप्त होती है। इस अवस्था में ज्ञान की प्रधानता है, कर्म की नहीं। ज्ञान हो जाने पर कामनाएँ नष्ट हो जाती हैं, अतः कर्म से छुटकारा हो जाता है। वास्तविक ज्ञान होने पर आत्मा और परमात्मा का भेद दूर हो जाता है और हम मुक्त हो जाते हैं।

शंकर ने, इस प्रकार मुक्ति के दो मार्ग बतलाए हैं, प्रवृत्ति या कर्म मार्ग या निवृत्ति या कर्म संन्यास। वास्तव में ये दोनो पृथक् मार्ग नहीं हैं। एक दूसरे की पूर्ति करता है। अज्ञानावस्था में ही प्रवृत्ति मार्ग की आवश्यकता है। पर इससे जब ज्ञान की ओर हम बढते हैं, तब निवृत्ति या कर्म संन्यास आवश्यक होता है। अत प्रवृत्ति मार्ग सासारिक जीवन मे अर्थात् नीचे स्तर में और निवृत्ति मार्ग ऊँचे स्तर में आवश्यक होता है। इन दोनो में कर्म संन्यास को ही शंकर ने निश्रेयस कहा है। वही वास्तविक मार्ग है।

कुछ टीकाकारों ने शंकर के मत में कुछ कठिनाइयाँ बतलाई हैं। मुक्ति प्राप्त करने का वास्तविक मार्ग है निवृत्ति, पर यह वास्तविक ज्ञान प्राप्त होने पर ही सम्भव है। साधारण मनुष्य जगत को सत्य मानता है। अत उस अवस्था तक पहुचने के पहले उन्होंने कर्म मार्ग ही उचित बतलाया है। पर कर्म मार्ग से कर्म संन्यास कैसे सम्भव ? आरम्भ से ही निवृत्ति मार्ग धारण करने के लिए शंकर ने क्यों नहीं

कहा? वास्तव में कर्म मार्ग का यह अर्थ नहीं है, कि साधारणतः जिस प्रकार कामनाओं की पूर्ति के लिए कर्म किए जाते हैं वैसे कर्म किए जाय अपितु कामनाओं पर विजय प्राप्त करके ही कर्म करना चाहिए। वैसे कर्म केवल कर्त्तव्य की भावना से हो। अत. ऐसे कर्मों के करने से कर्म संन्यास की ओर हम बढ़ते हैं। पर क्या निवृत्ति सम्भव है अर्थात् सभी कर्मों से इस जीवन में छुटकारा हो सकता है? वास्तव में यह तो तभी हो सकता है जब मनुष्य की मृत्यु हो जाय। नित्यनैमित्त कर्म तो होते ही रहेंगे। निवृत्ति और प्रवृत्ति मार्ग का शमन गीता के निष्काम कर्म में मिलता है।

निष्काम कर्म—

जब तक मनुष्य में जीवन है, तब तक पूर्णरूपेण कर्मों से निवृत्ति नहीं हो सकती। अपनी प्रकृति के कारण वह एक क्षण के लिए भी निष्क्रिय नहीं हो सकता। अतः कर्मों से मुक्ति का अर्थ यह नहीं है कि वह निष्क्रिय हो जाय। वह ऐसा हो ही नहीं सकता।

साधारणतः हम जो कर्म करते हैं वह फल की कामना करके। मनुष्य को सासारिक वस्तुओं के प्रति राग-द्वेष होता है। उन्हे ही पाने या न पाने की हम कामना करते हैं और हमारी क्रिया होती है। हम संसार से आसक्त रहते हैं, अत पुनर्जन्म होता है। पर वास्तव मे कर्म करना तो मनुष्य के अधीन है, उस कर्म का फल उसके केवल उस प्रयत्न पर निर्भर नहीं है। वह जो चाहता है, वैसा सदैव नहीं होता। कर्म-फल दैव के अधीन है। अतः वैसे कर्म जो साधारणत किए जाते हैं, जिसमे फल की कामना रहती है, उससे बन्धन भी होता है और साथ-साथ उसका फल भी वैसा ही होगा जैसी हमारी कामना है, यह भी निश्चित नहीं है। इसलिए जब कर्म करना भी आवश्यक ही है तब वैसा कर्म हमें करना चाहिए जिसमें फल की कामना न हो। कर्त्तव्य की भावना मे कर्म किया जाय और उसमे फल की कामना न की जाय। इसे ही निष्काम कर्म कहा जाता है। इसमे कर्म करते हुए भी

मनुष्य कर्मों से विरक्त रहना है क्योंकि उसमें कामना का अभाव है। इसमें भी कामना रहती है, क्योंकि बिना कामना के कर्म कैसे होगा पर फल की कामना नहीं, अपितु ईश्वर-प्राप्ति की। ऐसे कर्म यज्ञ की भावना से तथा आत्म-प्राप्ति के लिए किए जाते हैं। इसमें कामना किसी बाह्य वस्तु की प्राप्ति नहीं अपितु आत्म-प्राप्ति की होती है। अत इसे निष्काम कर्म कहा जाता है। ऐसे कर्मों से बन्धन नहीं होता है, अत पुनर्जन्म नहीं होता। कामनाओं से प्रेरित होकर जो कर्म हो, उससे बन्धन होता है पर निष्काम कर्म से मुक्ति मिलती है। अतः मनुष्य को कर्त्तव्य, कर्त्तव्य की भावना से ही करना चाहिए (Duty for duty sake)

वैसे कर्म से, जो स्वर्ग इत्यादि की आकांक्षा से किए जाते हैं, मनुष्य बंधन में मुक्त नहीं होता है; क्योंकि उसमें भी मनुष्य आसक्त रहता है। अतः केवल वैसे कर्म जो धर्म के अनुसार बिना फल की इच्छा किए होते हैं, वे ही निष्काम कर्म हैं।

मनु के अनुसार भी फल की इच्छा से कर्म करना अच्छा नहीं है। स्वर्ग इत्यादि की कामना से जो कर्म किया जाता है, वह कामनायुक्त है। उससे भी बंधन छूटता नहीं। नित्यनैमित्त कर्म आत्मज्ञान के सहकारी हैं अतः उनसे ही मुक्ति मिलती है। इच्छा का समूल निषेध नहीं हो सकता क्योंकि वेद का पढ़ना भी कामनायुक्त है; पर ऐसी कामनाओं से बंधन नहीं होता।

कर्म के मूल में संकल्प हैं। इस कर्म से यह इष्टफल सिद्ध होगा कि यही संकल्प है। इसकी साधना से इच्छा होती है और तब प्रयत्न किया जाता है। इसी भांति यज्ञ इत्यादि भी संकल्प से ही होता है। पर फल की इच्छा का निषेध करके जो नियम, व्रत, धर्म इत्यादि किए जाते हैं उन्हीं से मुक्ति प्राप्त होती है। यही निष्काम कर्म है।

साराश यह है कि कर्म के फल से विरक्त होकर केवल कर्त्तव्य की भावना से जो कर्म किया जाता है, वही निष्काम कर्म है। इसमें कर्म किया जाता है, पर अपने को ईश्वर को समर्पित करके।

इसकी विशेषताएँ:--(i) निवृत्ति मार्ग का खण्डन—इसमें कर्म करने से मना नहीं किया जाता। यह कर्म मार्ग है, पर प्रत्येक कर्म में फल की कामना होती है।

अतः (ii) कर्म निष्काम होना चाहिए अर्थात् कर्म-फल से विरक्त होकर। कर्म फल हमारे अधीन नहीं है अतः हमे ईश्वर को ही आत्मसमर्पण कर देना चाहिए।

(iii) ऐसे कर्म में न सुख की कामना की जाय और न दुख की। अतः निष्काम कर्म के लिए संयम आवश्यक है।

गीता का निष्काम कर्म शंकर के निवृत्ति मार्ग से अधिक व्यावहारिक है। कर्म संन्यास संसार के सभी मनुष्य के लिए सम्भव नहीं है। पर संसार प्रगतिशील है। आज के विश्व में जहाँ एक देश दूसरे देश से, एक मनुष्य दूसरे मनुष्य से, अपने स्वार्थ के लिए लड़ना चाहता है वैसी परिस्थिति में गीता के निष्काम कर्म का नया अर्थ देना आवश्यक है।

कांट का मत और वेदान्त मत

वेदान्त--वेदान्त और कांट के मत में सादृश्य है। कांट का यह मत कि कर्त्तव्य केवल कर्त्तव्य की भावना से किया जाना चाहिए, वेदान्त के मत से बहुत अंशों में मिलता है। उनमें किन बातों में समता है और किन बातों में भेद है, यह देखना चाहिए।

समता—(i) दोनों ही इस मत से सहमत हैं कि नैतिक समस्या का उदय विवेक और कामनाओं के संघर्ष से होता है। मनुष्य में काम और विवेक दोनों हैं। कामनाएं मनुष्य को कर्त्तव्य के पथ से हटाती हैं और उनका संघर्ष विवेक से होता है। कामनाओं के दमन से ही मनुष्य का नैतिक उत्थान सम्भव है। इसलिए कांट ने कामनाओं को नष्ट करने का विचार किया है। वेदान्त और अन्य भारतीय दार्शनिकों ने भी यही बताया है कि इच्छाओं के दमन से ही 'मुक्ति' प्राप्त हो सकती है।

(ii) वेदान्त मत में इसीलिए बतलाया गया है, कि कर्त्तव्य, कर्त्तव्य की भावना से होना चाहिए। अनासक्त भाव से ही जब कर्म किए जाएँगे तभी मुक्ति मिलेगी। काँट ने भी कर्त्तव्य, कर्त्तव्य के लिए बताया है। कर्त्तव्य किसी अन्य लक्ष्य की पूर्त्ति के लिए नहीं करना चाहिए।

(iii) वेदान्त के अनुसार प्रत्येक मनुष्य मे ब्रह्म है। अतः किसी भी मनुष्य को अपने किसी लक्ष्य की पूर्त्ति के लिये साधन बनाना उचित नहीं है। सभी समान है क्योंकि एक ही ब्रह्म सबों मे हैं। अत. मनुष्य को दूसरे मनुष्य को आदर की दृष्टि से देखना चाहिए।

काट ने भी बतलाया है कि मनुष्य किसी दूसरे मनुष्य की लक्ष्य पूर्त्ति के लिऐं साधन नही हो सकता। सभी मनुष्य में विवेक-शक्ति सामान्य रूप में है। विवेक-शक्ति ही नैतिक नियम है। अत. सभी मनुष्य को आदर की दृष्टि से ही देखना चाहिए। 'Always treat humanity both in your own person and in the person of others as an end and never as a means'.

(iv) दोनों ही के अनुसार उचित और अनुचित, पाप और पुण्य, धर्म और अधर्म का भेद केवल दृश्य जगत में ही वास्तविक है। पूर्णता प्राप्त कर लेने पर यह भेद मिट जाता है। पूर्णता तब प्राप्त होती है, जब कामनाओं का अन्त हो जाता है। वेदान्त के अनुसार मुक्ति प्राप्त कर लेने पर अर्थात् जब ब्रह्म और आत्मा का अतर मिट जाता है, धर्म और अधर्म, पाप और पुण्य का भी भेद मिट जाता है। मुक्ति, उनके अनुसार, इसी जीवन मे सम्भव है।

भेद— (1) वेदान्त के अनुसार आत्मा की अमरता, ईश्वर का अस्तित्व नैतिकता इत्यादि वास्तविक है। जिस प्रकार अनुभव के अन्य पदार्थ यथार्थ हैं उसी प्रकार की वास्तविकता इनमें भी है। पर काँट के अनुसार मनुष्य

की स्वतंत्रता, आत्मा की अमरता और ईश्वर की सत्ता इत्यादि नैतिकता की आवश्यकमान्यताएँ हैं। बिना इनकी वास्तविकता में विश्वास किए नैतिकता सम्भव ही नहीं।

(ii) वेदान्त के अनुसार इच्छाओं को दबाना नहीं अपितु विवेक द्वारा उन्हें रास्ते पर लाना ही सम्भव है। इच्छाएँ दबाने से दबती नहीं हैं। वे किसी न किसी रूप में अवश्य ही व्यक्त हो जाती हैं। अत उन्हें समूल नष्ट कर देने की चेष्टा घातक है। उन्होंने बतलाया है कि किसी भी कर्त्तव्य में कामनाओं को बिल्कुल नष्ट नहीं किया जा सकता। इसलिए कामना हो केवल ईश्वर की प्राप्ति और उन्हीं कामनाओं से बिना फल की आकांक्षा किए कर्त्तव्य होना चाहिए।

कॉट ने कामनाओं का दमन ही नैतिकता के लिए आवश्यक बतलाया है। यदि कर्त्तव्य किसी भी भावना से किया गया तो वह नैतिक नहीं हो सकता। कांट का यह विचार कठोरवादी है, साथ साथ सैद्धान्तिक है।

(iii) उपर्युक्त विचार से यह स्पष्ट है कि वेदान्त का मत व्यावहारिक है पर कांट का मत केवल सैद्धान्तिक। कामना और आकांक्षा भी मनुष्य के जीवन के महत्वपूर्ण अंग हैं। उन्हें समूल नष्ट नहीं किया जा सकता।

— o: —

QUESTIONS

1. Explain Pravritti, Nivritti and Niskam karma 1950 A (P U)
2. Is there any distinction between Dharma and Kartavya ? What are the characteristics of Dharma ? 1950 S (P U)
3. Distinguish between Daiva and Purusakara. Describe the different kinds of Purusartha 1950 S. (P. U)
4. Criticise Sukhavada and write a note on Niskam Karma. 1950 A (P. U.)
5 Bring out clearly the conceptions of Dharma and Adharma in Indian Ethics. (P. U)
6 Discuss critically the Indian division of duties according to the different classes and stations of life (Varnasram-dharmas) (P. U.)
7 Give a classification of Virtues and distinguish between Asteya and Aparigrah (P. U
8 Write notes on—
   (a) Samyama.
   (b) Ahimsa
   (c) Raga
   (d) Dvesa

(e) Nishreyasa.
(f) Viveka

Reference books·—

The Ethics of the Hindus—S. K Maitra
Evolution of the Hindu Moral Ideals—
Sir S. S Aiyer
Principles of Hindu Ethics—M. A Buch
The Dharma Sastra-Eng. tran. I&I
M. N. Dutt. M. A.
Manusmritti—Translation of Kaluk Bhatt's
Commentary
Yabnawalkya Smritti
Gita by Tilak
Gita by Annie Besant.
Gita by Vardekar .
Gita the Mother—M K . Gandhi—Ed . by
J . P . Chandra
Indian Philosophy—Vol . 1&1I—Rādhakrishnan.
An Introduction to Indian Philosophy
—Chatterjee & Dutt

मुद्रक
नवराष्ट्र प्रेस, राजेन्द्र पथ
पटना—१